स्वतन्त्रता आन्दोलन में जनभूमिका का मौखिक इतिहास

– विशेष अध्ययन – इलाहाबाद (1920 - 1947)

शोध प्रबन्ध

(आधुनिक इतिहास)

शोधार्थी
अमिता श्रीवास्तव

निदेशक
प्रो० लाल बहादुर वर्मा
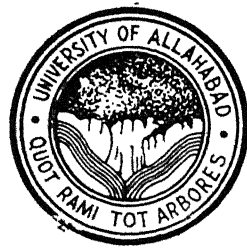
मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद. 1998

आभार

केवल कुछ शब्द हमारे दोस्त–गुरु प्रोफेसर लाल बहादुर वर्मा के लिये ... इस शोध प्रबन्ध का एक–एक शब्द उनके उत्साह एवं प्रेरणा का ही परिणाम है। एक कुशल कुम्हार की तरह उन्होंने भीतर से हमें सहारा देकर गढ़ा है और न सिर्फ इस शोध प्रबन्ध को बल्कि मेरे जीवन को भी आकृति प्रदान की। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने का मुझमें साहस नहीं है। दरअसल यह शब्द उनकी पूरी विशालता और उदात्तता को संकुचित करता है, इसलिये उन्हें सिर्फ मेरा मौन सलाम! कुछ ऐसे ही भाव हैं अपने माता–पिता के प्रति उन्हें बस नमन करती हूँ। बस इतना और कि इस पूरे शोध कार्य के दौरान उन्होने मेरी बहुत सी ज्यादतियां सही हैं। मेरी बड़ी बहन डॉ. स्मिता, मेरी पहली शिक्षक, हमेशा की तरह मुझे उत्साहित करती रहीं और मेरी दूसरी बहन नीलम जो बचपन से मेरी मित्र रही, ने हमेशा मुझे मित्रवत् आगे बढ़ाया और मेरा उत्साही भाई और दोस्त विवेक हमेशा अपने उत्साह को मुझमे उड़ेलता रहा। दोस्त–आण्टी रजनी वर्मा ने इन दिनों इतना प्यार दिया है कि कुछ भी कहते हुए मन नम हो जाता है। सच कहूं तो यह इन सबका विश्वास ही था जिसे मैं तोड़ नहीं पाई और यह कार्य पूरा कर सकी।

इस पूरे काम में हर वक्त हमारे साथ रहे हमारे हम सफर दोस्त। उनकी ऊर्जा और जोश हर समय मेरी शिराओं में बहता रहा। मैं उन्हें अपने भीतर महसूस करती रही और आगे बढ़ती रही। उनकी संख्या इतनी अधिक है कि सबके नाम यहां देना सम्भव नहीं है। फिर भी, विशेष रूप से आभारी हूं अपने दोस्त योगेन्द्र और कुसुम की, जिनकी वजह से मेरा दिल्ली में रहना सम्भव हुआ था और इसी कारण यह काम सम्भव हो सका है। आभारी हूं भाई असरार गांधी की जिन्होंने चौक क्षेत्र में साक्षात्कार लेने के लिये मेरे साथ बहुत भाग–दौड़ की।

कृतज्ञ हूँ अपने विभाग के समस्त शिक्षकों, कर्मचारियों की जिन्होंने हर समय मुझे अपेक्षित सहयोग दिया। परन्तु विशेष रूप से आभारी हूँ अपने विभाग के श्री जगदीश मिश्राजी, राजाराम, सैयद, इमाम एवं मनोज की। याद आती है दिवंगत अमीन चाचा की, जो अपनी नौकरी के दौरान विभाग में हमसे बेटों की तरह व्यवहार करते थे, और काम जल्दी पूरा करने की सलाह दिया करते। कृतज्ञ हूँ टाइपिस्ट आनन्द कुमार पाण्डेय एवं अरविन्द खरे की, जिन्होंने अपने परिश्रम से हमारे लिखे हुए अक्षरों को अपने कम्प्यूटर पर मुकम्मिल बनाया है। आभारी हूँ आई.सी.एच.आर. का जिन्होंने मेरी वित्तीय मदद की और काम आगे बढ़ सका। तीन मूर्तिस्थित नेहरू मेमोरियल पुस्तकालय एवं संग्रहालय के समस्त कर्मचारियों की कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मेरे हमारे अध्ययन के दौरान भरपूर सहयोग किया।

नहीं भूल सकती अपने छोटे से टेप तथा पूरे कार्य के दौरान मेरा पंख बनी मोपेड को जिसने इलाहाबाद की सड़के मेरे साथ नापी हैं।

अन्त में मैं श्रद्धा से नमन करती हूं उन सारे सेनानियों को तथा अन्य लोगों को, जिन्होंने मुझे साक्षात्कार दिये और इतिहास की अमूल्य धरोहर को संरक्षित करने में मेरी मदद की। जनता इतिहास का निर्माण करती है, कितना अच्छा होता कि जनता अपना इतिहास स्वयं लिखती। सरकारी इतिहास के इस दौर में जब तक यह सम्भव नहीं है तब तक के लिये उनका यह इतिहास उन्ही को समर्पित है।

(अमिता श्रीवास्तव)

अनुक्रमणिका

भूमिका

बचपन से अधिकतम पढ़ने की एक चाह थी। इस चाहत को मूर्त रूप देने का सबसे मानक तथा पूर्व–स्थापित तरीका था कि अध्ययन के क्षेत्र में शोध किया जाये। कुछ इसी अभिलाषा से शोध करने की एक महत्वाकांक्षा स्नातक स्तर तक पहुंचते–पहुंचते पक्की हो चुकी थी। स्नातकोत्तर में अपने मनपसंद विषय इतिहास में मन तो लगता पर शिक्षा प्रणाली की पांच प्रश्नीय पद्धति से लगातार अरूचि बनी रहती। फिर भी स्नातकोत्तर करने के दौरान राष्ट्रीय आन्दोलन में विशेष रूचि उत्पन्न हुयी। परन्तु कुछ विशेष गति नहीं बन पाई। इतिहास क्या है यह भी प्रश्न स्पष्ट नहीं था। शोध करना तो चाहती थी पर किस विषय पर करूं–कैसे करूं, इन सब विषयों से अन्जान थी। इसी दौरान संयोग से हमारे गुरू प्रो. लालबहादुर वर्मा मणिपुर से इलाहाबाद आये। मणिपुर प्रवास के दौरान वह मौखिक इतिहास के प्रति आकर्षित हुए थे। हमने उनसे अपने शोध करने की इच्छा जाहिर की। उन्होंने मेरी इच्छा को सम्मान दिया और मुझे अकूत उत्साह दिया। मुझे तो मानो आसमान मिल गया। उन्होंने मुझे मौखिक इतिहास के बारे में बताया और पूछा कि "क्या तुम कर सकोगी?" अतिरिक्त आत्मविश्वास से मैंने कहा था – "मुझे लगता है कि मैं कर सकूंगी।" बस यहीं से हुयी थी शुरूआत। पर यह शुरूआत कैसे होगी, इस पर काम करने की पद्धति क्या होगी इस बात से एकदम अन्जान थी। मुझे इतिहास एवं मौखिक इतिहास दोनो को शुरू से शुरू करना था। शोध की पारम्परिक तकनीक से हटकर मौखिक इतिहास की तकनीक पर काम करना था। हमारे सामने पहले से मौखिक इतिहास की कोई स्थापित पद्धति नहीं थी। हमें स्वयं एक पद्धति विकसित करनी थी। तभी पॉल थाम्पसन की 'द वायस ऑफ पास्टः ओरल हिस्ट्री' पढ़ने को मिली। हमारे अध्ययन को एक आधार मिल गया तथा इस क्षेत्र में कार्य करने के लिये एक दिशा भी मिल गई।

विषय के अनुरूप हमारे अध्ययन के प्रमुख रूप से तीन बिन्दु बन रहे थे–

राष्ट्रीय आन्दोलन, मौखिक इतिहास एवं जनइतिहास। इन तीनों बिन्दुओं को इलाहाबाद में अवस्थित करना था। साथ ही इतिहास, स्वतन्त्रता आन्दोलन, मौखिक इतिहास एवं जनइतिहास के परस्पर सम्बन्ध तलाशने थे। व्यष्टि के आधार पर समष्टि तथा समष्टि के आधार पर व्यष्टि को समझना था। इन्हीं बिन्दुओं को आधार मानकर हमने यह शोध कार्य शुरू किया।

भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन मूलतः भारतीय जनता और उपनिवेशवाद के हितों के बीच आधारभूत अन्तर्विरोधों का नतीजा था। इसी मूल अन्तर्विरोध के कारण भारत में जन्मा राष्ट्रवाद। भारतीय राष्ट्र एवं राष्ट्रवाद का उद्भूत होना एक प्रक्रिया है जो साम्राज्यवादी नीतियों की प्रक्रिया के साथ आगे बढ़ी। यह प्रक्रिया पूरे देश में अत्यन्त असमान थी। फिर भी जैसे–जैसे उपनिवेशवाद का चरित्र व्यापक होता गया, वैसे ही टुकड़ों–टुकड़ों में ही भारतीयों का अपमान–बोध जागृत हुआ। यह अपमान बोध राष्ट्रवाद से जुड़ गया, फलस्वरूप विभिन्न सामाजिक संगठनों के उदय के बाद अन्ततः भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ जिसने अन्त तक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया। आगे चलकर देश के अधिकांश लोग इस आन्दोलन में शरीक हुए। अपनी तमाम समझौता परस्ती के बावजूद चाहे–अनचाहे कांग्रेस भारतीय जनमानस के असंतोष की अभिव्यक्ति का मंच बन गई। कालांतर में किसान मजदूर, आम जनता, पूंजीपतियों समाजवादियों एवं क्रांतिकारियों के स्वर भी उसमें समाहित हो गये। जनता की तमाम ऊर्जा के शामिल होने के बावजूद भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व अन्त तक समझौता पूर्ण संघर्ष करता रहा। इस पूरे संघर्ष के असंख्य अन्तर्विरोध हैं। दूसरी तरफ भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर अब तक हुए इतिहास–लेखन में भी उतने ही अन्तर्विरोध हैं। आम जनता ने राष्ट्रीय आन्दोलन में अपनी भरपूर हिस्सेदारी की। अपने स्वरूप में जनान्दोलन होते हुए भी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के परिणाम भारतीय जनता के पक्ष में नहीं हुए। प्रकारांतर से राष्ट्रीय आन्दोलन अघोषित रूप से सामंतवाद से भी लड़ रह था। क्योंकि राष्ट्रवाद एक पूंजीवादी संकल्पना है और राष्ट्रीय आन्दोलन इसी राष्ट्रवाद की स्वाभाविक परिणति था। इस

तरह राष्ट्रीय आन्दोलन अनेक प्रवृत्तियों एवं अन्तर्विरोधों का समुच्चय था। इन्हीं बिन्दुओं को केन्द्र में रखकर हमने राष्ट्रीय आन्दोलन के चरित्र को रेखांकित करने का प्रयास किया है।

निश्चिततः भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एक जनान्दोलन था सन् 1920 के पश्चात् राष्ट्रीय आन्दोलन में जनभूमिका का दौर शुरू होता है। किसी भी राष्ट्र के इतिहास का निर्माण हमेशा जनता करती है। उसमें व्यक्तियों की विशिष्ट भूमिका तो होती है, परन्तु समग्रता में इतिहास के निर्माण की निर्णायक शक्ति हमेशा जनता होती है। जनता अपनी इस शक्ति से बहुधा अनजान होती है। किन्तु अब तक के इतिहास–लेखन में विशेष रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास–लेखन में जनता की भूमिका को रेखांकित करने का प्रयास अभी शुरू ही हुआ है।

यदि इतिहास का सरोकार मानव और मानव समाज है, तो निश्चिततः प्रश्न उन्हें चिन्हित करने की पद्धति पर उठेगा। पारम्परिक इतिहास लेखक जिन लिखित सामग्री का प्रयोग करते हैं, वह अधिकांशतः शासक वर्ग की सेवा करते हैं। सिर्फ उन्हीं स्रोत सामग्री के आधार पर हम जनपक्षीय इतिहास नहीं लिख सकते। इसके लिये हमें स्रोतों की तलाश भी जनता के बीच जाकर ही करनी होगी। पद्धति के रूप में इस तलाश को एक अर्थ प्रदान करता है मौखिक इतिहास। मौखिक इतिहास अतीत की आवाज़ होता है। मौखिक इतिहास अपनी पद्धति एवं अवधारणा दोनो में इतिहास को अधिक लोकतांत्रिक बनाता है। वह स्रोत एकत्र करने जनता के करीब जाता है और अपने विश्लेषण में जनता को जगह देता है। मौखिक इतिहास, इतिहास के संदर्भ एवं उद्देश्य को परिवर्तित कर देता है। राजाओं के इतिवृत्तों के स्थान पर इसकी चिन्तायें, समाज में लोगों के, जीवनानुभव में शामिल हो जाती हैं। इतिहास लिखने की पूरी प्रक्रिया अपने संदर्भ के साथ बदल जाती है। मौखिक इतिहास की पूरी प्रणाली में इंसान शामिल होता है, जिसके इर्दगिर्द समूचे इतिहास का निर्माण होता है। मौखिक इतिहासकार एक साथ लोगों से ऐतिहासिक तथ्य भी एकत्र करता है और लोगों में इतिहास चेतना भी जगाता है। इतिहास के वह अंतराल जो

लिखित इतिहास में शेष रह जाते हैं– मौखिक इतिहास उसका पूरक भी होता है। एक बार रिकार्ड हो जाने के पश्चात् मौखिक स्रोत पुस्तकालय में अन्य स्रोतों की तरह प्रयुक्त किये जा सकते हैं। इस तरह मौखिक इतिहास, इतिहास की एक ऐसी विधा है, जो इतिहास को एक नवीन आयाम देता है, साथ ही जन इतिहास को रेखांकित करने के लिये एक अनिवार्य दिशा प्रदान करता है। निश्चित रूप से मौखिक इतिहास की कुछ सीमायें भी होती है किन्तु वह सीमायें स्वयं इतिहास–लेखन की ही सीमायें होती हैं। 'मौखिक इतिहास' अध्याय में हमने मौखिक इतिहास की उपादेयता एव सीमाओं की चर्चा की है।

अगला अध्याय 'जन इतिहास' पर केन्द्रित है। सामान्य रूप से मानवता का एक बड़ा हिस्सा अनवरत संघर्षशील रहकर इतिहास का निर्माण करता है, जो 'जन' कहलाता है। समग्रता की पृष्ठ भूमि में जब इतिहास लेखन संघर्षशील 'जन' को रेखांकित करता है तो वह 'जनइतिहास' कहलाता है। राष्ट्रीय आन्दोलन के संदर्भ में बात करते हुए इतिहासकार राम शरण शर्मा ने हमारे सामने प्रश्न रखा था कि पहले आप यह तय करिये कि 'जन' किसको कहते हैं। उनका मानना है कि राष्ट्रीय आंदोलन में निरक्षर जन की भूमिका नहीं थी। थी भी तो बहुत कम। इस प्रश्न ने हमें विचार करने के लिये बहुत उद्वेलित किया। जन हमेशा देशकाल, परिस्थिति, विचारधारा एवं पक्षधरता के हिसाब से अर्थ ग्रहण करता है। जहां तक सवाल इस बात का है कि राष्ट्रीय आंदोलन में निरक्षर जनता की भूमिका थी या नहीं, तो इस विषय में हमें शोधकार्य के दौरान दिलचस्प अनुभव हुए हैं। यह ठीक है कि राष्ट्रीय आन्दोलन में निरक्षर जनता ने नेतृत्व नहीं किया, किन्तु उसकी हिस्सेदारी को कम करके नहीं आंका जा सकता। राष्ट्रीय आंदोलन अपने स्वरूप में मध्यवर्गीय था, अतः उसे नेतृत्व भी मध्यवर्ग से ही मिलना था। किसी भी संघर्ष में आम जनता नेतृत्व नहीं करती। राष्ट्रीय आंदोलन में भी नहीं किया। किन्तु वह सारी औरतें जो घर से निकले बगैर कांग्रेसी वालंटियरों को निर्विकार भाव से खाना खिलाती थीं उनके योगदान को हम इतिहास में कहां रखेंगे? यह एक महत्वपूर्ण सवाल है इतिहासकारों के सामने।

वह दौर जिसमें ढेर सारे लोग एक साथ आज़ादी के लिये संघर्ष कर रहे हों, उसमें हर वह व्यक्ति जन में शामिल होता है जो संघर्ष की उस प्रक्रिया में शामिल है। यह अलग बात है कि एक निश्चित लक्ष्य प्राप्त हो जाने के पश्चात् उसका एक हिस्सा शासक वर्ग में तब्दील हो जाता है और उस 'जन' से कट जाता है। इसी संदर्भ में एक महत्वपूर्ण उदाहरण है जब हमने श्रीमती कमला बहुगुणा (उन्होंने सन् 42 के आंदोलन में हिस्सा लिया था) से साक्षात्कार के लिये समय लिया। पहले तो वह फोन पर ही बहुत दिनों तक उपलब्ध नहीं हुयीं। समय मिलने पर, जब हम पूरी तैयारी करके उनके घर गये तो उनके कुछ खास मेहमान आ गये और वह हमें साक्षात्कार देने में असमर्थ रहीं। वहीं दूसरी ओर हैं एकदम निरक्षर 90 वर्षीया रामादेवी, उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय हिस्सेदारी की। उन्होंने कालकोठरी सहित जेल की सज़ा भी पाई थी। हम उनके पास जब साक्षात्कार के लिये गये, तो न सिर्फ उन्होंने महत्वपूर्ण जानकारी दी, बल्कि घंटों हमसे बात की, और मैं उनके परिवार की एक सदस्य बन गई। उन्हें अपनी हिस्सेदारी का कोई झूठा दम्भ नहीं है। यद्यपि राष्ट्रीय आंदोलन में हिस्सेदारी करने के कारण उनकी बातों में गर्व अवश्य है। और वह अपनी भूमिका के प्रति सचेत भी हैं, परन्तु वह अत्यन्त विनम्र स्वर में कहती हैं–"हमार भगवान जानत हैं, कि हम कितना काम कि है अही।" यही अन्तर है खास आदमी और आम आदमी में। इस तरह के अनेकों अनुभव हमें अपने शोधकार्य के दौरान हुए।

अपने शोध कार्य में राष्ट्रीय आंदोलन मौखिक इतिहास एवं जन इतिहास के व्यापक फलक को एक व्यष्टि स्तरीय आयाम प्रदान करने के लिये हमने इलाहाबाद शहर को अपना क्षेत्र चुना। पहले तो उत्साह में हमारा इरादा गांवों को भी सम्मिलित करने का था। किन्तु मौखिक इतिहास पर काम करना अपने आपमें एक दुष्कर कार्य है। यह स्वयं में एक 'टीमवर्क' की मांग करता है । जैसा कि प्रसिद्ध साहित्यकार अमृतलाल नागर अपने उपन्यास 'गदर के फूल' में लिखते हैं–"खोज बीन का काम या तो सन्यासी साहित्यिक कर सकता है या फिर किसी बड़े रईस का बेटा।" अमृतलाल नागर ने 'गदर के फूल' के लिये 12 वर्षों तक अनवरत अवध क्षेत्रों का दौरा किया

तथा 1857 सम्बन्धी लोकगीतों, किस्सों–कथाओं तथा मुहावरों के रूप में बिखरे गदर के फूलों का संकलन किया तथा उन्हीं विवरणों के आधार पर उन्होंने अपना ऐतिहासिक उपन्यास लिखा है। इस कार्य के लिये उन्होंने अथक परिश्रम किया। इसी दौरान एक बुजुर्गवार ने उनसे कहा कि "काम तो अच्छा है मगर नोन सतुआ लेकर गांव–गांव घूमने का काम है। एक नहीं अनेक व्यक्ति इसे घूम कर पूरा कर सकते हैं।" (अमृतलाल नागर रचनावली खण्ड–6, उपन्यास गदर के फूल– पृष्ठ 62)

कुछ यही स्थिति हमारे सामने भी थी अतः हमने मात्र इलाहाबाद शहर को ही अपना क्षेत्र चुना। गंगा–यमुना के दोआब में बसा इलाहाबाद शहर एक प्राचीन तथा बड़ा शहर है। तमाम प्राचीन संस्कृत साहित्य में इलाहाबाद शहर का उल्लेख मिलता है। त्रिवेणी संगम होने के कारण इलाहाबाद शहर का विशेष पौराणिक महत्व है। शहर अपने भौगोलिक स्वरूप में भी प्राचीन एवं नवीन का संगम धारण किये हुए है। अपनी प्राचीन–धार्मिक सांस्कृतिक विरासत को अक्षुण्ण रखते हुए भी, इस शहर ने अंग्रेजों के समय में ही विशिष्ट शहरी रूप धारण किया। नये मुहल्ले बसे। अंग्रेजों के आने से नवीन उत्पादन प्रणाली तथा नये उत्पादन सम्बन्ध विकसित हुए। नौकरीपेशा वर्ग विकसित होने के कारण एक नया मध्यवर्ग भी विकसित हुआ। 1888 में भारतीय राष्ट्रीय कांगेस का अधिवेशन इलाहाबाद में हुआ। यह अधिवेशन शहर में पहले–पहल राष्ट्रवाद की व्याप्ति का सूचक था। इसके बाद से सन् 1920 तक राष्ट्रीय आन्दोलन के उतार चढ़ाव शहर में भी देखने को मिले। फिर 1920 आते–आते शहर राष्ट्रीय आंदोलन के जनोद्भव के युग में प्रविष्ट होने को तैयार हो चुका था। इलाहाबाद की इसी भौगोलिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा हमने इलाहाबाद सम्बन्धी अध्याय में की है।

1920 का दशक आने के साथ इलाहाबाद असहयोग के दौर में प्रविष्ट हो गया। राष्ट्रीय आन्दोलन की केन्द्रीय योजना के अनुरूप ही यहां पर विभिन्न जन आन्दोलन हुए। नेतृत्व के आह्मवान के अनुरूप यहां की जनता ने प्रत्युत्तर दिया। सन् 42 के भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान इलाहाबाद में राष्ट्रीय आंदोलन अपनी चरम

सीमा पर था। 1920–30 एवं 40 के दशक के दौरान इलाहाबाद में राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास एवं उतार चढ़ाव तथा विभाजन की मनः स्थितियों को दिखाने का प्रयास किया गया है अगले अध्याय में।

अन्त में हमने साक्षात्कारों के आधार पर स्वतन्त्रता आन्दोलन में होने वाली जनभूमिका एवं उनके प्रकारों को विश्लेषित करने का प्रयास किया है। प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर हम यह निश्चित तौर पर कह सकते हैं कि राष्ट्रीय आन्दोलन में इलाहाबाद सहित पूरे देश की जनता ने अपनी भूमिका अदा की। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मिश्रित वर्गों की विशद भूमिका वाला एक जनान्दोलन था। अन्य जगहों की तरह इलाहाबाद में भी जनता राष्ट्रीय आंदोलन से भावनात्मक रूप से जुड़ी। सन् 42 में यह आन्दोलन स्वतः स्फूर्त हो गया और यहां की जनता विशेषतः छात्रों ने उल्लेखनीय भूमिका अदा की। सैकड़ों लोग जेल गये। अन्ततः देश विभाजन और सत्ता हस्तांतरण की ओर बढ़ चला। विभाजन की कसक आज भी लोगों के दिलों में शेष है। आज़ादी के 50 वर्षोपरांत, स्वतन्त्रता आंदोलन से संलग्न रहे लोग आज देश के हालात से बेहद क्षुब्ध हैं। ज़ाहिर है राष्ट्रीय आंदोलन के कार्य अभी अपूर्ण हैं।

जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं कि काम आरम्भ करतें समय हमारे सामने मौखिक इतिहास की कोई पूर्व स्थापित पद्धति नहीं थी। हमें स्वयं अपनी तकनीक भी विकसित करनी थी। यद्यपि पाल थाम्पसन की पुस्तक 'द वायस ऑफ पास्ट ओरल हिस्ट्री' हमारे लिये बाइबिल का काम कर रही थी, और हमारे अध्ययन को एक अन्तर्दृष्टि प्रदान कर रही थी। इसी पुस्तक का सहारा लेकर हम मौखिक इतिहास की दिशा में आगे बढ़े। इस दिशा में सबसे पहली तकनीकी आवश्यकता थी–टेप रिकार्डर की। हमने अपने घर पर पहले से मौजूद, फिलिप्स के दो स्पीकर वाले डब्बानुमा बड़े टेपरिकार्डर से शुरूआत की। बाद में भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद की छात्रवृत्ति मिलने के उपरांत हमने एक 'माइक्रोकैसेट' वाला साक्षात्कार के उद्देश्य से बना छोटा टेपरिकार्डर खरीद लिया जिससे काम करने में आसानी हो गई। शुरूआत के कुछ महीने तो यूं ही बीत गये– शोध के सम्बन्ध में आरम्भिक

जानकारी हेतु। फिर राष्ट्रीय आन्दोलन पर अध्ययन शुरू हुआ। इसके पश्चात् हम दिसम्बर 1993 में तीन मूर्ति स्थित जवाहरलाल नेहरू मेमोरियल पुस्तकालय एव संग्रहालय में अध्ययन करने के लिये गये। वहां पर मुझे मानो मौखिक इतिहास का ख़जाना हाथ लग गया। वहां हमने 'ओरल हिस्ट्री जर्नल' तथा 'इन्टरलेशनल जर्नल ऑफ ओरल हिस्ट्री' का अध्ययन किया। धीरे–धीरे अनेकों परतें खुलने लगीं। वहीं पता चला कि अमेरिका तथा यूरोप में मौखिक इतिहास ने एक आन्दोलन का रूप ले लिया है। वहां मौखिक इतिहास के सैकड़ों केन्द्र हैं। इस माध्यम से पूरा का पूरा समुदाय इतिहास चेतना से लैस होता है। जीवन से सम्बन्धित कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं हैं जिसकें मौखिक इतिहास ने काम न किया हो। वहां हुए कामों की सूचना से हमें अत्यधिक उत्साह मिला।

अब हमें अपना काम अपेक्षाकृत आसान लगने लगा। इसके साथ ही हमने वहां इतिहास सम्बन्धी अन्य पुस्तकों का अध्ययन भी किया। साथ ही पुस्तकालय के मौखिक इतिहास विभाग में उपलब्ध प्रतिलिपियों का भी अध्ययन किया। छः माह पश्चात् में ढेर सारे अनुभव एवं स्रोत सामग्री लेकर इलाहाबाद पहुंची। तीन मूर्ति पुस्तकालय में विभिन्न मूर्धन्य इतिहासकारों से संवाद का भी मौका मिला। सुमित सरकार तथा विपिन चन्द्र जैसे इतिहासकारों ने इस विषय पर हमसे बात तो की और हमें प्रोत्साहित भी किया किन्तु समय देकर भी अपने साक्षात्कार 'रिकार्ड' कराने में न जाने क्यों वह मुकर गये। इसके बाद ही एक बार इलाहाबाद में एक सेमिनार में हिस्सा लेने आये प्रो. रविन्दर कुमार से हमने मौखिक इतिहास पर बात करने की पेशकश की तो उन्होंने हमसे कहा कि "आप इस पर किसी 'पोलिटिकल ऐक्टिविस्ट' से बात करिये।" हमारे दिमाग में बार–बार पाल थाम्पसन की पंक्ति कौंधने लगती जिसमें वह कहते हैं कि मौखिक इतिहास एक तरफ जहां कुछ लोगों को बहुत उत्साहित करता है तो वहीं कुछ लोग इससे बहुत खौफ खाने लगते हैं। मुझे टेपरिकार्डर की शक्ति का अहसास हुआ कि कैसे रिकार्ड हुए शब्द ऐतिहासिक सम्पदा बन जाते हैं।

खैर, इलाहाबाद लौट कर शुरू हुआ क्षेत्रीय कार्य । यानी इलाहाबाद में

बिखरी राष्ट्रीय आंदोलन से सम्बन्धित स्मृतियों का साक्षात्कारों के माध्यम से ध्वन्यांकन। हमें याद है हमारा पहला साक्षात्कार। हमने जब अपने काम के सिलसिले में लोगों से बात–चीत शुरू की तो लोगों ने हमें नेहरू परिवार के करीबी पी. डी. टण्डन का नाम सबसे पहले सुझाया। हम बड़ा सा टेप झोले में लिये उनके घर पहुंचे। उन्हें अपने आने का उद्देश्य बताया और उनसे बातचीत रिकार्ड करने का अनुरोध किया। पहले तो उन्होंने हमारे विषय में जानकारी ली और फिर कुछ देर तक सोचते रहे। फिर कुद देर टाल मटोल करते रहे। उन्होंने हमसे कहा कि हमने 'आकाशवाणी' को साक्षात्कार दिया है, हमें उनसे पूछना पड़ेगा कि हम आपको साक्षात्कार दे सकते हैं या नहीं। कुछ देर बाद उनके पास एक सज्जन बैठे थे, उन्होंने हमसे कहा कि 'दरअसल यह जहां भी साक्षात्कार देते हैं, वहां से इनको पैसा मिलता है। क्या आपके पास पैसे का कोई प्रावधान है? हम एकदम निर्वाक् उन्हे देखने लगे। हलांकि फिर उन्होंने हमसे कहा कि 'नहीं हम छात्रों से पैसा नहीं लेंगे।' फिर उन्होने हमसे पन्द्रह दिन बात फोन करने के लिये कहा, जो हमने कभी नहीं किया। तो इस तरह हुयी शुरूआत। हमने बेहद दुःखी मन से वापस आकर प्रोफेसर वर्मा को सारी बातें रिपोर्ट की। उन्होंने एक बार फिर हमारा हौसला बढ़ाया और कहा कि अभी आगे और भी बहुत कुछ देखने सुनने को मिल सकता है।

हमने अपना काम शुरू कर दिया, और पहला व्यवस्थित साक्षात्कार श्री राम अधार पाण्डेय का लिया। हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी से जुड़े राम अधार पाण्डेय सहजनवा ट्रेन डकैती से सम्बद्ध रहे हैं और बाद में वह एम.एल.ए. भी हुए। इसी तरह सिलसिला बढ़ता गया। एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति का पता चलता रहा। इसके अतिरिक्त हमने स्थानीय 'ट्रेजरी ऑफिस' से तकरीबन 500 स्वतन्त्रता संग्राम सेनानियों के पते प्राप्त किये जो पेंशन प्राप्त कर रहे थे। धीरे–धीरे एक तकनीक हमारे सामने खुलती गई। इस शोध के लिये हमने किसी एक प्रश्नावली का प्रयोग नहीं किया। इतने विविध लोगों में वह सम्भव भी नहीं था। धीरे–धीरे प्रश्न पूछने की एक पद्धति स्वतः ही विकसित होती गई। पहले साक्षात्कार देने वाले व्यक्ति से आरम्भिक

परिचय के साथ ही एक रिश्ता कायम करना पड़ता, फिर उसकी स्थिति के अनुसार ही हमें प्रश्न पूछने पड़ते हैं। साथ ही व्यक्ति के घर परिवार–परिवेश का भी अध्ययन चलता रहता। इसी दौरान हमें 'टेपरिकार्डर को भी संचालित करना पड़ता। मौखिक इतिहास के नियम के अनुसार साक्षात्कार को शीघ्रातिशीघ्र प्रतिलिखित करना अनिवार्य होता है। वरना बाद में कई चीज़े भूलने का खतरा रहता है तथा उसका भावपक्ष भी नष्ट होने की संभावना रहती । इस तरह हमें घर–समाज–विश्वविद्यालय के अन्य उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए हमें साक्षात्कार को तुरंत 'ट्रांसक्राइब' करना होता। एक घण्टे के साक्षात्कार को 'ट्रांसक्राइब' करने में न्यूनतम छः घण्टे लगते हैं। 'ट्रांसक्राइब' करने का काम मौखिक इतिहास का सबसे थका देने वाला, उबाऊ और नीरस काम होता है। कई बार लिखते–लिखते सर भन्ना जाता था। दूसरी तरफ जो साक्षात्कार तुरंत नहीं लिखा जाता वह कई दिनों तक पड़ा रहता और काम के बोझ के साथ दिमाग पर बोझ भी बन जाता। अतः मौखिक इतिहास पर काम करते समय बहुत 'अपटूडेट' होने की आवश्यकता होती है। कुलमिलाकर यह चौबीस घण्टे का काम होता है। एक बार काम पूरा हो जाने के बाद हमारे पास ढेरें सामग्री होती हैं जिसमें से प्रासंगिक सामग्री तलाश करना भी समस्या होती है। इस वक्त हमारे पास लगभग 70 घण्टे के साक्षात्कार 43 कैसेटों में ध्वान्यांकित हैं। साथ ही सैकड़ों पन्ने के प्रतिलेख भी हैं। सूचनाओं के इन भण्डार में से इतिहास को निरूपित करना हमारे लिये समस्या थी। इस विषय में पाल थाम्पसन की पुस्तक 'द वाइस आफ पास्ट ओरल हिस्ट्री', सेल्डन एवं पाप वर्थ भी 'बाई द वर्ड ऑफ माउथ द।' शहिद अमीन की 'इवेंट, मेटाफर, एण्ड मेमोरी–चौरी चौरा' तथा अमृतलाल नागर की 'गदर के फूल' जैसी पुस्तकों तथा प्रोफेसर वर्मा की बातचीत ने हमें एक अर्न्तदृष्टि प्रदान की।

मौखिक इतिहास में काम करते वक्त अनेकों समस्याओं का सामना करना पड़ता है। अध्येता को न सिर्फ मानसिक रूप से बल्कि आर्थिक रूप से भी समर्थ होने की आवश्यकता होती है। उसे एक साथ कई दिशाओं में काम करना पड़ता है। कई बार व्यक्ति पर ध्यान केन्द्रित होता है, तो टेपरिकार्डर पर से ध्यान हट जाता हैं। टेप

पर ध्यान केन्द्रित होता है तो साक्षात्कार देने वाले व्यक्ति को लगता कि उसकी उपेक्षा हो रही है। इसी तरह शुरू–शुरू में साक्षात्कार देने वाला टेप के प्रति सचेत हो जाता है। उसे मूल बिन्दु पर लाने के लिये काफी प्रयास करना पड़ता है। कई बार ऐसा होता है कि टेप पर ध्यान नहीं देने से पूरा का पूरा साक्षात्कार नष्ट हो जाता है। ऐसा ही हुआ था प्रो. रेयाजुद्दीन के साक्षात्कार के दौरान कि दो घण्टे का पूरा साक्षात्कार रिकार्ड नहीं हुआ, जबकि टेप चल रहा था। अब दो घण्टे की बातचीत दुबारा करना सम्भव नहीं था। अतः मौखिक इतिहासकार को छोटा–मोटा तकनीशियन होना भी ज़रूरी है। साक्षात्कार लेते वक्त अध्येता को एक साथ कई बातें ध्यान में रखनी होती है। उसे एक साथ उसके प्रति सम्मान बनाये रखना पड़ता है, साथ ही तत्सम्बन्धी नोट्स भी लेने पड़ते हैं। अगला सवाल क्या होगा इसका ध्यान रखना पड़ता हैं, साथ ही प्रतिप्रश्न करने का भी ध्यान रखना पड़ता है। साक्षात्कार लेने वाले व्यक्ति को हर हाल में अपने 'मूड' पर नियंत्रण रखना पड़ता है। उसे सामान्यतः खुश एवं गम्भीर रहना होता है। इसके साथ ही टेप का संचालन भी उसे ही करना होता है। कैसेट पलटने तथा बदलने का ध्यान देना होता है। साक्षात्कार देने वाले व्यक्ति की सुविधा का पूरा ध्यान देना होता है। कई बार काम के अलावा अनेकों बातें इधर–उधर की सुननी पड़ती हैं। चूंकि साक्षात्कार देने वालों में अधिकांश वृद्ध होते थे अतः उनका अतिरिक्त ख्याल रखना पड़ता। हमसे बात करते वक्त वह एक बार फिर से अपनी पूरी ज़िन्दगी को पहले से याद करने लगते। कई बार तो ऐसा भी हुआ है कि व्यक्ति फूट–फूट कर रोने लगते हैं। ऐसी स्थिति में साक्षात्कार कर्ता को मनोवैज्ञानिक की भूमिका भी निभानी पड़ती है। इस तरह उसे एक साथ कई काम दिमाग में रखने पड़ते हैं। इसके लिये अध्येता को पर्याप्त धैर्यशाली होना अनिवार्य होता है।

अक्सर ऐसा भी होता है कि जब साक्षात्कार देने व्यक्ति के घर पहुंचो तो वह अनुपस्थित मिलता है। एक बार ऐसा ही हुआ था हमारे साथ जब अपने घर से तकरीबन दस–पन्द्रह किलोमीटर दूर चिलचिलाती धूप में, 'ट्रैफिक जाम' का सामना करते हुए हम रानीमण्डी चौक में स्थित पंडित विष्णुकांत मालवीय के घर पहुंचे तो वह

नहीं मिले। फिर एक दो घण्टे इधर–उधर बिता कर वापस लौटे तब उनसे मुलाकात हुयी। अगली समस्या हमारे सामने इस रूप में आई कि कई बार सामने वाला व्यक्ति बेहद बातूनी होता है। वह घण्टों बात करता है परन्तु उसमें से एक लाइन भी काम की नहीं होती और हमें उसे सुनना ही पड़ता है।

कई बार ऐसा भी हुआ है कि साक्षात्कार देने वाला व्यक्ति हमसे मदद की अपेक्षा रखता है। जो लोग बेहद ग़रीब होते हैं, वह आर्थिक मदद की अपेक्षा भी रखते हैं। ऐसे समय में हम किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते थे। 90 वर्षीया दादी रामा देवी चाहती थीं कि उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके परिवार के किसी सदस्य को उनकी पेंशन मिल जाये। उनकी पेंशन से ही उनके परिवार का खर्चा चलता था।

इस क्षेत्र में काम करते वक्त एक समस्या होती है 'बोली' की। मौखिक इतिहास के प्रशिक्षण के अनुसार यथासम्भव साक्षात्कार देने वाले की 'बोली' में ही बात करनी चाहिये। किन्तु इलाहाबाद में सामान्य लोग जो बोली बोलते हैं वह बहुत 'टिपिकल' है। डॉ. ग्रियर्सन ने विविध स्थानों की बोलियों का जो वर्गीकरण किया है उसके अनुसार प्रयाग के ज़िले में 'पूर्वी हिन्दी' बोली जाती है, जो पुरानी 'अर्ध मागधी' प्राकृत के स्थान में उत्पन्न हुयी है। इसके बोलचाल का आधुनिक नाम 'अवधी' है। यही बोली सामान्यतया जिले भर में बोली जाती है। शहर में खड़ी बोली भी मिली हुयी हैं। इलाहाबाद की बोली में पश्चिमी भोजपुरी, पश्चिमी अवधी तथा बैसवाड़ी का अद्‌भुत मिश्रण हैं– जिससे हर थोड़ी देर पर बोली में अन्तर स्पष्ट होता है। प्रयाग का जिला तीन प्राकृतिक भागों में विभक्त है, जिनकी सीमा गंगा और यमुना हैं। जैसे ही इनको पार कीजिये बोली में कुछ–कुछ परिवर्तन स्पष्ट अनुभव होने लगता है। (शालिग्राम श्रीवास्तव 'प्रयाग प्रदीप' – पृष्ठ 118) अपना अनुभव नहीं होने के कारण उस बोली से तादात्म्य नहीं होता। हलांकि हम टूटी–फूटी बोली में तो उनसे बात करते ही–पर वह काफी नहीं होता था। ऐसे में हम उनसे एवं उनके परिवार से कट जाते । अतः स्थानीय बोली का प्रवाह होना भी अध्येता के लिये ज़रूरी होता है। इससे लोगों से आसानी से संवाद स्थापित होता है।

साथ ही बीच–बीच में अगली समस्या हमारे सामने आयी धनाभाव की। हलांकि हमें आई.सी.एच. आर से मिलने वाली छात्रवृत्ति ने काफी सहयोग किया। फिर भी एक वर्ष की छात्रवृत्ति समाप्त होने के बाद उसके 'एक्सटेंशन' में काफी वक्त लगा। अन्ततः छः महीने की वृत्ति मिलने के बाद पुनः पैसा मिलना बन्द हो गया। पैसे मिलने के अंतराल में काम करना मुश्किल हो जाता। कुल मिलाकर मौखिक इतिहास पर काम करना बेहद ख़र्चीला है और अध्येता को भौतिक रूप से सम्पृक्त होना ही पड़ता है। हलांकि हमारे सामने धन की ऐसी बड़ी समस्या कभी नहीं आई कि काम रूक जाये।

इसके अतिरिक्त मौखिक इतिहास के अध्येता को काफी बोल्ड, व्यवहारिक और सामाजिक होना पड़ता है। एक लड़की के रूप में तो समाज की अनेक वर्जनाओं को तोड़कर आगे बढ़ना पड़ता है। हमें भी यह करना पड़ा। इसमें आप एक रूटीन ज़िन्दगी नहीं जी सकते। व्यक्ति को काफी सक्रिय होना पड़ता है।

किन्तु मौखिक इतिहास पर कार्य करते हुए हमें जो उपलब्ध हुआ, उनके सामने यह समस्यायें कुछ नहीं है। इस पूरे काम के दौरान हमारे व्यक्तित्व का अभूतपूर्व विकास हुआ। एक लड़की होने के कारण बचपन से ढेरों संस्कार 'लड़की होने के' गांठ बन जाते हैं। इस काम के दौरान वह गिरहें खुली। लोगों से मिलना–जुलना बातचीत करना, यह सब हमें समाज के करीब ले गया। समाज की विभिन्न पर्तें, दुःख दर्द समझ में आये। इस कार्य ने मुझे आत्मकेन्द्रिता से उबारा और हम समाज के प्रति सोचने को बाध्य हुए। पूरे शहर में मोपेड लेकर घूमना 'इण्टरव्यू' लेना एक ऐसा काम था जिसने मुझे पहचान दी। इन सबसे बढ़कर ढेर सारे घरों में एक आत्मीय सम्बन्ध कायम हुआ। शहर में इतने ढेर सारे घर हो गये। लोग हमारा इंतजार करते। बूढ़ी दादियां अपनी पूजा–अर्चना में हमारे लिये मनौती मनाती। इन सबने हमें इतना दुलार–प्यार और सम्मान दिया, जितना आम तौर पर लोगों को मिलना मुश्किल होता है और यही मेरे इस शोध कार्य का मुख्य हासिल है।

इस काम को करते वक्त व्यक्तिगत रूप से भी ढेरों उतार चढ़ाव आये

जिसने इस कार्य को प्रभावित किया। आगे चलकर एक वर्ष की लम्बी बीमारी ने हमें काफी पीछे छोड़ दिया। अपनी तमाम शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक ऊर्जा एकत्र कर पुनः खड़े होने में बहुत वक्त लगा। साथ ही आजीविका की तलवार भी सर पर लटकती ही रहती। विश्वविद्यालय के गैर अकादमिक माहौल से और भी तनाव होता और कभी–कभी पूरी शोध प्रक्रिया व्यर्थ लगने लगती। इस पूरे दौर में अनेक मनः स्थितियो से गुजरना पड़ा। उनका असर भी व्यक्ति के कार्यो पर पड़ता है। इतिहास वस्तुगतता की कहानी कहता है और इन वर्षो में मैं आत्मगतता की पीड़ा में उलझ गई। और अपनी इस पीड़ा के दौर में मुझे यह समझ में आया कि इतिहास लिखने का नही बदलने का उपकरण है। धीरे–धीरे इतिहास की समझ बनने लगी। लोगों के बीच में जाना, बातचीत करना, दुःख दर्द सुनना तथा इतिहास के अध्ययन ने हममें यह इतिहास बोध जगाया कि इतिहास की अपनी कमियां हैं। वह लोग जो इतिहास का निर्माण करते हैं, उनके साथ अन्याय होता चला आ रहा है। राष्ट्रीय आन्दोलन का वह दौर जिसमें लोग लड़ रहे थे, वह संघर्ष अभी अपूर्ण है और उस अपूर्ण को पूर्ण करना अब हमारा कार्यभार है। इस कार्य ने हमारी जीवन दिशा बदल दी।

हमने इसके माध्यम से समाज को और स्वयं को समझने का प्रयास किया और कोशाम्बी के इस मत पर हमें भी दृढ़ विश्वास हो चला कि "निस्संदेह इतिहास लिखने की बजाय बदलना कहीं महत्वपूर्ण है, ठीक उसी प्रकार जैसे मौसम के बारे में केवल बात करने की बजाय उसके सम्बन्ध में कुछ करना बेहतर है।" इसके साथ ही समाज के मौसम में परिवर्तन लाने हेतु हमने भी अपनी भूमिका तलाश ली जिससे कि अधिकांश इन्सानों के मन का मौसम भी बदल सके। इस तरह मौखिक इतिहास के इस कार्य में हम भले ही बहुत अच्छा नहीं कर पाये किन्तु मौखिक इतिहास ने हमें इतिहास निर्माण की चेतना से लैस कर दिया।

I
राष्ट्रीय आन्दोलन का चरित्र

"विचारणीय है कि कैसे लोग लड़ते और हारते है; और जब उनकी हार के बावजूद वह मिल जाता है जिसके लिये वह लड़े थे तो पाते हैं कि यह तो वह नहीं है जिसके लिये वे लड़े थे, और फिर उसके लिये दूसरे लोग दूसरे नाम से लड़ते हैं।"[1]

इतिहास अतीत के आंकलन के आधार पर वर्तमान को जीने एवं भविष्य के निर्माण का उपकरण है। अतः वर्तमान के सामने आइना रखकर अगर हम अतीत में झांके तो हमें अच्छी ख़राब वह कड़ियां मिल सकती हैं जिन पर आज वर्तमान टिका है और जिनसे भविष्य का संचालन होता है। इतिहासकार का काम न तो अतीत से प्रेम करना है, न अतीत से छुटकारा पाना, बल्कि वर्तमान को स्पष्ट करने वाली एक कुंजी के रूप में अतीत को गहराई में जाकर उसे खोलकर समझना है। इतिहासकार का अतीत सम्बन्धी चित्र जब वर्तमान की समस्याओं को समझने वाली अन्तर्दृष्टि से आलोकित होता है तभी महान इतिहास रचा जाता है। .... इतिहास से सीखना केवल एक तरफा प्रक्रिया नहीं है। अतीत के प्रकाश में वर्तमान को समझने का अर्थ वर्तमान के प्रकाश में अतीत को समझना भी है। इतिहास का प्रयोजन है अतीत एवं वर्तमान के बीच अन्तः सम्बन्ध द्वारा इन दोनो के बारे में अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करते रहना।[2] आज हम जिस तरह का वर्तमान जी रहे हैं उससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि अतीत में दो सौ साल की लम्बी गुलामी के दुःस्वप्न कितने भयानक और पीड़ादायी हैं, और उनसे निपटने के हमारे तरीके कितने अपूर्ण रहे हैं। आज हम इतिहास के जिस मोड़ पर खड़े हैं वहां से पलटकर इतिहास को देखें तो हम पायेंगे कि पचास वर्ष पूर्व साम्राज्यवाद से छुटकारे के रूप में मिली आज़ादी और उसके लिये

किये गये अदम्य संघर्षो की आंच आज भी हम तक पहुंच रही है, दूसरी तरफ आज हम उससे इतनी दूरी पर भी खड़े हैं कि उसका मूल्याकंन तटस्थ होकर कर सकते हैं। वर्तमान परिस्थितियों को सामने रखकर राष्ट्रीय आन्दोलन को परखा जाये तो भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का चरित्र बहुत कुछ स्पष्ट होगा। आम आदमी के वर्तमान को मद्देनजर रखकर अगर हम विश्लेषण करें तो इस बात का पता लगा सकते हैं कि राष्ट्रीय आन्दोलन में कौन सी चारित्रिक कमज़ोरी रह गई है कि आज की पीढ़ी पुरज़ोर प्रश्न कर रही हैं राष्ट्रीय आन्दोलन के कर्णधारों से कि यह कैसी विरासत सौंपी है हमें जिसमें सभी को जीने की आज़ादी नहीं मिली हुयी हैं।

मौखिक स्रोतों से प्राप्त साक्ष्य भी इस बात की पुष्टि करते हैं। जिन्होंने अपना सब कुछ छोड़कर राष्ट्रीय आंदोलन में हिस्सा लिया था वह आज के हालात से आहत है। दूसरी तरफ जो लोग इस पूरे दौर के दर्शक रहे हैं उनकी आकांक्षा भी राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़ गयी थी। यद्यपि अन्त तक इस आकांक्षा का मूर्त रूप किसी को स्पष्ट नहीं था फिर भी विदेशी शासन की समाप्ति एवं 'स्वराज्य' की कामना सभी में घर कर चुकी थी। हलांकि कांग्रेस नेतृत्व खुद भी स्वराज के अर्थ के बारे में साफ नहीं था। जवाहरलाल नेहरू ने स्वीकार किया है कि यह एक "अस्पष्ट स्वराज था जिसके पीछे कोई स्पष्ट विचारधारा नहीं थीं। गांधी जिन्होंने "एक साल में स्वराज" का आकर्षक नारा दिया था, खुद भी स्वराज की धारणा को ठीक–ठीक समझ और मानी सामने नहीं रख पाये थे। अलग–अलग मौकों पर उन्होंने स्वराज्य की अलग–अलग व्याख्यायें पेश कीं "स्वराज का मतलब एक ऐसी राजसत्ता है, जहां हमारा अलग वजूद होगा और जिसे हम बिना अंग्रेजों के भी कायम रख सकेंगे। और अगर उसमें दोनो की भागीदारी होगी भी, तो वह भागीदारी स्वैच्छिक होगी। मेरे स्वराज का मतलब भारत की संसदीय सरकार है, अपने एकदम आधुनिक अर्थों में और कुछ समय के लिये।" कई बार उनके लिये स्वराज का मतलब पंजाब और ख़िलाफत के साथ की गई बेइंसाफी को दुरूस्त करना था, तो 1922 आते आते स्वराज का मतलब चरखा, खद्दर, अहिंसा और अछूतों के साथ बराबरी के व्यवहार जैसे राष्ट्रीय सद्गुणों को

अमल में लाना हो गया। फिर भी अवाम के लिये एक वादा था "एक साल में स्वराज" हासिल करने का वादा— स्वराज, जो उनकी तमाम शिकायतों का अंत कर देगा। किसानों ने जो अभिप्राय स्वराज से लगाया था वह था अपना राज, अंग्रेज राज का खात्मा और इसके साथ ही अंग्रेजों के समर्थक और किसानों के शोषक ताल्लुकेदारों का खात्मा किसानों के कष्टों का खात्मा। सच तो यह है कि स्वराज्य "पूरी तरह हवा में था और था लोगों के दिलादिमाग में, और असंख्य लोगों की भीड़ और सम्मेलनों में इसके हवाले दिये जाते रहे।[3] लगभग 70 वर्षीय बंसीलाल, (जिन्हें अपनी असली उम्र का पता नहीं, फिर भी आन्दोलन के अन्तिम चरण की पूरी याद है, जो हरिजन हैं, मजदूर हैं और निरक्षर हैं, जिन्हे हम इस देश का बिल्कुल सामान्य आदमी कह सकते हैं) से साक्षात्कार के दौरान यह पूछे जाने पर कि कैसा माहौल होना चाहिये जिससे सबको लगे कि हम आज़ाद हैं, वह जबाब देते हैं—"अपने विचार से सबका हिस्सा बराबर है। मुल्क आज़ाद हुआ किसी के पास एक इंच ज़मीन नहीं हैं। खटिया बिछाने की जगह नहीं है यह कैसा ईसाफ ?"[4] लगभग 75–76 वर्षीय निरक्षर पून्नू खां (जिन्होंने बेहद क्षुब्ध स्वर में पूरा साक्षात्कार दिया) आज़ादी का मतलब पूछने पर अत्यन्त क्षुब्ध स्वर में कहते हैं "कोई किसी का गुलाम न हो, सब आज़ाद हों, मगर अब तो गुलामों से भी बदतर है। देखिये एक बात आपको बता दें, सन् 47 से लेकर 96 चल रहा है मुझको एक पैसे की नौकरी नहीं मिली, जो यहां की हुकूमत है— अंग्रेजों की हुकूमत में हमने 11 साल नौकरी की।[5]

स्पष्ट है कि देश का आम आदमी आज भी इंसाफ मांग रहा है और प्रश्न कर रहा है राष्ट्रीय आन्दोलन के सूत्रधारों से। बंसीलाल और पुन्नू खां प्रतिनिधि है इस देश के आम आदमी के, जिनका असंतोष यह तय करता है कि राष्ट्रीय आन्दोलन का चरित्र क्या था। वह किसके पक्ष में खड़ा था जबकि हमारे पास पुन्नूखां को देने के लिये कोई जवाब न था कि आज़ादी के 50 वर्षों में पुन्नू खां को नौकरी क्यों नहीं मिली। जबकि इस देश के आम आदमी ने राष्ट्रीय आंदोलन में भरपूर शिरकत की। आदिवासी किसान, मजदूर, औरतें, साक्षर निरक्षर निम्न वर्ग, मध्यवर्ग, उच्चवर्ग, सभी

ने अपनी वर्ग हैसियत के अनुसार राष्ट्रीय आंदोलन में हिस्सेदारी की। विशेष तौर पर इस देश का युवा राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़ा।

"भारत के नौजवानों चलो खोलकर सीना
अंग्रेजी शासन जायेगा, भारत का दिन फिर आयेगा
यह राष्ट्र स्वशासन, अंग्रेजी का होगा मुश्किल जीना
भारत के नौजवानों चलो खोलकर सीना
यह देश गुलाम हमारा है, यह भारत वर्ष मम प्यारा है
जहां विन्ध्य हिमालय द्राविड़ गंगा, उत्कल देश हमारा है
इन मार भगाओ अंग्रेजन का, कर लो काम नवीना
भारत के नौजवानों चलो खोलकर सीना
ऐ कारागार हमारे तुम, उठ जाओ आज भिनसारै तुम
जितने कैदी सब आ जाओ, भारत का प्यारा बन जाओ
यह भारत मां पुकार रही, तुमको सदा जुहार रही
अंग्रेजी शासन भागेगा, दिन भारत वाला जागेगा
यह चम–चम चमके देश हमारा जैसे यार नगीना
भारत के नौजवानो चलो खोलकर सीना।"[6]

'चम–चम चमके देश हमारा जैसे यार नगीना'–अपने देश के लिये लोकगीतों में जनमानस की यह चाहत आज़ादी मिलने के पूर्व तक आकार ले चुकी थी। आज, आज़ादी के पचास वर्षोपरांत जब हम उन आंकाक्षाओं को संग्रहीत कर रहे हैं, और राष्ट्रीय आन्दोलन के चरित्र पर नये सिरे से विचार कर रहे है तो एक साथ कई प्रश्न खड़े हो जाते हैं। देश के लिये लोकगीतों की यह चाहत आखिर कहां गुम हो गई ? जबकि गुलाम भारत के नौजवान कैदी सीना खोलकर उठ खड़े हुए थे। अंग्रेज भाग तो गये, स्वशासन तो आया पर हमारा यह देश नगीने जैसा चम–चम चमक क्यों नहीं रहा है ? वह कौन सी स्थितियां थीं जिनमें आज़ादी के फौरन बाद शायर को लिखना पड़ा–

ये दाग़–दाग़ उजाला, ये शब गज़ीदा सहर

वो इन्तज़ार था जिसका, ये वो सहर तो नहीं।[7]

15 अगस्त 1947 को एक साथ अंग्रेज़ों ने भारत छोड़ दिया पर आज भी वह लोगों के अहसासों में घुसे हुए हैं– तभी समकालीन प्रसिद्ध इंकलाबी शायर अकबर इलाहाबादी लिखते हैं–

"मेरे मंसूबे तरक्की के हुए सब पैमल

बीज मग़रिब ने जो बोया वो उगा और फल गया

बूट डाउसन ने बनाया, मैने एक मजमून लिखा

मुल्क में मजमून न फैला और जूता चल गया।"[8]

ऐसा क्यों हुआ हमें इसका ऐतिहासिक विश्लेषण करना होगा। भारत में अंग्रेजों का दो सौ वर्षो का शासन सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में एक ऐसा हस्तक्षेप है जिसने भारतीय इतिहास की धारा की पलट दी। एक तरफ इसने भारत के स्वतन्त्र विकास की धार को ही कुण्ठित किया दूसरी तरफ इसमे अन्तर्निहित गतियों ने भारत को समेकित किया। इस संदर्भ में 200 साल की लम्बी गुलामी, तत्कारण उपजा राष्ट्रवाद; उस पर आधारित राष्ट्रीय आन्दोलन और उस पर हुआ इतिहास लेखन और जनस्मृतियों में बसी राष्ट्रीय आन्दोलन की यादें इन सबको मिलाकर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को समझने की एक ऐसी प्रक्रिया चलती है जिससे राष्ट्रीय आन्दोलन का चरित्र बेहद जटिल एवं बेहद अस्पष्ट रूप में सामने आता है।

प्रत्येक ऐतिहासिक घटना की भांति वर्तमान राष्ट्र का भी अपना इतिहास है, आदि और अन्त है वह कोई शाश्वत घटना और संस्था नहीं । वर्तमान राष्ट्र का जन्म समाज के विकास के एक सुनिश्चित युग मे हुआ है। सामंतवाद की समाप्ति तथा पूंजीवाद के साथ ही राष्ट्र का जन्म हुआ। पूंजीवाद के विकास के साथ ही राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद पर आधारित राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास हुआ।[9]

राष्ट्रवाद एक आधुनिक परिघटना है जिसका उदय मुख्यतः यूरोप में सामंतवाद के पतन के पश्चात् पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली और उत्पादन सम्बंधों के

साथ–साथ हुआ। अन्य सामाजिक तथ्यों की तरह राष्ट्रवाद भी एक ऐतिहासिक तथ्य है। लोक जीवन के विकास क्रम में वस्तुनिष्ठ एवं भावनिष्ठ दोनो प्रकार के ऐतिहासिक तत्वों की परिपक्वता के पश्चात् राष्ट्रवाद का उद्‌भव हुआ।[10] बाज़ार पहली पाठशाला है जिसमें पूंजीपति वर्ग अपने राष्ट्रवाद की शिक्षा ग्रहण करता है।[11] राष्ट्रवाद बूर्जआ विचारधारा तथा राजनीति का एक सिद्धान्त है, जो राष्ट्रीय अलगाव, पृथक्–पृथक् राष्ट्रों (जातियों) की अनन्यता, राष्ट्रों के बीच अविश्वास और शत्रुता की पैरवी में व्यक्त होता है। राष्ट्रवाद सर्वदा पूंजीवादी वैशिष्ट्य में ही जन्म लेता है क्योंकि पूंजीवाद ही वस्तुगत एवं भावगत एवं आर्थिक सामाजिक रूप में ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करता है कि लोग एक राष्ट्र और उस पर टिके राष्ट्रवाद के विषय में सोच सकें। उसके पूर्व यानी सामंतवादी युग में इस तथ्य के विषय में सोच पाना मुमकिन ही नहीं होता। यानी राष्ट्रवाद ने राष्ट्रों के गठन की प्रक्रिया में जन्म लिया और वह पूंजीवाद की विशिष्टताओं से निर्धारित होता है।[12] राष्ट्रीय आन्दोलन सारतः पूंजीवादी आन्दोलन होता है। परन्तु जब वह गुलामी की विशेष परिस्थितियों में पनपता है तो उसका स्वरूप उपनिवेशवाद विरोधी भी हो जाता है। उसमें ढेर सारी सांस्कृतिक सामाजिक धारायें निहित होती जाती हैं।

राष्ट्रवाद एक पूंजीवादी संकल्पना है, इस तथ्य की परख के लिये यह आवश्यक है कि यह जाना जाये कि उपनिवेशवाद का औचित्य क्या है ? दुनिया को सभ्य बनाने के 'श्वेत आदमी के बोझ' की घोषणा के बावजूद यह तो स्पष्ट ही है कि उपनिवेशवाद के मूल में ऐसा कोई नैतिक आदर्श नहीं हो सकता। औद्योगिक क्रांति के दौरान कुछ यूरोपीय देशों मे जब पूंजीवाद परिपक्वता की ओर अग्रसर हुआ तो औपनिवेशिक विस्तार की नीति सीधे–सीधे पूंजीवादी विकास की आवश्यकताओं से जुड़ गई। पिछले तीन सौ वर्षो का उपनिवेशवाद यूरोप में पूंजीवादी सामाजिक आर्थिक ढांचे की उत्पत्ति उसके विकास तथा परिपक्वता के साथ घनिष्ठता से जुड़ा हुआ है। उपनिवेश प्राप्त करने की होड़ यूरोप में औद्योगिक क्रांति का परिणाम थी।[13]

ब्रिटिश उपनिवेशवाद भारतीय इतिहास का वह निर्णायक मोड़ है/ जहां पूरा का

पूरा भारतीय समाज एक साथ एक परिवर्तन बिन्दु पर आकर खड़ा हो जाता है। धीरे–धीरे गोरे अंग्रेज उनके 'माई बाप' हो जाते हैं और पूंजीवाद प्रछन्न दुश्मन। पूंजीवाद की अपनी गतियों के साथ ब्रिटिश नीतियों और भारतीय समाज में परिवर्तन आये। 18वीं शताब्दी के अंत और मुख्यतः 19 वीं शताब्दी के आरम्भ से ही भारत औपनिवेशिक अधीनस्थता में धीरे–धीरे विश्व पूंजीवाद में संगठित होने लगा था। भारत में उपनिवेशवाद वैसे ही एक आधुनिक ऐतिहासिक तथ्य है जैसे ब्रिटेन में औद्योगिक पूंजीवाद। वस्तुतः दोनो साथ ही विकसित हुए। अंग्रेजों के आने के बाद भारतीय औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था विश्व पूंजीवाद का अविभाज्य हिस्सा हो चली थी। बल्कि सारी दुनिया के उपनिवेश वैश्विक पूंजी का ही अंग थे।[14] यानी भारत में उपनिवेशवाद ब्रिटेन में विकसित हो रहे पूंजीवाद की देन था। इसी पूंजीवाद के तहत ब्रिटेन ने अपने देश में विकसित होते पूंजीवाद की बढ़ती अपेक्षाओं की पूर्ति के अनुरूप उपनिवेशों की अर्थव्यवस्था को ढाला। प्राक्ब्रिटिश भारत की ग्राम आधारित अर्थव्यवस्था छिन्न–भिन्न हो गई। यहां का हस्तशिल्प, दस्तकारी, कुटीर उद्योग सभी कुछ नष्ट हो गया। वह समाज जो अपनी ही सीमाओं में कैद था, अगर अपनी स्वाभाविक गतियों से आगे बढ़ता तो शायद यहां के इतिहास की दिशा ही दूसरी होती।

पूंजीवाद ऐसा नासूर होता है जो बहुत तेजी से फैलता है। ऐसे समय में जब कि सारी दुनिया में, पूंजीवाद इतिहास की गति को प्रभावित कर रहा था, भारत उससे अछूता नहीं रहता। भारत में भी पूंजीवाद के विकसित होने की पूरी सम्भावना थी। लेकिन भारतीय समाज एशियाई उत्पादन प्रणाली की अपनी मद्धिम गतियों के कारण जब तक आगे बढ़ पाता कि औपनिवेशिक दुर्भावना का शिकार हो गया। अपनी ज़रूरतों के हिसाब से ब्रिटिश पूंजीवाद ने पहले तो यहां की पूरी अर्थव्यवस्था पर कब्जा किया और तदनुरूप अपनी राजनीति निर्धारित की। आवश्यकतानुसार ही उन्होंने यहां भी संचारप्रणाली, शिक्षा एवं अन्य सुधार किये और इन विकासों के आधार पर भारत में ब्रिटिश शासन के औचित्य का डंका पीटते रहे। जबकि उनकी एक–एक औपनिवेशिक रणनीतियां तय थीं। इस तरह उन्होंने भारत में अविकास को

विकसित किया।[15] इस तरह भारत में उपनिवेशवाद विश्वपूंजीवाद का हिस्सा था। उपनिवेशवादी व्यापारी के रूप में यहां आये। पहले यहां की समृद्ध धरती पर अधिकार किया– अर्थव्यवस्था पर अधिकार किया, राजनीति पर अधिकार किया और धीरे–धीरे यहां के लोगों के अहसासों पर कब्ज़ा कर लिया।

भारत में एक विराट राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय और फलतः अंग्रेजों द्वारा सत्ता की बागडोर भारतीय हाथों में सौंपने को मजबूर होना बीसवीं सदी की अत्यन्त महत्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रक्रियाओं में से है। इस आन्दोलन के परिणाम स्वरूप भारत में औपनिवेशिक राजव्यवस्था के स्थान पर स्वतन्त्र राज्यव्यवस्था की स्थापना हुयी। किन्तु इस आन्दोलन के प्रभाव ऐसे तात्कालिक परिणामों तक ही सीमित नहीं थे।[16] उस विराट संघर्ष की अपूर्णता गुण–दोषों के परिणाम आज तक हमारे समाज में व्याप्त हैं और वह तब तक रहेंगे जब तक राष्ट्रीय आन्दोलन की उन अपूर्णताओं को चिन्हित कर, समझ कर उन्हें दूर न किया जाये।

भारत की अर्थव्यवस्था एवं राजनीति पर कब्ज़ा करके ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने उसे पूंजीवाद से जोड़ा। ब्रिटिश संसद ने पूंजीवादी शोषण को वैधानिक बनाकर भारत का भरपूर शोषण किया तथा भारत को एक 'क्लासिक' उपनिवेश के रूप में परिणत किया। विश्वपूंजीवाद से जुड़ने के बावजूद भारत एक अविकसित देश के रुप में विकसित होता गया।[17]

इस तरह, पूंजीवादी पराधीनता के दिनों में ही विकसित हुआ एक अविकसित ग़रीब राष्ट्र–और उसी पराधीनता में पनप रहा था एक लड़खड़ाता राष्ट्रवाद जिसकी परिणति थी कांग्रेस के नेतृत्व में चलने वाला समझौतापरस्त राष्ट्रीय आन्दोलन जिसका नतीजा थी एक आधी अधूरी आज़ादी जो एक निर्णायक लड़ाई लड़कर नहीं, बल्कि ब्रिटिश संसद द्वारा पारित एक अधिनियम द्वारा 'दी' गई थी। सत्ता हस्तांतरण द्वारा 'राज' गोरे साहबो की जगह काले साहबों के हाथों में आ गया।

भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन मूलतः भारतीय जनता और उपनिवेशवाद के हितों के बीच आधारभूत अन्तर्विरोधों का नतीजा था।[18] अंग्रेजों के साथ यह

अन्तर्विरोध उस दिन से शुरू हो गया था जिस दिन से अंग्रेजों ने भारत को लूटने की नीयत से यहां कदम रखा। उस समय का भारतीय समाज पूर्णतः विकसित सामंती समाज था। जबकि ब्रिटिश उपनिवेशवादी पूंजीवादी मूल्य लेकर यहां की शस्य श्यामला धरती की समृद्ध सामाजिक एवं प्राकृतिक सम्पदा का शोषण करने आये थे। अतः पहली टकराहट प्राचीन सामंती ढांचे एवं नवीन उन्नत पूंजीवादी अर्थतन्त्र से हुयी। ब्रिटिश शासन ने पुराने समाज के आर्थिक एवं राजनैतिक आधारों को विखण्डित कर दिया। इसने उत्पादन की प्राक्पूंजीवादी व्यवस्था को तो घुला दिया परन्तु इसके स्थान पर नई पूंजीवादी व्यवस्था नहीं कायम हुयी। इसकी उत्पादन की नई औपनिवेशिक प्रणाली अस्तित्व में आयी।[19] भारत पहले भी कई बार विजित हो चुका था, लेकिन इन विजयों से केवल राजनीतिक सत्ता में उलटफेर हुए। मूलभूत आर्थिक ढांचे पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा था।[20] लेकिन ब्रिटिश विजेता पूंजीवादी थे जिन्होंने अपने देश में सामंतवाद को ध्वस्त कर आधुनिक पूंजीवादी समाज की, आधुनिक राष्ट्र की स्थापना की थी। इन नये विजेताओं के भाप के इन्जन और मुक्त व्यापार ने भारत के चरखे और करघे को तोड़ डाला जो ग्राम समाज व्यवस्था के मुख्य आधार थे।[21]

1757 में प्लासी के युद्ध में लेकर 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संघर्ष तक एक शतक में उपनिवेशवाद का एक दौर पूरा हुआ। इसके बाद भारतीय इतिहास एक नई भूमि पर संचालित होने लगा और उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद के दौर में प्रविष्ट हो गया–पूंजीवाद अपनी चरम स्थिति पर पहुंच गया जिसके कारण पैदा हुए ढेरों सामाजिक तनाव जिनकी अभिव्यक्ति राष्ट्रीय आन्दोलन में हुयी।

1757 में प्लासी की जीत के पश्चात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में गुलामी की आधार शिला रखी। यहां की अकूत सम्पदा को बेहयाई से लूटा और अपना क्षेत्र बढ़ाते गये। अपनी इस लूट को वैधानिक स्वरूप प्रदान करने के लिये तरह–तरह के आर्थिक राजनीतिक और प्रशासनिक कदम उठाये। अंग्रेजों की इसी लूट के बल पर इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति को अवलम्बन मिला। 1857 तक लूट खसोट, शोषण एवं आधिपत्य का क्रम चलता रहा। ब्रिटेन में पूंजीवाद के बदलते चरित्र के अनुरूप

राष्ट्रीय आन्दोलन का चरित्र भी परिवर्तित होता गया।

औद्योगिक क्रांति के आधार निर्माण की प्रक्रिया के दौरान भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का व्यापार शुरू हुआ। कालांतर में औद्योगिक क्रांति के लिये कच्चे माल और फिर बाज़ार की आवश्यकता ने भारत में औपनिवेशिक शोषण को और व्यापक किया। मशीने भारत के हथकरघे को निगल गईं। यहां की हरी–भरी धरती दुर्भिक्षों की शिकार हो गई। ब्रिटिश लूट और उसकी नीतियों के चलते यहां कृषि से हस्तशिल्प और हस्तशिल्प से उद्योग के विकास की स्वाभाविक यात्रा की सम्भावनायें हमेशा के लिये समाप्त हो गई। भारतीय समाज की स्वाभाविक गति अवरूद्ध हुयी। उपनिवेशवाद ने अपने संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति हेतु इस देश के शोषण के लिये गुलाम बनाये रखने की सारी आज़माइश की और उसमें कामयाब भी हुए। उनकी भारत के शोषण की इस नीति के परिणामों में दो गतियां अन्तर्निहित थी–पहली गति इस देश के बदहाल होने की, और उसी में अन्तर्निहित थी एक दूसरी गति भी जिसे वह चाहकर भी रोक नहीं पाये। वह गति थी– भारत के एकीकरण की जो इस देश की भौगोलिक सीमाओं को 'राष्ट्र' के रूप में परिणत कर रही थीं।

यह सच है कि उपनिवेशवाद के आने से भारत का आमूल सामाजिक–आर्थिक रूपान्तरण हो गया परन्तु उसके कुछ परिणाम सकारात्मक भी निकले। भारत की सदियों से चली आ रही हलचल विहीन ग्रामाधारित आर्थिक एवं सामाजिक संरचना से बाहर आया। यह कहा जा सकता है कि आत्मनिर्भर स्वाधीन ग्रामीण अर्थतन्त्र पर आधारित भारत के अनेक्य की समाप्ति और पूंजीवादी रूपों के आगमन से आर्थिक इकाई के तौर पर भारत का रूपांतरण अंग्रेजी शासन के ऐतिहासिक रूप में प्रगतिशील परिणाम थे।[22]

इतने बड़े भूभाग का प्रशासन चलाने के लिये अंग्रेजों के लिये यह अनिवार्य हो गया कि वह यहां की जनता को शिक्षित करें। भारत में ब्रिटिश शासकों एवं फर्मों को क्लर्कों की एवं अन्य कर्मचारियों की ज़रूरत थी। अतः यहां पर अंग्रेजी शिक्षा लागू की गई। जब भारतीय बूर्जआ वर्ग की शक्ति बढ़ने लगी। अक्सर जमींदारों या

बिचौलियों और व्यापारियों के घरों से आये इन शिक्षित लोगों ने डाक्टर वकील और शिक्षक के पेशों पर कब्जा कर लिया। उन्होंने अपना पैसा पहले ज़मीन में लगाया और बाद में उद्योग धन्धों में। कालक्रम में वे बूर्जुआ वर्ग के प्रतिनिधि और प्रबक्ता बन गये।[23]

इस तरह औपनिवेशिक युग में भारत का मूलभूत रूपान्तरण हुआ।[24] उद्योग शिक्षा एवं यातायात संचार के साधनों ने राष्ट्रीयता के विकास में काफी मदद पहुंचाई। एक पढ़लिखा मध्यम वर्ग पैदा हुआ जिसने तथाकथित नवजागरण का सूत्रपात किया।

भारत में राष्ट्रीयता के विकास की प्रक्रिया बड़ी जटिल एवं बहुअंगी है।[25] यह सच है कि राष्ट्रवाद एक पूंजीवादी तथ्य है फिर भी इसमें ढेरों सामाजिक सांस्कृतिक तत्व अन्तर्गुथित रहते हैं। यह स्वयं में कोई एकांगी विचारधारा नहीं है। राष्ट्रवाद के विभिन्न विचार एवं अवधारणा है जो भौगोलिक एवं सामाजिक स्थितियों के साथ बदल जाती है।[26] राष्ट्रवाद अलग–अलग संदर्भो में अलग--अलग अर्थ ग्रहण कर सकता है।[27] किसी भी देश की सामाजिक संरचना तथा राजनीतिक प्रक्रिया परस्पर अन्तर्सम्बद्ध होती है।[28] सामाजिक सांस्कृतिक संरचना निर्धारित होती है आर्थिक गतियों से। अंग्रेजो ने यहां की आर्थिक गतियों को परिवर्तित किया जिससे नयी राजनीतिक सामाजिक स्थितियां पैदा हुयी और उन्हीं स्थितियों के बीच पैदा हुआ भारतीय राष्ट्रवाद एवं राष्ट्रीय आन्दोलन।

इन सबके अतिरिक्त भारतीय नागरिकों के साथ अंग्रेजों का भेदभाव, नस्लवादी एवं अपमानजनक व्यवहार एक सामूहिक घृणा की सृष्टि कर रहा था। भारत में अंग्रेजों के आगमन के साथ ही शुरू हो गये थे प्रतिरोध आन्दोलन। प्लासी के युद्ध के बाद और 1857 के महाविद्रोह के बीच एक शताब्दी के दौरान ब्रिटिश शासन के विस्तार के साथ–साथ विद्रोह और उपद्रव भी होते रहे। जब किसी इलाके को अंग्रेजी अमलदारी में मिला दिया जाता तो वहां तुरंत प्रतिरोध और विद्रोह का सिलसिला चल पड़ता था।[29] आरम्भिक दौर में अंग्रेजों के खिलाफ यह प्रतिरोध दो स्तरों पर अभिव्यक्त हुआ– पहला देशी राजा महराजाओं का प्रतिरोध दूसरा आम जनता का प्रतिरोध इसमें

शामिल था आदिवासी किसान एवं स्थानीय जनता का प्रतिरोध। इन प्रतिरोध आन्दोलनों की चरम परिणति था 1857 का महाविद्रोह जिसे मार्क्स ने प्रथम स्वतन्त्रता संघर्ष की संज्ञा दी है।[30]

1857 का विद्रोह, भारत से अंग्रेजों को निकाल भगाने और प्राक्ब्रिटिश भारत की सामाजिक राजनीतिक स्थिति की ओर प्रत्यावर्तन का अन्तिम सशक्त प्रयास था।[31] 1857 की यह लड़ाई पारम्परिक आधार पर अतीत की शेष बची ऊर्जा एवं संचित शौर्य को लेकर लड़ी गई थी। इस लड़ाई की प्रेरक शक्तियां अभी भी भारत की प्राचीन भौतिक आध्यात्मिक शक्तियों में निहित थीं। पुराने मानव उपादानों के साथ ही अंग्रेजों को देश से निकालने के प्रयास किये गये। इन तरह यह भारत का अन्तिम प्रतिरोध आन्दोलन था। साथ ही यह प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम भी था। नई आर्थिक सामाजिक संरचना की भूमिका भी इनमें शामिल थी। यह लड़ाई आने वाले संघर्षों के लिये प्रेरणास्रोत बन गई तथा अंग्रेजों के लिये चौकन्ने होने का अवसर भी था। इस रूप में 1857 की यह लड़ाई अपने स्वरूप में प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम भी थी।

1857 की इस लड़ाई में मुक्त होने की भारतीय जिजीविषा परास्त हो गई। इसके बाद भारत में अंग्रेजी राज का आधार ही बदल गया। अब पूरा का पूरा भारत सीधे–सीधे साम्राज्यवाद की गिरफ्त में आ गया। भारत की इंच–इंच ज़मीन पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया। पूरे भारत पर गुलामी का अंधकार समान रूप से छा गया। भारत अपने अतीत से पूरी तरह कट गया। यह गुलामी इतनी सघन एवं व्यापक थी कि इसकी गोद में जन्म लेने वाले सभी आन्दोलनों (कुछ हद तक क्रांतिकारी एवं स्वतः स्फूर्त जन आन्दोलनों को छोड़कर) की धार कभी भी इतनी प्रचण्ड नहीं रही। बदली हुयी इस भूमि पर 1857 में भाग लेने वाले शूरवीर फिर अभी पैदा नहीं हो सके।

1857 की शिकस्त ने भारतीय अतीत की सकारात्मकता को परास्त कर दिया। एक नई तरह की व्यवस्था ने जो गुलामी दी उसका स्वरूप एवं चरित्र और भी व्यापक एवं गहरा था। ऐसी पराधीनता के दौर में जन्मा, पला, बढ़ा और समझौता परस्त हो गया राष्ट्रवाद।

इस तरह भारत में राष्ट्रवाद औपनिवेशिक शासन द्वारा लाये गये इन समग्र परिवर्तन के बाद ही आया जिसने यहां के चिन्तन एवं क्रियाओं को विभिन्न स्तरों पर प्रभावित किया।[32] उपनिवेशवादियों के चाहे अनचाहे उनकी नीतियों के परिणाम–स्वरूप यहां समेकित हो रहा था एक राष्ट्र।

एक राष्ट्र था जो पहले से चला आ रहा था उत्तर से दक्षिण एवं पूरब से पश्चिम तक पारम्परिक सातत्यता में । आधुनिक संकल्पना का एक राष्ट्र विकसित हो रहा था ब्रिटिश नीतियों के फलस्वरूप। आगे चलकर एक राष्ट्र बनने लगा था सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के खवाबों में। एक राष्ट्र था जो उभर रहा था हिन्दू राष्ट्रवाद के रूप में जिसका प्रतिनिधित्व कर रही थी उस दौर की हिन्दी पत्रिकायें जो यह सिद्ध करने का प्रयास कर रही थीं कि भारत का अर्थ हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान है।[33] और अन्त में एक राष्ट्र का सपना था जिसे बनना था आज़ाद होकर । साथ ही एक ही राष्ट्र के अनेकानेक चेहरे मिलते हैं राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान एवं उसके बाद हुए इतिहास लेखन में।

इस तरह, भारतीय राष्ट्र एवं राष्ट्रवाद किसी एक स्थिति या व्यक्ति के प्रयासों के परिणामस्वरूप नहीं पैदा हुआ था। इसलिये भारत राष्ट्र के जन्म का चित्रण बेहद अमूर्त है। भारत राष्ट्र एवं राष्ट्रवाद का उद्भूत होना एक सुपरिभाषित लक्ष्य नहीं बल्कि एक प्रक्रिया है जो साम्राज्यवादी नीतियों की प्रक्रिया के साथ आगे बढ़ी। यह प्रक्रिया इतनी असमान थी कि एक तरफ तो शुरूआती दौर से ही अंग्रेजों का प्रतिरोध करने वाले लोग थे वहीं अन्त तक ब्रिटिश समर्थक लोग भी बने रहे। भारत का राष्ट्रवाद टुकड़ों–टुकड़ों में पोषित होता रहा जिसकी एक परिणति साम्प्रदायिकता के रूप में हुयी। साम्प्रदायिकता का विकास ब्रिटिश नीतियों के फलस्वरूप विकसित हुए राष्ट्रवाद का सबसे विकृत रूप है। उस विकृत राष्ट्रवाद की अभिव्यक्तियां हमें आज तक उसी रूप में दिखाई देती हैं। सम्भवतः पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान एक भी आन्दोलन ऐसा नहीं हुआ जिसका स्वर पूरे देश में एक समान सुनाई दिया हो।

फिर भी, रूपान्तरित आर्थिक सामाजिक स्थितियों में राष्ट्रवाद पनपना ही

था। अंग्रेजों की नस्लवाद एवं आर्थिक शोषण के विरोध में सबसे बड़ी राष्ट्रीय शिकायत उठ खड़ी हुयी।[34] आरम्भ से ही अंग्रेजों को अलग–अलग हिस्सों में प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। चूंकि भारत में अंग्रेज स्वामी जाति का होने के प्रति बहुत सचेत रहते थे।[35] जैसे–जैसे उपनिवेशवाद का चरित्र व्यापक होता गया वैसे ही टुकड़ों में ही सही, भारतीयों का अपमानबोध भी जाग्रत हुआ। यह अपमान बोध राष्ट्रवाद से जुड़ गया। उसी राष्ट्रवाद की एक धारा अतीत में अपनी पहचान तलाशने लगी जिसकी अभिव्यक्ति विभिन्न सामाजिक एवं पुनुरूत्थानवादी आन्दोलनों में हुयी। राष्ट्रवाद के पक्ष में स्थितिय: परिपक्व होने लगी। नई सामाजिक परिस्थितियों में एक मध्यमवर्ग अंगड़ाई ले रहा था जो आने वाले दिनों में राष्ट्रीय आन्दोलन को नेतृत्व प्रदान करने वाला था। सामाजिक जागरण के साथ–साथ उसे आगे बढ़ाने वाले संगठनों का भी निर्माण हुआ। इस जागरण ने जहां धार्मिक पुनुरूत्थानवादी और सुधारवादी आन्दोलन चलाने वाले हिन्दुओं मुसलमानों और पारसियों के संगठनों का जन्म दिया, वहीं उसने ऐसे संगठन भी पैदा किये जो धर्मनिरपेक्ष थे, जिनका आधार वर्गीय था। वे किसी धर्म या सम्प्रदाय का नहीं, बल्कि वर्गो का प्रतिनिधित्व करते थे। देश के अन्दर राजनीतिक चेतना बढ़ाने, राष्ट्रीय आन्दोलंन को जन्म देने और उसको मजबूत करने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका इन धर्म निरपेक्ष और वर्गीय संगठनों की थी।[36] सारे देश में राष्ट्रीय आन्दोलन को संगठित करने और पृथक्–पृथक् आन्दोलनों में शक्ति नष्ट करने की जगह सर्वमान्य राजनीतिक कार्यक्रम अपनाकर एक साथ शक्तिशाली आन्दोलन करने की प्रबल भावना का स्वाभाविक परिणाम था– 'इन्डियन नेशनल काग्रेस' जिसे खुद राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने ब्रिटिश भारत की राजधानी और राष्ट्रीय आन्दोलन के केन्द्र में बुलाया था।[37] वहीं समाज में बढ़ते तनाव के दबाव एवं परिस्थिति का तकाजा था कि वह कृषि क्रांति और राष्ट्रीय मुक्ति का रास्ता अपनाये। ब्रिटिश सरकार इन तनावों के परिणामों का अहसास शिद्दत से करने लगी थी। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को इस रास्ते पर जाने से रोकने के लिये ही ब्रिटिश शासकों ने हस्तक्षेप करना निहायत ज़रूरी समझा और हस्तक्षेप कर इन्डियन नेशनल कांग्रेस को जन्म दिया।[38]

1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से लेकर अगस्त 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बीच लगभग साठ वर्षों का कालखण्ड हमारे देश के लम्बे इतिहास में शायद सबसे बड़े परिवर्तन का समय हैं। फिर भी यह परिवर्तन अनेक अर्थों में दुखद रूप से अपूर्ण है।[39]

कांग्रेस के स्थापना होने तक असंतोष के बीज अकुंरित हो गये थे। राष्ट्रवाद अब लोगों की इच्छाओं में, सम्वेदनाओं में जन्म ले चुका था। नरमदलीय कांग्रेस अधिकाधिक रूप से राष्ट्रवादी भावना के एक छोटे से भाग को ही प्रतिबिम्बित कर रही थी। ब्रिटिश सरकार की अलोकप्रियता बढ़ती जा रही थी। राजनीतिक गतिविधियों का आधार तेजी से विस्तृत हो रहा था।[40] परिणाम स्वरूप समाज में तनाव बढ़ रहे थे। वहीं कांग्रेस का नरमपंथी रवैया इसे और तीव्र कर रहा था। आम जनता जग रही थी और कांग्रेस अभी तक अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त अभिजन वर्ग का आन्दोलन था जो आम जनता से बिल्कुल भरा हुआ था। वह बढ़ते असंतोष को नेतृत्व देने में अक्षम थी। नरमदलीय राजनीति के तौर–तरीकों की प्रतिक्रिया के रूप में वैयक्तिक हिंसा का आहवान हुआ।[41]

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशकों में राष्ट्रवादी राजनीति में ऐसा बहुत कुछ हो रहा था जिससे मालुम होता हैं कि अपनी दूर–दूर तक फैली सांगठनिक जड़ों और अपने व्यापक सामाजिक आधार के बावजूद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस समग्र सामाजिक आकांक्षाओं या आर्थिक असंतोषों को प्रतिबिम्बित नहीं कर पा रही थी।[42]

जैसा कि सर्वविदित है कि 1920 का दशक भारतीय राजनीति की दुनिया में एक नवीन बिन्दु है। इसी वक्त 'जनता' ने बड़े स्तर पर राष्ट्रीय आन्दोलन में हिस्सा लिया। कांग्रेसी कार्यकर्ता गांवों में घुसे। इसके पहले ऐसा नहीं था। राष्ट्रीय गतिविधियों में किसानों एवं मजदूरों की हिस्सेदारी बढ़ी। राष्ट्रीय प्रतीकों एवं नारों की पुनर्व्याख्या हुयी। पहली की अपेक्षा अल्प विशेषाधिकार प्राप्त लोगों की मांगे राष्ट्रीय मंच पर ज्यादा तीव्रता से सामने आयी। इसी समय खिलाफत एवं असहयोग आन्दोलन ने अपने तरीके से उत्प्रेरक का काम किया।[43] इन सबसे बढ़कर भारतीय राजनीतिक

क्षितिज पर गांधी का उदय हो चुका था। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन एवं कांग्रेस के समूचे स्तर को पहले के संकीर्ण दायरे से उठाकर राष्ट्रव्यापी जन आन्दोलन के स्तर तक पहुंचा देने और अत्यन्त पिछड़ी निष्क्रिय जनता के अन्दर राष्ट्रीय चेतना का संचार करने एवं संघर्ष के लिये उन्हें प्रेरित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।[44]

यह दौर भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की राजनीति का एक नवीन चरण था। यह वह चरण था जिसमें गांधी का व्यक्तित्व छाया हुआ था।[45] राजनीति के इस नये चरण को समझने के लिये हमें इन सामाजिक वर्गों से परे देखना होगा जिनकी आकांक्षाओं को कांग्रेस अपने आरम्भिक दौरा में स्वर दे रही थी। स्पष्ट है 19वीं सदी के अन्तिम दौर में पंजाब महाराष्ट्र गुजरात में समृद्धि की सीढ़ियां चढ़ते किसान अपनी नवार्जित सम्पत्ति के अनुरूप सामाजिक तथा आर्थिक सत्ता प्राप्त करने को कसमसा रहे थे। जब अंग्रेजी सरकार ने नये बन्दोबस्त के जरिये किसानों के करों के दायित्व में वृद्धि करने की कोशिश की तो यह कसमसाहट और भी तीव्र हो उठी।

औद्योगिक तथा पारम्परिक दोनो तरह के शहरी समाजों के निचले वर्गों में भी ऐसा ही क्षोभ व्याप्त था। कलकत्ता ओर बम्बई जैसे नगरों में श्रमिकों की आबादी लगातार बढ़ती जाती थी। श्रमिकों के नीचे आता था वह विशाल शहरी मानव समुदाय जिसकी कोई निश्चित हैसियत, कोई खास नाम या पहचान नहीं थी। इन वर्गो में भी असंतोष की आग सुलग रही थी, और ये आमूल परिवर्तन की राजनीति के निमंत्रण या साम्प्रदायिकता के उकसावे पर अभी भी मैदान में उतर सकते थे। पारम्परिक नगरों में भी स्थिति ऐसी ही विस्फोटक थी। इन नगरों के कारीगरों और दस्तकारों की खासी आबादी थी। आधुनिक उद्योगों के उत्पादों के कारण उनकी जीवन पद्धति अस्त–व्यस्त हो गयी थी। इनके उत्पादों के कारीगरों और दस्तकारों के उत्पाद छोड़ नहीं सकते थे। इसलिये इन वर्गो का असंतोष दिन–दिन बढ़ता जा रहा था। ऐसे असंतुष्ट वर्गो के केन्द्र होने के कारण पारम्परिक नगर बारूद के ढेर बन गये थे, जो अवसर मिलते ही राजनीतिक आन्दोलनों के फूट पड़ने को तैयार बैठे थे। अर्थात् भारत के शहरी और ग्रामीण दोनो समाजों में सभी वर्गों में व्याप्त असंतोष के रूप में एक जबरदस्त जन

आन्दोलन का सामान तैयार पड़ा था। यहीं पर गांधी की विलक्षणता इस बात में निहित थी कि उन्होंने भारतीय समाज को विभिन्न अंगों में व्याप्त असंतोष को पहचाना और उसे नवजीवन से अनुप्राणित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के माध्यम से संगठित अभिव्यक्ति प्रदान की।[46]

इसके बाद का राष्ट्रीय आन्दोलन साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष एवं कांग्रेस के साथ एवं कांग्रेस के बाहर रहकर होने वाले आंदोलनों के आन्तरिक संघर्षों के द्वैत की गाथा है। राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तिम तीन दशक ढेर सारे अन्तर्विरोधों का समुच्चय है। अपनी तमाम समझौतापरस्ती के बावजूद चाहे अनचाहे कांग्रेस भारतीय जन मानस के असंतोष की अभिव्यक्ति का मंच बन गई। कालांतर में किसान मजदूर आम जनता पूंजीपतियों समाजवादियों एवं क्रांतिकारियों के स्वर भी उसमें समाहित हो गये।

कांग्रेस की स्थापना के साथ ही भारतीय राष्ट्रवाद को एक अखिल भारतीय मंच की प्राप्ति हुयी परन्तु जहां एक तरफ कांग्रेस की स्थापना से राष्ट्रीय आंदोलन को गति मिली वहीं कांग्रेस ने अपने वर्ग चरित्र के अनुरूप भारतीय क्रांति को बहुत पीछे ढकेल दिया। इस संदर्भ में महत्वपूर्ण एवं आश्चर्य जनक यह बात है कि लोकप्रिय राष्ट्रीय प्रतिरोध की दूसरी लहर के कांग्रेस की क्रिया–कलापों ने जन कार्यवाइयों की व्यापकता एवं तीव्रता को सीमित किया।[47] गांधी की राजनीतिक रणनीति अपना एक बड़ा लाभ पाने में सफल रही लेकिन एक अन्य बड़ा लाभ पाने में विफल हो गई। उसने भारत को विदेशी प्रभुत्व से मुक्ति दिलायी किन्तु विभिन्न धार्मिक समुदायों को एक विशिष्ट राष्ट्र के धागे में वह पिरो नहीं पायी।[48] इस तरह उपनिवेशवादी शोषण एवं भारतीय जनता के हितों के मूल अन्तर्विरोध से आरम्भ होगा। आने वाले समय में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ढेर सारे अन्तर्विरोधों के गुट के रूप में सामने आया। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन एक साथ साम्राज्यवाद विरोधी होने के साथ–साथ सामंतवाद विरोधी संघर्ष भी था। अकेले कांग्रेस के अन्दर जितनी प्रवृत्तियां दृश्य हैं उनसे यह अन्तर्विरोध एकदम सुस्पष्ट हैं। 72 भद्र प्रतिनिधियों को लेकर शुरू हुए कांग्रेस के आन्दोलन में धीरे–धीरे इस देश का आम आदमी भी शामिल हुआ। अपने चरित्र में

मुख्यतः बूर्जुआ होते हुए इसमें मुख्यतः मजदूरों की आवाज भी समाहित हुयी।एक तरफ उसमें था मध्यवर्ग का वह हिस्सा जो भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को तहेदिल से स्वीकार करता था, दूसरी तरफ थे आदिवासी एवं किसान जो स्वयं कांग्रेस के अन्दर एवं बाहर रहकर अन्त तक लड़ते रहे। आन्दोलन के सबसे बड़े नेता गांधी ने जन नायक होते हुए भी हमेशा पूंजीपति वर्ग के हितों की रक्षा की। एक तरफ असहयोग का नैतिक आदर्श था, दूसरी तरफ चौरी–चौरा का सच था। राष्ट्रीय आंदोलन में एक साथ चल रहा था कांग्रेस का उदारवादी समझौतापरस्त आन्दोलन दूसरी तरफ था क्रांतिकारी आन्दोलन क्रांतिकारी आन्दोलन की एक धारा आतंकवाद में बदल गई। एक तरफ है गोखले से लेकर गांधी नेहरू की विरासत, दूसरी तरफ है चापेकर बन्धुओं से लेकर भगतसिंह सुभाषचन्द्र बोस की विरासत। शुरू से ही जहां राष्ट्रवाद पनपा वही दूसरी तरफ साम्प्रदायिकता का विकास होने लगा। एक तरफ एकीकृत हो रहा था राष्ट्र दूसरी तरफ चल रहे थे मुस्लिम लींग हिन्दूमहासभा तथा कांग्रेस के परस्पर आन्तरिक संघर्ष। एक तरफ है नेतृत्व की एक के बाद एक समझौता वार्तायें, दूसरी तरफ, शुरू से ही था जनान्दोलनों दबाव। आज़ादी तो मिली किन्तु विभाजन हुआ। स्वतन्त्रता तो मिली पर गुलामी नहीं गई।

राष्ट्रीय आन्दोलन अपने आप में दक्षिणपंथ एवं वामपंथ का मिलाजुला स्वरूप था। दक्षिणपंथ अपनी कार्यवाइयों में अधिक स्पष्ट था। वामपंथी आन्दोलन अपने शैशवकाल में था। वह तत्कालीन समाज की विसंगतियों को नहीं पहचान पाया न ही भारतीय समाज एवं राष्ट्रीय आन्दोलन के मुख्य अन्तर्विरोधों को चिन्हित पाया। उसके पास भारतीय क्रांति का कोई मुकम्मल कार्यक्रम भी नहीं था। इस तरह वह भारतीय जनता का नेतृत्व करने के लिये अभी तैयार नहीं था। वह उसकी सीमा भी थी। फिर भी इसने जनता के विभिन्न तबको को संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

राष्ट्रीय आन्दोलन के भीतर वामपंथ और दक्षिणपंथ के बीच एक बड़े मुकाबले के लिये अखाड़ा तैयार हो गया था– विशेष रूप से 1935 के बाद से जब

ब्रिटिश सरकार द्वारा लादी गई एक नई संवैधानिक साधन संरचना ने नये अवसरों और फंदों के रूप में एक नई कसौटी प्रदान कर दी।[49] श्रमिक एवं किसान संगठन एवं रजवाड़ों में होने वाले आन्दोलन ऐसे मुद्दे थे जिन्हें लेकर कांग्रेस के भीतर मोटे तौर पर एक वामपंथी विकल्प बना, जो कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों के लिये और हाई कमान के अधिकांश सदस्यों के बढ़ते हुए रूढ़िवादी, रवैये के रूप में उभरा। इस काल में वामपंथ के अन्तर्गत आते थे समाजवादी, एम.एम. राय के अनुयायी और गैरकानूनी सी.पी.आई. जो कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की आड़ में काम करती थीं जिसने इसको अत्यन्त प्रभावशाली जन नेता दिये। (केरल में कृष्ण पिल्लई नम्बूदरीपाद और गोपालन, तमिलनाडु में जीवानन्दन, आंध्र में सुन्दरैया और पंजाब में सोहन सिंह जोश) इन लोगों को इस अवधि के दो कांग्रेसाध्क्षों (नेहरू और बोस) का समर्थन प्राप्त था जो अनिश्चित और बड़ी सीमा तक मौखिक होने पर भी मूल्यवान माना जाता था। कुछ भीतरी तनाव भी थे, विशेषरूप से जयप्रकाश नरायण, मीनू मसानी और एन.जी.रंगा आकारहीन कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में निष्ठावान एवं अनुशासित कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं की तेजी से होने वाली घुसपैठ के प्रति अधिकाधिक सशंकित होते जा रहे थे। यह आशंका निर्मूल भी नहीं थी क्योंकि 1939–40 में सी.पी.आई इस पार्टी की समूची केरल इकाई और तमिलनाडु एवं आंध्र के इसके अधिकांश सदस्यों को अपने साथ ले गई। फिर भी, 1939 और कुछ अर्थो में 1942 तक मोटे–तौर पर एकता बनाई रखी गई। वामपंथ के सभी घटक इस बात पर सहमत थे कि कांग्रेस के भीतर बने रहने का औचित्य है।[50]

इस तरह हम देखते हैं कि स्वयं राष्ट्रीय आन्दोलन में अन्तर्संघर्ष की अनेकों परतें हैं और इन संघर्षो के अपने–अपने असंख्य अन्तर्विरोध है। भारत में ब्रिटिश शासन के अन्तिम दो वर्षों के दौरान घटित घटनाओं के ताने बाने से दो मूलसूत्र निकलते हैं: ब्रिटिश, कांग्रेसी एवं लीगी नेताओं के बीच अत्यन्त धीमी गति से चलने वाली बातचीत जिसके साथ सामुदायिक हिंसा बढ़ती ही गई और जिसकी चरम परिणति हुयी उस स्वाधीनता में जिसके साथ दुःखद विभाजन भी जुड़ा और छिटपुट,

स्थानीय किन्तु प्रायः अत्यन्त संघर्षपूर्ण एवं एकजुट गतिविधियां आजाद हिन्द फौज के बन्दियों की रिहाई का आन्दोलन ओर 1945–46 में नौसैनिक विद्रोह, बंगाल का तेभागा विद्रोह, त्रावणकोर में पुन्नप्रा–वायलार और हैदराबाद में तेलंगाना के किसानों का सशस्त्र विद्रोह। जन आन्दोलनों ने भारत में ब्रिटिश राज का चलते रहना असम्भव कर दिया था। जन आन्दोलनों में होने वाली ज्यादतियों के भय ने कांग्रेसी नेताओं को बातचीत और समझौता की नीति पर ही चिपके रहने और अन्ततः स्वतन्त्रता की अनिवार्य कीमत के रूप में विभाजन को भी स्वीकार करने के लिये बाध्य कर दिया। इन साम्राज्यवादी जन आन्दोलनों की सीमाओं के कारण ही अगस्त 1947 में विभाजित भारत का समझौता सम्भव हुआ।[51]

II

राष्ट्रवाद व राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रश्न इतिहास–लेखन का प्रश्न भी है। विभिन्न इतिहासकारों ने विभिन्न तरीके से राष्ट्रवाद एवं राष्ट्रीय आन्दोलन की व्याख्या की है। राष्ट्रीय आन्दोलन पर अब तक हुए इतिहासलेखन पर नज़र डालें तो हमें राष्ट्रवाद के इतने ढेरसारे चेहरे बनते बिगड़ते नज़र आते हैं कि राष्ट्रवाद तथा राष्ट्रीय आन्दोलन का कोई मुकम्मिल चेहरा तलाश कर पाना नितांत मुश्किल हो जाता है। राष्ट्रवाद कोई दिया हुआ संवर्ग (category) नहीं है जैसा कि राष्ट्रवादी इतिहासकार हमें विश्वास दिलाना चाहते हैं। राष्ट्रवाद के अध्ययन के लिये पश्चिम से लिये गये सैद्धान्तिक माडलों पर इसे साम्राज्यवाद के विरोध में समीकृत करना ही पर्याप्त नहीं है वस्तुतः भारतीय राष्ट्रवाद का उद्भव परस्पर प्रतिद्वन्द्वी विभिन्न दृष्टिकोणों में हुआ जिसके अन्तर्गत एक पूरी लड़ी संघर्ष एवं जोड़–तोड़ की शामिल थी जिनका विकास एक निश्चित विकास के दौरान हुआ।[52] आज हम आज़ादी के पचास वर्षोपरांत जिस जगह पर खड़े हैं वहां से यह विषय नया सा प्रतीत होता है। इसका कारण कुछ तो यह है कि अब अभिलेखात्मक सामग्री एवं निजी पत्रों के साथ ही स्थानीय स्रोतों का प्रयोग भी अधिक किया जाने लगा है। स्थानीय स्रोत फील्ड अध्ययनों के माध्यम से प्रकाश में आये हैं।[53] पिछले पचास वर्षों में न केवल राष्ट्रीय आन्दोलन पर हुए साहित्य

का भण्डार विपुल हुआ है वरन् टेक्नॉलाजी के विकास के साथ ही इतिहास लेखन की प्रणाली भी परिवर्तित हो रही है। अभिलेखागारों की फाइलों में कैद दस्तावेजों पेन एवं कागज के अतिरिक्त इतिहासलेखन के औजारों में टेपरिकार्डर, माइक्रोफोन, इयरफोन एवं वीडियो कैमरा आदि भी शामिल हो गये हैं। हमारा देश 'वीडियो हिस्ट्री' के क्षेत्र में भले ही अभी पदार्पण नहीं कर पाया है परन्तु मौखिक इतिहास के क्षेत्र में उनके कदम रखे जा चुके हैं। अब इतिहासकार फील्ड अध्ययनों एवं साक्षात्कारों के महत्त्व के प्रति अधिकाधिक जागरूक होते जा रहे है।[54] इतिहास लेखन में मौखिक स्रोतों के प्रयोग बढ़ने से इतिहास का 'फोकस' उपादेयता एवं व्याख्या परिवर्तित हो गई है।

"इतिहास किसी राष्ट्र की आत्मचेतना होता है।[55] घट चुकी सभी घटनायें या इतिहास हमारी चेतना का उत्पाद होता है क्योंकि वह हमारी अपनी व्याख्याओं एवं निर्मितियों से जन्म लेता है।[56] किसी भी व्यक्ति की चेतना (इतिहासकार की भी) उसकी आर्थिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों से तय होती हैं। अतः राष्ट्रीय आन्दोलन पर हुए असंख्य साहित्य में से उसका एक सर्वमान्य चरित्र रेखांकित करना लगभग नामुमकिन है। जैसा कि सुमित सरकार स्वयं लिखते हैं– "भारत में ब्रिटिशकाल के अन्तिम साठ वर्षो के इतिहास लिखने का विचार विशेषरूप से राष्ट्रीय आन्दोलन पर हाल में हुए विस्तृत अध्ययनों की भरमार देखते हुए यह पहले से अधिक उत्तेजक है और कठिन थी।"[57] अपना पक्ष स्पष्ट करते हुए सुमित सरकार आगे कहते हैं–"कोई भी इतिहासकार पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं होता और अनकहा और अनायास आ जाने वाला पूर्वाग्रह तो सबसे खतरनाक होता है। अतः उचित यही होगा कि मैं खुलकर अपनी पूर्व मान्यताओं को यहीं स्पष्ट कर दूँ। पहली बात भारतीय इतिहास के जिस कालखण्ड को मैने अध्ययन के लिये चुना है उनके केन्द्रीय तत्व मेरी दृष्टि में औपनिवेशिक शोषण एवं उसके विरूद्ध किया जाने वाला संघर्ष है। साथ ही मेरी यह भी धारणा है कि तत्कालीन समाज में जो अनेक आन्तरिक तनाव विद्यमान थे उनकी अनदेखी करना अनुचित और भ्रामक होगा, जैसा कि राष्ट्रवादी इतिहासलेखन में प्रायः दिखाई देता हैं। तीसरे, जहां गुटबन्दी, झगड़ों का हमारी कथा में एक स्थान है व नहीं

प्रछन्न वर्ग तनाव ही अधिक निर्णायक सिद्ध हुए हैं। फिर भी, वर्ग एवं वर्ग चेतना ऐसे विश्लेषणात्मक उपकरण हैं जिनका प्रयोग अभी तक के दृष्टान्तों की अपेक्षा अधिक सावधानी एवं लचीलेपन के साथ किया जाना चाहिये। अन्त में, और अधिक महत्वपूर्ण है कि पारम्परिक, राष्ट्रवादी, साम्राज्यवादी, केम्ब्रिज बल्कि यहां तक कि कुछ मार्क्सवादी इतिहासकारों के विरूद्ध भी मेरी मूल आपत्ति यह है कि स्पष्टतः एक दूसरे के विरोधी होने पर भी इन सब में एक प्रवृत्ति सामान्य है– ये सब एक सामान्य अभिजातवादी और साथ ही कुछ अधिक लोकवादी (populist) दोनो ही स्तरों पर हुआ है और किसी भी इतिहासकार को इसके लोकवादी पहलू की केवल इसी कारण उपेक्षा नहीं करनी चाहिये कि अभिजातवादी पहलू का अध्ययन अधिक आसान है। इन दोनों स्तरों की जटिल अन्तः क्रिया के माध्यम से ही अन्ततः परिवर्तन के सातत्य का प्रतिमान उभर कर सामने आया जिसे मैं इस कालखण्ड (1885–1947) का एक प्रमुख तत्व मानता हूं।"[58]

इस तरह इतिहासलेखन इतिहासकार के पूर्वाग्रहों से पूरी तरह कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। अतः भारतीय राष्ट्रवाद के उदय एवं राष्ट्रीय आन्दोलन के चरित्र का मूल्यांकन हम बहुत वस्तुनिष्ठ होकर भी करें तो भी विचारों में विभिन्नता बहुत स्वाभाविक है। उपाश्रयी (सबल्टर्न) धारा आने से पूर्व आधुनिक भारतीय इतिहासलेखन में तीन बुनियादी दृष्टिकोण उभर कर सामने आये हैं। ये हैं– साम्राज्यवादी या नव साम्राज्यवादी, राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी।[59] आज़ादी के पहले से ही ब्रिटिश एवं भारतीय इतिहासकारों ने राष्ट्रवाद की अपनी तस्वीर प्रस्तुत करनी शुरू की। राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान ही जो इतिहास लेखन की परम्परा थी उसमें दो प्रवृत्तियां थी एक तरफ साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के लेखक भारतीय समाज के भीतर जारी विभाजन, गांधीवादी कांग्रेस के सीमित एवं तेजी से घटते बढ़ते प्रभाव, मुसलमानों के अलग होने एवं देश के विभाजन पर अधिक बल देते थे।[60] भारतीय इतिहास में यह दृष्टिकोण सबसे पहले लार्ड डफरिन, कर्जन और मिण्टो जैसे वायसरायों और भारत सचिव जार्ज हैमिल्टन की राजकीय घोषणाओं में हमारे सामने आते हैं। वी चिरोल, रौलट ऐक्ट

समिति की रिपोर्ट, बर्नी लोबेट और माण्टेग्यू चेम्र्स फोर्ड ने इसको अधिक तर्क संगत बनाकर पेश किया है।[61] रूढ़िवादी औपनिवेशिक प्रशासक और केम्ब्रिज सम्प्रदाय के नाम से विख्यात इतिहासकारों का साम्राज्यवादी खेमा भारत में आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना के रूप में उपनिवेशवाद के अस्तित्व को नकारता है। उनके लिये उपनिवेशवाद मुख्यतः विदेशी शासन से अधिक कुछ नहीं है। वे या तो इस बात को समझते नहीं या इसका पुरज़ोर खण्डन करते हैं कि भारत के आर्थिक समाजिक सांस्कृतिक और राजनीतिक विकास के लिये उपनिवेशवादी शासन को उखाड़ फेंकना ज़रूरी था। इस प्रकार उनके द्वारा किया गया राष्ट्रीय आन्दोलन का विश्लेषण भारतीय जनता और उपनिवेशवाद के आपसी हितों के आधारभूत अन्तर्विरोधों के अस्वीकरण पर टिका है।[62] वैलेन्टाइन चिरोल पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद का नवपारम्परिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया। शिरोल ने दावा किया कि भारत एक भौगोलिक अभिव्यक्ति मात्र है जो कभी भी पश्चिमी अर्थों में राष्ट्र नहीं हो सकता और जो कुछ भी छद्म राष्ट्रीय रंग जैसा आंदोलन दिख रहा है, उसकी जड़ें गहराई से परम्पराओं में है।[63] इस तरह साम्राज्यवादी इतिहासकार यह नहीं मानते कि भारत राष्ट्र बनने की प्रक्रिया में था। उनका मानना है कि जिसे भारत कहा जाता है वास्तव में वह धर्मो, जातियों, समुदायों और अलग–अलग हितों का समुच्चय भर था। इस तरह भारतीय राज्य व्यवस्थाओं के वर्गीकरण को ये इतिहासकार "भारतीय राष्ट्र" अथवा "भारतीय जाति" या सामाजिक वर्गो की अवधारणाओं के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनका मानना है कि इन कोटियों की जगह यहां पहले से लोगों की पहचान हिन्दू–मुसलमान,ब्राह्मण आर्य भद्रलोक (सुसंस्कृत जन) और इसी प्रभाव में इनके समूहों के रूप में की जाती थी। उनका कहना है कि जाति एवं धर्म के आधार पर सदियों से चले आ रहे ये समूह राजनीतिक संगठन के मुख्य आधार थे। इसलिये जाति और धर्म पर आधारित राजनीति ही यहां मुख्य है। राष्ट्रवाद तो इसका ऊपरी आवरण मात्र है।[64] इसी क्रम में एक धारा आधुनिक युग तक चली आती है-- केम्ब्रिज स्कूल के रूप में। यह धारा के मुख्यतः नेमियरवाद पर आधारित है। सर लुई नेमियर ने एक ऐसे

इतिहास विज्ञान की शुरूआत की जो अट्ठारहवीं शताब्दी की इंग्लैण्ड की संसदीय राजनीति के लिये अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होती थी। उन्होंने सार्वजनिक जीवन में लोकप्रिय छवि रखने वाले व्यक्तियों की उद्घोषणाओं को उनके व्यक्तिगंत प्रपत्रों में व्यक्त उनके आतंरिक विचारों तथा उनके व्यक्तिगत हितों के साथ मिलाकर देखा। इस स्कूल ने प्रमुख व्याख्याकार स्वर्गीय जैक गैलगर के नेतृत्व में अपना विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है। अनिलसील की पुस्तक 'इमरजेन्स ऑफ इन्डियन नेशनलिज़्म' कदाचित् इस धारा की आज की तिथि तक सर्वोत्तम तथा सर्वाधिक प्रतिनिधिक देन है।

सील के अनुसार ब्रिटिश राज और कांग्रेस के बीच जो बहुत से संघर्ष हुए वे महज दांवपेच ही थे दो बेजान मूर्तियों के बीच दशहरे का सा द्वन्द्व युद्ध था जो वस्तुतः गतिहीन और छद्म था। इस क्रम में सील अनेक मान्यतायें बनाते हैं जिन्हें वे अपुष्ट ही छोड़ देते हैं। पहली मान्यता तो यह है कि ब्रिटेन द्वारा भारत का कोई शोषण नहीं हुआ। वे यह वक्तव्य देते हैं कि 'भारत के ब्रिटेन की प्रतिबद्धता बहुत भारी थी तथा अलाभदायक थी।' कदाचित भारत ही ब्रिटेन का शोषण कर रहा हो। अतः ब्रिटिश शासन के आर्थिक प्रभावों की समूची राष्ट्रवादी समीक्षा उस दंभी अभिजातवर्ग द्वारा एक निरर्थक कार्यवाही मानी जानी चाहिये जो समूची जाति की आवाज बनने का दंभ पाले हुए था। सील की दूसरी मान्यता है कि वे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को केवल कांग्रेस तक सीमित कर देते हैं अत्यन्त सरलीकृत ढंग से तथा औपचारिक रूप से कांग्रेस का अध्ययन उन्होंने महज एक संगठन के रूप में किया है। जहां एक ओर व्यक्तिगत रूप से राष्ट्रवादी नेताओं के जाति और समुदायगत सूत्रों की तलाश की गई है वहीं अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों के विरूद्ध दिये उनके तर्कों तथा लेखों पर विचार नहीं किया गया है चूंकि वे कांग्रेस की औपचारिक कार्यवाहियों का हिस्सा नहीं थे। यहां तक कि अंग्रेजों द्वारा थोपे गये 'मुक्तव्यापार' (फ्रीटेड) के विरूद्ध सन् 1878 से किये जाने वाले उस संघर्ष के प्रति भी चुप्पी साध ली गई है जिसकी प्रेरणा शुद्ध रूप से पूंजीवादी है।[65]

दूसरी तरफ इसके विरोध में जन्मा राष्ट्रवादी इतिहास लेखन। राष्ट्रवादी इतिहासकारों की दृष्टि में राष्ट्रीय आन्दोलन में जनता की भागीदारी बहुत प्रभावपूर्ण एवं स्वाभाविक थी, क्योंकि सभी भारतीयों के हित सदैव विदेशी सत्ता के विरोधी ही थे, केवल एक चमत्कारी नेता की कमी थी।[66]

उपनिवेशवादी युग में लालालाजपत राय, ए.स. मजुमदार, आर.जी. प्रधान, पट्टाभि सीता रमैय्या, सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी, सी. एफ. एण्ड्रूज और गिरिजा मुकर्जी जैसे सक्रिय राजनीति से जुड़े लोग इसके प्रतिनिधि थे। बी.आर. नन्दा विशेश्वर प्रसाद और अमलेश त्रिपाठी ने इसके बाद इस दृष्टिकोण से इतिहासलेखन में काफी योगदान किया है।[67] जिसकी धारा बी.बी. मिश्रा, के.एन. पनिक्कर से होती हुयी रविन्दर कुमार तक पहुंचती है। बी.बी. मिश्रा के मतानुसार ब्रिटिश शासन काल के दौरान उग्र परिवर्तन शिक्षा के विकास की प्रक्रिया एवं टेक्नॉलाजी के उन्नत होने के कारण मध्यवर्ग का विकास हुआ जिसने आगे चलकर एकता दिखाई।

एक अन्य गैर मार्क्सवादी इतिहासकार के एन पन्निक्कर ने 'नये मध्यवर्ग' की केन्द्रीय भूमिका बताई। परन्तु इसके उदय के पीछे किसी निर्णायक आर्थिक परिवर्तन के बजाय उन्होंने उद्धृत किया कि भारतीय समाज की सत्ता एवं प्रभाव में परिवर्तन ब्रिटिश राज के प्रशासनिक एवं राजनीतिक प्रभाव के परिणाम स्वरूप आया। पनिक्कर 'वर्ग' शब्द का प्रयोग बहुत करीब से करते हैं। कभी–कभी इसका प्रयोग जाति के प्रभाव के रूप में करते हैं।[68] आधुनिक सामाजिक इतिहासकार रविन्दर कुमार कहते हैं कि "हम यह मानकर चल रहे हैं कि सामाजिक संरचना तथा राजनीतिक प्रक्रिया परस्पर अन्तर्सम्बद्ध होती हैं। यद्यपि यह मान्यता भी है कि यहां के समाज की संरचना के सन्दर्भ में और अंग्रेजी शासन के फलस्वरूप उसमें आये परिवर्तनों को ध्यान में रखकर हम उस पर विचार करें। परन्तु इस विवेचन के आरम्भ करने से पूर्व यह स्पष्ट कर देना लाभदायक होगा कि राष्ट्रवाद से हमारा आशय क्या है। इस आशय के स्पष्ट न होने पर भारत में राष्ट्रवाद के अध्ययन में अक्सर भ्रम पैदा हो जाते हैं। स्पष्ट है यहां हम राष्ट्रवाद की जिस किस्म पर विचार करने जा रहे हैं उसका उदय

सर्वप्रथम 18वीं सदी के पूर्वार्द्ध में यूरोप में हुआ। दूसरी बात यह है कि इस किस्म के राष्ट्रवाद का उद्देश्य समरस समाजों को अलग–अलग सभाओं में संगठित करना था, जिसमें जनता की भागीदारी आवश्यक थी। दूसरे शब्दों में कहें तो इस राष्ट्रवाद से अनुप्रेरित समाज स्वयं को स्वतन्त्र राज्यों में गठित करते हैं, जिसके पीछे उनका यह विश्वास काम करता है कि इस तरह से राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र संगठन कायम करने से उनकी भौतिक और सांस्कृतिक सृजनात्मकता का मार्ग प्रशस्त होगा। किसी भी राष्ट्रवादी आन्दोलन में नैतिक तथा भौतिक उद्देश्यों के बीच अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है और यह बताना असंम्भव होता है कि कहां से एक की समाप्ति और दूसरे की शुरूआत होती है।

राष्ट्रवाद की इस परिभाषा को भारत पर लागू करते हैं तो हम बहुत विषम स्थिति में पड़ जाते हैं। उदाहरण के लिये स्पष्ट है कि जो सांस्कृतिक समरसता या नस्ली एकता यूरोप के राष्ट्रवादी आन्दोलनों का मुख्य आधार थी, उसका भारत में सर्वथा अभाव था। यह भी स्पष्ट है कि भारतीय समाज की रचना और राजनीतिक बुनावट उन यूरोपीय समाजों से भिन्न थी जिन्हें 19 वीं सदी में राष्ट्रवादी उथलपुथल से गुजरना पड़ा।[69] उपनिवेशकालीन आधुनिकता के प्रभाव के तहत हमारी व्यापक निष्ठायें विकसित होने लगीं। भारतीय राष्ट्र की एक सशक्त चेतना बनी किन्तु साथ ही परिष्कृत रूप से एक संगठित हिन्दू समुदाय की अवधारणा (ब्रह्म समाज, आर्य समाज) भी विकसित हुयी तथा एकता बद्ध मुस्लिम समुदाय (वहाबी, अखिल इस्लामवाद) की धारणा विकसित हुयी।[70]

जहां पर सम्राज्यवादी इतिहासकार राष्ट्रवाद की जड़ें भारतीय परम्पराओं एव राष्ट्रवादी इतिहासकार भौतिक नैतिक बिन्दुओं में तलाश रहे थे वहीं एन.एन. राय, रजनी पामदत्त एवं ए.आर. देसाई जैसे लोगों ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को मार्क्सवादी ढांचे में फिट करने का प्रयास किया।[71] मार्क्स की दृष्टि में इतिहास समाजों के निरंतर विकास की प्रक्रिया में निहित होता है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में प्रमुख भूमिका भौतिक परिस्थितियों की होती है। जिन्हें उन्होंने उत्पादन के सम्बन्धों के नाम

से भी पुकारा है। इन्ही के आधार पर वैधानिक तथा राजनैतिक संस्थाओं का ढांचा खड़ा होता है। ये बौद्धिक जीवन की दिशा भी तय करते है क्योंकि मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती अपितु मनुष्य का अस्तित्व उसकी चेतना का निर्धारण करता हैं। ज्योंही अतिरिक्त उत्पादन शुरू हुआ, समाज वर्गों में विभक्त हुए और इसलिये वर्ग संघर्ष इतिहास का सार तत्व बना। मार्क्स ने सामाजिक संरचनाओं में एक क्रमबद्धता देखी। जैसे–जैसे विकसित आर्थिक सम्बन्धों और वैधानिक राजनैतिक ढांचे के बीच अन्तर्विरोध बढ़ते हैं, प्रत्येक सामाजिक संरचना अपनी पूर्ववर्ती संरचना को अपदस्थ करके उसका स्थान ग्रहण करती है। यही अन्तर्विरोध (जो इतिहास के मूल में निहित है) सामाजिक क्रांतियों को जन्म देते हैं।[72]

मार्क्सवादी इतिहासकारों ने राष्ट्रवाद के पनपने के पीछे आर्थिक शक्तियों को कारण बताया। पहले तो इन आर्थिक परिवर्तनों का सामाजिक प्रभाव सीमित था परन्तु कुछ ने पूंजीवाद के विकास की गति को तेज़ किया और भारतीय राजनीति के पूरे के पूरे चरित्र को परिवर्तित कर दिया और साम्राज्यवाद के खिलाफ नये वर्गों को शामिल किया। जबकि नव पारम्परिक इतिहासकार इस बात से इंकार करते रहे कि साम्राज्यवादी शासन ने कोई आर्थिक परिवर्तन किया।[73] मार्क्सवादी इतिहासकार रजनी पामदत्त 'आज का भारत' में लिखते हैं– "भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन यहां की सामाजिक परिस्थितियों और उसकी शोषण प्रणाली से पैदा हुआ है। वह उन सामाजिक तथा आर्थिक शक्तियों से पैदा हुआ है जो इस शोषण के कारण भारतीय समाज में उत्पन्न हो गई हैं। उसके पैदा होने का कारण यह है कि भारत में पूंजीपति वर्ग का उदय हो चुका है।"[74]

आर.पी. दत्त का मानना है कि 19वीं शताब्दी के द्वितीयार्द्ध में आधुनिक उद्योगों का विकास बूर्जुआज़ी के साथ वकील, प्रशासक, अध्यापक, पत्रकार जैसे शिक्षित मध्यवर्ग के उदय का कारण था। ए.आर. देसाई ने लिखा कि आधुनिक उद्योगों के विकास के साथ आधुनिक बूर्जुआज़ी और कामगार वर्ग अन्य व्यवसायी वर्गो सहित अस्तित्व में आया। इसमें से उपजे बुद्धिजीवी तबके ने राष्ट्रीय आन्दोलन को हर चरण

में नेतृत्व प्रदान किया। एम.एम. गोल्डबर्ग नामक एक प्रमुख सोवियत भारतीय विशेषज्ञ ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के भीतर माडरेट एवं अतिवादी आन्दोलनों के वर्गाधार में विभिन्नता प्रस्तुत की है। उसके अनुसार भारतीय पूंजीपति वर्ग कमज़ोर था और विदेशी आर्थिक हितों से बंधा था। वह आरम्भिक कांग्रेसी माडरेट नेताओं की मांगों को पूरा करने में अक्षम था लेकिन निम्न बूर्जुआज़ी जो अतिवादी आन्दोलनों के वर्गाधार में विभिन्नता प्रस्तुत की है उसके अनुसार भारतीय पूंजीपति वर्ग कमज़ोर था और विदेशी आर्थिक हितों से बंधा था। वह आरम्भिक कांग्रेसी माडरेट नेताओं की मांगों को पूरा करने में अक्षम था लेकिन निम्न बूर्जुआज़ी जो अतिवादी आन्दोलन के पीछे थी, ज्यादा स्पष्टवादी थी। वी.आई. पाव्लोक के अनुसार भारतीय बूर्जुआज़ी का विकास सर्वप्रथम बम्बई में हुआ।

कालान्तर में कुछ मार्क्सवादी और कुछ गैर मार्क्सवादी इतिहासकारों ने सोवियत 'इंण्डोलौजिस्ट' द्वारा अतिवादी आन्दोलनों ने वर्गाधार के विश्लेषण में संदेह प्रस्तुत किया। गैर मार्क्सवादी इतिहासकार अमलेश त्रिपाठी का कहना है कि "रूसी लेखकों द्वारा धार्मिक एवं वैचारिक तत्वों को 'सुपर स्ट्रक्चर' कह कर नकार देना ग़लत है।" इसी बिन्दु पर मार्क्सवादी इतिहासकार पुनः आर्थिक निर्णय पर टिके रहते हैं। उनके अनुसार भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन औपनिवेशिक आधिपत्य की गल्तियों के कारण संकीर्ण एवं विभागीय हितों से कुछ ऊपर उठा और विचारधारात्मक भूमि पर अहसास के साथ जुड़ा।[75]

मार्क्सवादी परम्परा के अन्तर्गत रहकर विपिन चन्द्र यह मानते हैं यह सभी वर्गों का मिलाजुला आन्दोलन था। विपिन चन्द्र कहते हैं "हमारे विचार से भारत का मुक्ति संग्राम मूलतः भारतीय जनता और ब्रिटिश उपनिवेशवाद के हितों के बीच आधारभूत अन्तर्विरोधों का नतीजा था। एकदम शुरू से ही राष्ट्रीय नेताओं ने इन अन्तर्विरोधों को समझा था। इस बात को समझने की उनमें क्षमता थी कि भारत अल्प विकास की प्रक्रिया से गुजर रहा है। समय रहते उन्होंने उपनिवेशवाद की वैज्ञानिक विश्लेषण की पद्वति का विकास किया। उन्नीसवीं शताब्दी के सचमुच वे पहले लोग

थे जिन्होंने उपनिवेशवाद की आर्थिक समीक्षा का विकास कर इसकी जटिल संरचना का रहस्य लोगों के सामने रखा। वे उपनिवेशवादी नीति और उपनिवेशवादी ढांचे की अनिवार्यताओं के अन्तर को भी समझने में सक्षम थे। औपनिवेशिक प्रजा के रूप में भारतीय जनता का अनुभव लेकर और उपनिवेशवाद के विरूद्ध भारतीय जनता के सामान्य हितों को पहचान कर राष्ट्रीय नेताओं ने क्रमशः एक सुस्पष्ट उपनिवेशवाद विरोधी विचारधारा विकसित की जिसको उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन का आधार बनाया। आन्दोलन को व्यापक जनाधार प्रदान करने वाले चरण में उपनिवेशवाद विरोधी इस विचारधारा और उपनिवेशवाद की आलोचना को प्रचारित किया गया।

ऐतिहासिक प्रक्रिया में भी राष्ट्रीय आन्दोलन की केन्द्रीय भूमिका थी जिसके माध्यम से भारतीय जनता ने अपने को राष्ट्र के रूप में संगठित किया। दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी और तिलक से लेकर गांधी जी और जवाहरलाल नेहरू तक राष्ट्रीय नेताओं ने स्वीकार किया कि भारत पूरी तरह सुसंगठित राष्ट्र नहीं है यह ऐसा राष्ट्र है जो बनने की प्रक्रिया में है और उन लोगों ने यह माना कि आन्दोलन का एक प्रमुख उद्देश्य और कार्य उपनिवेशवाद विरोधी आम संघर्ष के जरिये भारतीय जनता की बढ़ती हुयी एकता को आगे ले जाना था। दूसरे शब्दों में कहें तो राष्ट्रीय आन्दोलन उभरते हुए राष्ट्र की प्रक्रिया का परिणाम और उस प्रक्रिया का सक्रिय कारक दोनो ही था। भारत की क्षेत्रीय, भाषाई प्रजातीय पहचान कभी भी इसके राष्ट्र बनने की प्रक्रिया के विरोध में नहीं खड़ी हुयी। इसके विपरीत राष्ट्रीय अस्मिता के उत्थान के साथ ही ये अन्य छोटी अस्मितायें भी उभरी और इन दोनो से एक दूसरे को शक्ति प्राप्त हुई।"[76]

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के विचारधारात्मक भूमि पर अहसास से जुड़ने की बात कहते हुए विपिन चन्द्र प्रतिक्रिया देते हैं भारतीय बुद्धिजीवियों द्वारा विचारधारा को सूत्र बद्ध करना भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका है। यद्यपि वह कुछ महत्व भारतीय पूंजीपति वर्ग के विकास को भी देते हैं। उनके अनुसार समस्या का सम्बंन्ध साम्राज्यवाद की असली प्रकृति के साथ है जिसके भारतीय जन

के सभी वर्गों के साथ अन्तर्विरोध थे। उनके अनुसार बुद्धिजीवियों द्वारा इस समस्या के अहसास ने ही उनकी साम्राज्यवादी विचारधारा को रूप दिया, जो भारत के सभी वर्गों के सामन्य हितों का प्रतिनिधित्व करता था और जिसने भारतीय राष्ट्रवाद को जन्म दिया।[77]

पहले लिखे गये अति आर्थिक नियतिवादी लेखन से परहेज करते हुए वह तर्क देते हैं कि आरम्भिक राष्ट्रीय विचारक मध्यवर्गीय नहीं थे, बल्कि वह सम्पूर्ण रूप से औपनिवेशिक शोषण के ख़िलाफ राष्ट्र के बौद्धिक प्रतिनिधि थे। उनकी बाह्य दृष्टि पूंजीवादी थी क्योंकि उनका विश्वास था कि यही भारत के विकास का 'जेनुइन' रास्ता है न कि इसलिये कि वे भारतीय पूंजीपति वर्ग के थे। विपिन चन्द्र के अनुसार प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व वाणिज्य एवं उद्योग से उन्हें कोई समर्थन नहीं मिला था।[78] इस बात से इंकार करते हुए कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन अपने मूलचरित्र में बूर्जुआ था विपिन चन्द्र का मानना है कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन जन आन्दोलन था जिसमें अनेक वर्ग शामिल थे। यह पूंजीपति वर्ग के नियंत्रण अथवा नेतृत्व में चलाया जाने वाला आन्दोलन नहीं था और न ही पूंजीपति वर्ग का इस पर अकेला प्रभाव था लेकिन इसका स्वरूप बहुवर्गीय, लोकप्रिय और मुक्त था जिसका अर्थ था कि यह समाजवादी विचारों के वैकल्पिक राजनीतिक नेतृत्व के लिये भी खुला था।[79]

इस तरह भारतीय राष्ट्रवाद एवं राष्ट्रीय आन्दोलन तीन बुनियादी दृष्टिकोणों के बीच चेहरा तलाश कर ही रहा था कि सन् 1982 से [80] इतिहासलेखन में एक नया सम्प्रदाय सामने आया है जिसे प्रचलित शब्दावली में 'उपाश्रयवादी' (subaltern) सम्प्रदाय कहा जाता हैं। इसने पहले के समस्त राष्ट्रवादी इतिहासलेखन को 'अभिजनवादी' इतिहासलेखन कहकर रद्द कर दिया गया है। उपाश्रयी इतिहास की धारा से प्रोफसर रणजीत गुहा तथा उनके समानधर्मा नवयुवक इतिहासकार जुड़े हैं। इन्होंने रणजीत गुहा द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'सबाल्टर्न स्टडीज' में योगदान दिया है। ये इतिहासकार इस बात पर बल देते हैं कि किसान मजदूरों 'उपाश्रित वर्गों' (सबाल्टन क्लासेज़) के पास प्रतिरोध की स्वतः स्फूर्त, परम्परागत तथा सामान्यतः अधिक उग्र

शैलियां थी तथा ये शैलियां राष्ट्रवादी नेतृत्व से पृथक् स्वतन्त्र रूप से विकसित हुयी। राष्ट्रवादी नेतृत्व ने उन्हें दबाये रखने का प्रयास किया अथवा नेतृत्व के उपयोग के लिये उनकी दिशा परिवर्तन करने का प्रयास किया। इस विषय में उनका दावा यह है कि इतिहास विज्ञान की एक नई पद्धति विकसित की जा रही है।

रणजीत गुहा ने अपनी पुस्तक 'सबाल्टर्न स्टडीज' के प्रथम भाग के प्रारम्भ में अनेक अभिधारणाओं (थीसिस) के रूप में यह दावा किया है। गुहा ने अपने नए इतिहास विज्ञान को राष्ट्रीय आन्दोलन के सन्दर्भ में मौजूद व्याख्याओं के प्रतिपक्ष में प्रस्तुत किया है– जिन्हें वे 'उपनिवेशवादी अभिजात्यवाद' (colonial eliticism) अर्थात् साम्राज्यवादी तथा 'बूर्जुआ' 'राष्ट्रवादी अभिजात्यवाद' (राष्ट्रवाद) के रूप में वर्गीकृत करते हैं। गुहा यह तथ्य स्वीकार करते हैं कि राष्ट्रवादी इतिहास विज्ञान के एक से अधिक रूप है। वे इस प्रकार के दो रूपों का जिक्र करते हैं जिन्हें हम किंचित मोटेरूप में 'संविधानवादी' तथा आदर्शवादी रूप कहते हैं। लेकिन पता नहीं क्यों वे मार्क्सवादी इतिहास लेखन की पूर्णतः उपेक्षा करते हैं और कुछ इस तरह बात करते है मानो राष्ट्रवादी खेमे में मार्क्सवादी स्कूल का कोई अस्तित्व ही न हो। जबकि मार्क्सवादी इतिहासकार आर.पी. दत्त उन बिन्दुओं पर संकेत करते हैं जिनकी पक्षधरता उपाश्रयी इतिहासकार करते हैं। परन्तु जो फर्क दिखाई देता है वह यह है कि गुहा से भिन्न दत्त ने 'अभिजात' शब्द का प्रयोग अपने व्यापक अर्थ में उन व्यक्तियों के लिये नहीं किया जो मध्यवर्ग तथा ज़मीन्दारों के उच्च अथवा अधिक उच्च वर्गों के सदस्य होने के नाते स्वयं किसान अथवा मजदूर नहीं थे। किन्तु 'क्रांतिकारी आतंकवादियों' को क्या कहेंगे? उनमें तथा कांग्रेसी नेताओं में वर्गीय भेद बहुत कम हैं। क्या उन्हें 'अभिजात' माना जाएगा या उपाश्रित (सबाल्टर्न) ये वे 'अभिजात' थे । जैसा कि वे थे। यदि गुहा की परिभाषा को आधार माना जाय) तब यह कैसे कहा जा सकता है कि अभिजात वर्ग के लोगों का संघटनीकरण (mobilisation) अपेक्षाकृत रूप से वैधानिक था तथा उपाश्रित वर्गों का अपेक्षाकृत रूप से अधिक हिसंक।

उसी प्रकार, गुहा के विश्लेषण में साम्यवादी दल, समाजवादियों तथा

अन्यों का कोई स्थान नहीं है जिन्होंने निश्चित रूप से अपने उच्चवर्गीय स्थानों से नीचे उतर कर मजदूरों और किसानों को संगठित किया। मजदूर संगठनों तथा किसान सभा के आन्दोलनों में जो व्यापक उभार आया, इसका श्रेय अधिकांश रूप से इन्ही को जाता है। तथापि गुहा कहते हैं कि अभिजात वर्गीय राजनीति के क्षेत्र में जो संघटनीकरण (mobilisation) हुआ वह ऊर्ध्व रूप में था जबकि उपाश्रित वर्गो (सबाल्टर्न क्लासेज) की राजनीति का क्षैतिजिक ढंग था।[81]

इस तरह उपाश्रयी धारा के इतिहासकार राष्ट्रीय आन्दोलन को 'अभिजन' एवं 'उपाश्रयी' दो भागों में बांट देते हैं। पहले के इतिहासलेखन को ऐसा 'अभिजनवादी' इतिहासलेखन कहकर रद्द कर दिया गया है जिसके पास जनता के इतिहास की समझ में योगदान देने को कुछ भी नहीं है। इसमें इस 'पुराने' 'तंगनज़र' और 'अभिजनवादी' इतिहासलेखन की जगह उस चीज़ को प्रस्थापित करने का प्रयास किया जाता रहा है जिसे नया 'उपाश्रयवादी' या जनता का इतिहास लेखन कहा गया।[82]

कुछ नये सवाल उठाने के उद्देश्य[83] को लेकर यह धारा इतिहास लेखन के क्षेत्र में उतरी, और निस्संदेह उन्होंने कुछ महत्वपूर्ण सवाल उठाये थे। यद्यपि कुछ नये तरीके के शगूफे भी छूटे। परन्तु बकौल उन्ही की कलम "उनके हस्तक्षेप से इतिहासकार की व्यक्तिगत रचना निजी शोधकक्ष से उठकर एवं नई बिरादरी में जा बैठी।"[84] उनके अनुसार हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय आन्दोलन एक बहुत बड़ा और विस्तृत आन्दोलन था। यह एक बहुमुखी प्रक्रिया थी जिसके विभिन्न वर्ग, समुदाय, जातियां और क्षेत्र अपनी–अपनी विशिष्ट भूमिका में दृष्टिगोचर हुए। इस तरह राष्ट्रीय निर्माण का कार्य किसी एक शक्ति किसी एक धारणा, पार्टी या व्यक्ति विशेष का कार्य न होकर अनेक प्रवृत्तियों के कारगर होने का नतीजा था।

जिस राष्ट्र के हम नागरिक हैं, वह 'भारत' अपने भौगोलिक राजनीतिक सामाजिक और धारणात्मक प्रतिरूप में हमेशा से मौजूद नहीं था। राष्ट्र निर्माण एक ऐतिहासिक रचना है। दुनिया का कोई भी राष्ट्र चिरकाल से ही बना बनाया नहीं पाया

गया हैं, किसी भी राष्ट्र की उत्पत्ति इतिहास के अहाते के बाहर नहीं हुयी है, हलांकि हर राष्ट्र अपने को एक परिपक्व अन्तर्यामी, बुद्धज्ञानी के रूप में प्रस्तुत करने का दम भरता है। और देशों की तरह भारत के राष्ट्र निर्माण कार्य में भी विभिन्न प्रवृत्तियां, विचारधारायें, कामनायें और प्रयास आपस में टकराये, कुछ तात्कालिक तौर पर विजयी हुए और कुछ छोटे या लम्बे अरसे के लिये परास्त हो गये। लेकिन हमारी राष्ट्र निर्माण की क्रिया पर इस द्वन्द्व की छाप रही और आज भी है जैसे कि प्रत्येक राष्ट्र के निर्माण में रही है।[85] उपाश्रयी धारणा के अनुसार किसी भी समुदाय या समाज के गठन में और इसमें राष्ट्र की भी गिनती होनी चाहिये केवल अभिजात वर्ग का ही हाथ नहीं होता। जमींदार की शानोशौकत के लिये आसामी ज़रूरी है और लोकप्रिय राष्ट्रवादी नेता के लिये साधारण जनता। कोई भी समाज कवेल अभिजात वर्ग का नहीं हो सकता और किसी भी समाज का इतिहास सिर्फ उसके अभिजात वर्ग का इतिहास नहीं हो सकता।[86]

इस तरह 'उपाश्रित' (सबाल्टर्न) स्कूल के अनुयायियों की यह चिन्ता कि मजदूरों, किसानों तथा जनजातीय लोगों के संघर्ष को प्रकाश में लाया जाये, स्वागत योग्य है, वहीं यह भी स्पष्ट है कि उनके संकुचित ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को स्वीकार नही किया जा सकता। यह एक तथ्य है कि उपाश्रित (सबाल्टर्न) वर्गो, या समाज में सामान्य रूप से प्रचलित विचारों का प्रभाव अथवा अभिजात वर्ग के विचारों का भी प्रभाव कम नहीं होता जैसा कि गुहा समझते है, अपितु उसकी केन्द्रीय भूमिका होती है। वस्तुतः ग्राम्शी ने, जिसकी पाण्डुलिपि के रूप में उप्लब्ध रचनाओं से यह शब्द लिया गया है इस बात से इंकार किया था कि किसान वर्ग अपनी किसी विचारधारा को जन्म दे सकता है अथवा उसका अपना कोई बुद्धिजीवी वर्ग हो सकता है। जैसे ही राष्ट्रीय आन्दोलन क्षितिज पर आया, जन आंदोलनों की प्रकृति में गुणात्मक और परिमाणात्मक परिवर्तन हुआ।[87] इस तरह हम देखते हैं कि 'उपाश्रित' तक आते–आते राष्ट्रवाद एवं राष्ट्रीय आन्दोलन 'अभिजन' के एवं 'निम्नवर्ग' के झगड़े में फंस गया। इतिहास लेखन की उपाश्रयी धारा में अभिजन क्षेत्र से उपाश्रयी क्षेत्र का सम्बन्ध मूलतः

शत्रुता–पूर्ण है।

इस तरह इतिहास लेखन में राष्ट्रीय आन्दोलन के सैकड़ों आयाम हैं। अतीत की घटनायें बेहद जटिल और विविध होती हैं। उसको हर व्यक्ति अपनी समझ के अनुसार ग्रहण करता है। जैसा कि शाहिद अमीन की पुस्तक 'इंवेट मेटाफर एण्ड मेमोरी' में यह दर्शाते है कि एक ही घटना शासकों के लिये दूसरा मतलब रखती है इतिहासकारों के लिये दूसरा मतलब रखती है तथा जन स्मृतियों में उसका अलग ही चित्र खिंचा होता है। एक साथ वह घटना, रूपक तथा स्मृति होती है।[88] इस तरह समान सूचनाओं के होते हुए भी इतिहासकार क्यों भिन्न–भिन्न मत स्थापित करते हैं ? इसका कारण यह है कि इतिहासकार उन घटनाओं की व्याख्या करता है जो अब अतीत बन चुकी है तथा उनके पास उन घटनाओं के विषय में उपलब्ध सूचनाओं को सत्यापित करने का ठीक उसी प्रकार का कोई साधन नहीं होता जिस प्रकार कि एक वैज्ञानिक अपने प्रयोग को दोहराकर सत्यापित कर लेता है। इसका कारण यह भी है कि बीती हुयी घटनाओं की सूचना उन प्रेक्षकों द्वारा उपलब्ध कराई गई होती है जिनके वर्णन में हमेशा ही उनके पूर्वग्रह कार्य करते हैं। अतः यदि वैज्ञानिकों की भाषा में कहा जाये तो ऐतिहासिक साक्ष्य हमेशा दूषित होता है अथवा विकृत होता है। यह विचार अत्यन्त जटिल होता है सत्य तक पहुंचने के लिये उस विकार का परिमार्जन आवश्यक है। किसी एक घटना के अन्य घटनाओं के साथ इतने जटिल अन्तः सम्बन्ध होते हैं कि उस घटना को अन्य घटनाओं से अलगाना अथवा सभी घटनाओं का एक साथ विवेचन करना असम्भव है। अध्येता को घटनाओं के उस विशाल समुच्चय में से कतिपय उन निश्चित घटनाओं का चुनाव करना पड़ता है जिनके अन्तःसम्बन्ध अध्ययनाधीन विशेष तथ्य के सन्दर्भ में अधिक प्रासंगिक हैं। अतः समग्र ऐतिहासिक साक्ष्य न केवल विकृत होता है अपितु अनन्त रूप से चयनात्मक भी होता है और इस प्रकार के चयनाधारित साक्ष्य की व्याख्या में इतिहासकार की वैयक्तिक दृष्टि प्रायः निर्णयात्मक भूमिका अदा करती है।[89] इस प्रकार हम देखते हैं कि यथार्थ बहुआयामी और बहुत जटिल होता है। इस स्थिति में अतीत की किसी

घटना या काल विशेष का हूबहू चित्रण नामुमकिन है। राष्ट्रीय आन्दोलन से अब तक हुए इतिहास लेखन से भारतीय राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय आन्दोलन की कोई मुकम्मिल तस्वीर नहीं बनती। इसलिये यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इस आन्दोलन के विषय में विपुल ऐतिहासिक साहित्य की रचना हुयी है। इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं है कि इसके स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों की समझ एक दूसरे से काफी भिन्न है। जो आन्दोलन इतना व्यापक और जटिल होगा, विद्वानों के समक्ष उसकी वास्तविकता के अलग–अलग आयामों का उभरना स्वाभाविक ही है। इसके अलावा इतिहास लेखक सिद्धान्तों के प्रभाव से भी अछूता नहीं रहता और राजनीति की विवेचना करते हुए इतिहासकारों ने स्वाभाविक रूप से विभिन्न प्रकार के दार्शनिक दृष्टिकोण तथा राजनीतिक मान्यताओं से काम लिया है। यहीं पर इतिहास लेखन में लेखक के दृष्टिकोण एवं प्रतिबद्धता का विवादस्पद प्रश्न उठता है। चूंकि समस्त इतिहासलेखन का आधार प्रत्यक्ष एवं प्रच्छन्न मान्यतायें होती हैं इसलिये यह मानना अनुचित न होगा कि विभिन्न विद्वानों की भारतीय राष्ट्रवाद की समझ का जितना सम्बन्ध उनके द्वारा अपने अध्ययन की आधारभूमि के रूप में प्रयुक्त वास्तविक तथ्यों से है, उतना ही उनकी अपनी मान्यताओं से भी है।[90]

इस तरह राष्ट्रीय आन्दोलन पर हुए विशाल साहित्य में राष्ट्रीय आन्दोलन का एक निश्चित चरित्र उभर कर नहीं आता है। सिवाय इसके कि यह ब्रिटिश साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन था जिसमें ढेरों अन्तर्विरोध अन्तर्गुंथित थे।

III

इलाहाबाद में एकत्रित किये गये मौखिक स्रोतों के आधार पर एक सामान्यीकृत आकलन यह उभरता है कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन अपने चरित्र में मुख्यतः मध्यवर्गीय आन्दोलन था। समस्त साक्षात्कारों के एक समेकित मूल्यांकन से यह पता चलता है कि राष्ट्रीय आन्दोलन का जनता के दिमाग में कोई एक सुनिश्चित खाका नहीं था। यद्यपि यह अध्ययन बहुत सीमित है अगर साथ में ही हम कुछ गांवों का सर्वेक्षण करते तो उसे शहरी ज़िन्दगी के सामने रखकर राष्ट्रीय आन्दोलन के

चरित्र का मूल्यांकन किया जा सकता है। इस अध्ययन के माध्यम से हम कुछ सामान्यीकरण कर सकते हैं । मसलन आज़ादी को लेकर न तो यहां का नेतृत्व स्पष्ट था न ही यहां का जन मानस। 1947 तक आते–आते कांग्रेस का नेतृत्व अपरिहार्य स्थितियों में समझौते तक पहुंच गया था और एक विखण्डित आज़ादी उसने स्वीकार कर ली। राज्य, फौज, कानून व्यवस्था कुछ भी नहीं बदला बस सत्ता का हस्तांतरण हिन्दुस्तानियों और पाकिस्तानियों के बीच हो गया। आज हम जिन अर्थों में आज़ादी की बात करते हैं वह निश्चित ही सारी दुनिया में एक आधुनिक अवधारणा है । भारत में भी आधुनिकता के प्रादुर्भाव के साथ ही उसका विकास हुआ। चूंकि भारत में आधुनिकता के अवयव औपनिवेशिक स्थिति में प्रस्फुटित हुए इसलिये आज़ादी की अन्तर्वस्तु में विदेशी शासन के अन्त की प्रमुखता स्वाभाविक थी। विदेशी सत्ता परतन्त्रता का सबसे बड़ा कारक थी और उसकी उपस्थिति सबसे अधिक अपमान जनक बन गई थी पर वह परतन्त्रता का एकमात्र कारण नहीं थी। परन्तु मुख्य अन्तर्विरोध विदेशी सत्ता से होने के कारण अन्य कारणों के विरूद्ध चेतना का समुचित विकास नहीं हो पाया था। साक्षात्कारों के आधार पर हम यह भी मूल्यांकित कर सकते हैं कि राष्ट्रीय आन्दोलन का चरित्र मुख्यतः शहरी एवं मध्यवर्गीय एवं भावनात्मक था। अन्त आते–आते ग़रीब आदमी की दिलचस्पी राष्ट्रीय आन्दोलन में अवश्य हो गई थी पर उनकी कोई स्वतन्त्र सहभागिता नहीं थी। समूचे राष्ट्रीय आन्दोलन में निश्चितः दो धारा प्रवाहित हो रही थी। एक मुख्य धारा थी जो कांग्रेस के तत्वाधान में आन्दोलन का रूप पा रही थी। दूसरी धारा थी आमजनता की इच्छाओं की। जैसे–जैसे इस दूसरी धारा का दबाव बढ़ता गया– अंग्रेजों का जाना तय होता गया। कभी–कभी यह धारा तीव्रता से सतह पर भी आ जाती थी। मसलन 1942 का आन्दोलन 46 का नौसेना विद्रोह तथा तेभागा एवं तेलंगाना आन्दोलन आदि। और यह तय है कि इन्हीं दबावों के चलते भारतीय स्वाधीनता सम्भव हुयी। यह अलग बात है कि जनता, कांग्रेस, अंग्रेजों एवं राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहासकारों के लिये इस आज़ादी का अलग–अलग मतलब था। जनता आज़ादी का अर्थ रोटी, कपड़ा और मकान से लगाती

थी तो कांग्रेस के लिये आज़ादी सत्ता की प्राप्ति थी और अंग्रेजों के लिये भारतीय आज़ादी, खुद उनकी कमज़ोर होती अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के कारण गले की हड्डी की तरह हो गई थी जिसे चतुराई से उगल देने में ही उन्होंने अपनी भलाई समझी। इतिहासकारों के लिये आज़ादी उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता का प्रतिफल है।

निस्संदेह राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म औद्योगिक बूर्जुआवर्ग और उसकी विचारधारा के वाहक नवीन बुद्धिजीवी ओर वृत्तिजीवी वर्गों की उत्पत्ति के बाद हुआ। लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये लड़ने वाले सिर्फ यही वर्ग थे। आज़ादी की इस लड़ाई में हिस्सा लेने वाले पूंजीपति, व्यापारी, मज़दूर दस्तकार, जमींदार किसान छात्र शिक्षक बुद्धिजीवी और वृत्तिजीवी सभी थे। यद्यपि 1862 के बाद भारत का सामंतवर्ग ब्रिटिश शासन का आधारस्तम्भ बन गया था फिर भी कुछ सामंत सरदार और कितने ही जमीन्दार इस लड़ाई में शामिल हुए थे अथवा सक्रिय सहायता कर चुके थे। राष्ट्रीय स्वाधीनता की इस लड़ाई में हिस्सा लेने वाले सभी वर्गों के लोग हमारी श्रद्धा के पात्र हैं। उन सबको राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के इतिहास में समुचित स्थान मिलना चाहिये।

इसमे कोई शक नहीं कि ये विभिन्न वर्ग अपने अलग–अलग आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थ लेकर राष्ट्रीय स्वाधीनता की लड़ाई में शामिल हुए थे लेकिन सबका लक्ष्य एक था राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति।[91]

200 साल की लम्बी गुलामी के बाद अन्ततः भारतीय प्रायद्वीप को स्वतन्त्रता मिल ही गई और स्वतन्त्रता सेनानियों के सुनहरे सपने की तुलना में अनेक लोगों को यह तुच्छ प्रतीत हुयी होगी। कारण कि अनेक वर्षो तक भारत के मुसलमानों और पाकिस्तान में हिन्दुओं के लिये स्वतन्त्रता का अर्थ रहा–अचानक भड़क उठने वाली हिंसा और रोजगार तथा आर्थिक अवसरों की तंगी के बीच या अपनी पीढ़ियों पुरानी जड़ों से उखड़कर शरणार्थियों के रेले में सम्मिलित हो जाने के बीच चयन करना । एक अन्य स्तर पर, वे आर्थिक और सामाजिक विषमतायें अभी भी बनी रहीं, जिन्होंने साम्राज्यवाद विरोधी जनान्दोलन को ठोस आधार प्रदान किया था क्योंकि

शहरों और गांवों में विशेषाधिकार सभ्यता समूह राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति का सम्बन्ध उन सामाजिक परिवर्तनों से तोड़ने में सफल रहे थे। अंग्रेज तो चले गये, पीछे छोड़ गये अपनी नौकरशाही और पुलिस जिसमें स्वतन्त्रता के बाद भी विशेष अन्तर नहीं आया था और जो उतने ही दमनकारी (कभी–कभी तो और भी अधिक) दमनकारी हो सकते थे। अपने जीवन के अन्तिम महीनों में महात्मा गांधी के अकेलेपन और व्यथा का कारण केवल साम्प्रदायिक दंगे ही नहीं थे। अपनी हत्या से कुछ समय पहले उन्होंने चेतवानी दी थी कि देश को अपने 7,00,000 लाख गांवो के लिये सामाजिक नैतिक और आर्थिक आज़ादी पानी बाकी है। .... इस कारण उन्होंने सलाह दी थी कि राजनीतिक दल के रूप में कांग्रेस को भंग कर दिया जाना चाहिये उसके स्थान पर एक लोकसेवक संघ की स्थापना की जानी चाहिये। जिसके सच्चे अर्थो में समर्पित आत्मबलिदानी रचनात्मक ग्रम कार्य करने वाले लोग हों। अनेक प्रतिबद्ध वामपंथियों की दृष्टि में ऐसी स्वाधीनता माखौल से अधिक कुछ नहीं थी। "(शाही नौसेना के युद्धपोत, नोआरवाली बिहार और गढ़मुक्तेश्वर में हिन्दू और मुसलमान मृत्यु के बाद ही एक होते है।" देशभक्तों के सत्तालोलुप राजनीतिज्ञों में रूपांतरित होने पर चोट करती हुयी यह तीखी टिप्पणी (समरसेन की अन्तिम दो कविताओं के उद्‌गार) पूर्णतः अनुचित भी नहीं हैं। फिर भी करोड़ों लोग जो समस्त भारतीय प्रायद्वीप में खुशियां मना रहे थे, अर्धरात्रि को भारत की नियति के साथ भेंट पर नेहरू का भाषण सुनकर रोमांचित हो रहे थे और जिन्होंने उस समय बालक रहे व्यक्ति के लिये भी 15 अगस्त को एक अविस्मरणीय अनुभव बना दिया था।

भारत की स्वाधीनता उपनिवेशवाद के विघटन की ऐसी प्रक्रिया का आरम्भ थी जिसे, कम से कम जहां तक राजनीतिक स्वाधीनता का प्रश्न है रोकना कठिन सिद्ध हुआ। ..... फिर भी अन्तर्विरोध हैं और यह पहले की तुलना में कहीं अधिक दिखाई देते हैं। इसका कारण मोटे तौर पर पूंजीवादी विकास के मार्ग का चुनाव है। इस मार्ग को निश्चित करने में हमारे स्वतन्त्रता आन्दोलन के मुख्य ढर्रे की भूमिका रही है। जिस पर बूर्जुआ वर्ग अपनी प्रभुता स्थापित करने एवं बनाये रखने में सफल रहा।[92]

इस तरह भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन अपने आप में अन्तर्विरोधों का एक समुच्चय है। अपने चरित्र में यह मुख्यतः मध्यवर्गीय था जिसमें यहां का सामान्य जन भावनात्मक रूप से जुड़ा। उसकी कोई एक सर्वमान्य व्याख्या नहीं की जा सकती। वह स्वयं में अनेक जनान्दोलनों को समाहित किये हुए था। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एक साथ जनता की अदम्य ऊर्जा एवं आजादी की चाहत तथा नेतृत्व की समझौता परस्ती की कहानी है। जनसंघर्षों की चाहत, एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों के कारण ब्रिटिश साम्राज्यवाद परास्त हो गया विभाजन की दुखद स्थितियों में सत्ता हस्तांतरित हो गई जनता की मुक्ति की कामना फिर भी शेष रह गई। विभाजन की कसक आज भी बाकी है। भारतीय क्रांति की मंजिल अभी भी दूर है। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अध्ययन की सार्थकता इसी में है कि उसकी अपूर्णता को रेखांकित करते हुए उसे परिवर्तन की एक जटिल प्रक्रिया के रूप में देखा जाये। बकौल सुमित सरकार –"यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो अभी तक पूरी नहीं हुयी है।[93]

संदर्भ सूची

1.विलियम मॉरिस, : 'ए ड्रीम ऑफ जान बाल', 1887, उदधृत सुमित सरकार–आधुनिक भारत; पृष्ठ–506

2. डी.डी. कोशाम्बी : 'प्राचीन भारत की सभ्यता एवं संस्कृति' राजकमल प्रकाशन – पृष्ठ– 38–39

3. कपिल कुमार : 'किसान विद्रोह, कांग्रेस और अंग्रेजी राज्य' मनोहर पब्लिकेशन्स, 1999, पृष्ठ– 119

4. बंसीलाल : व्यक्तिगत साक्षात्कार, मौखिक इतिहास श्रृंखला कैसे सं. M10

5. पुन्नू खां : साक्षात्कार, ध्वन्यांकित कैसेट सं, M 11

6. राम अधार कवि : साक्षात्कार, ध्वन्यांकित कैसेट सं. –M2, 73 वर्षीय रामअधार यादव, जिन्होंने कोई स्कूली शिक्षा नहीं पाई है, एक लोक कवि हैं।वह झूंसी के रहने वाले है और आसपास के क्षेत्र में प्रसिद्ध लोकगायक हैं। उनके आसपास के क्षेत्र में प्रसिद्ध लोक गायक हैं। उनके अनुसाार यह गीत सन् 39 में बनारस में एक इश्तिहार में मिला था। इस गीत को इन्होंने स्वयं 'धुन' दी थी नह इसे सस्वर सुनाते हैं।

7. फैज अहमद फैज़ : 'सारे सुख़न हमारे', राजकमल प्रकाशन, 1991 पृष्ठ –163

8. उदधृत, पंकज राग : इन्डियन नेशनलिज़्म 1885–1905, सोशल साइन्टिस्ट, वाल्यूम–23,नम्बर4–6 अप्रैल–जून 1995.

9. अयोध्या सिंह : 'भारत का मुक्ति संग्राम' मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड 1987, पृष्ठ 1

10. ए.आर. देसाई : 'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि' प्राक्कथन पृष्ठ –1

11. स्टालिन, : उद्धृत अयोध्या सिंह, पूर्वोक्त पृष्ठ – 2

12. दर्शनकोश : प्रगतिप्रकाशन, मास्को – पृष्ठ–537

13. सत्याराय :'भारत में उपनिवेशवाद', हिन्दीमाध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, 1988 पृष्ठ 18–19

14. विपिन चन्द्र : 'नेशनलिज़्म एण्ड कोलोनियलिज़्म', ओरियन्ट लांगमैन लिमिटेड 1996 पृष्ठ –2–3

15. पूर्वोक्त, : पृष्ठ –3

16. रविन्दर कुमार : 'आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास'– पृष्ठ –1

17. विपिन चन्द्र : पूर्वोक्त , पृष्ठ 14

18. विपिन चन्द्र, मृदुला मुकर्जी आदित्य मुकर्जी, क. न. पनिकर सुचेता महाजन : भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष', हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय – भूमिका

19. पूर्वोक्त : पृष्ठ . 27

20. ए. आर. देसाई : पूर्वोक्त , पृष्ठ –25

21. अयोध्या सिंह : पूर्वोक्त, पृष्ठ – 7

22. ए. आर. देसाई : पूर्वोक्त, पृष्ठ – 28

23. अयोध्यासिंह : पूर्वोक्त, पृष्ठ 16

24. विपिन चन्द्र : पूर्वोक्त, भूमिका पृष्ठ x

25. ए. आर. देसाई : पूर्वोक्त, पृष्ठ 4

26. पंकज राग : पूर्वोक्त , पृष्ठ 70

27. रविन्दर कुमार : पूर्वोक्त, पृष्ठ 38

28. पूर्वोक्त : पृष्ठ – 1

29. ताराचन्द :'स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास' खण्ड–2, पृष्ठ–2

30. कार्लमार्क्स : 'द फर्स्ट इण्डियन वार ऑफ इन्डिपेडेन्स 1857–1859' प्रोग्रेस पब्लिशर्स मास्को

31. ए.आर.देसाई : पूर्वोक्त, पृष्ठ 247

32. पंकज राग : पूर्वोक्त, पृष्ठ 70

33. अवनीश कुमार : एक अप्रकाशित डी.फिल. शोध प्रबन्ध, इतिहास विभाग, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली

34. पंकज राग : पूर्वोक्त

35. सुमित सरकार : पूर्वोक्त पृष्ठ 71

36. अयोध्या सिंह : पूर्वोक्त, पृष्ठ 78

37. पूर्वोक्त : पृष्ठ 119

38. पूर्वोक्त : पृष्ठ 112

39. सुमितसरकार : पूर्वोक्त, पृ. 17

40. पूर्वोक्त : पृष्ठ 120

41. पूर्वोक्त : पृष्ठ 125

42. रविन्दर कुमार : पूर्वोक्त पृष्ठ 13

43. ज्ञानेन्द्र पाण्डेय :'कन्स्ट्रक्शन ऑफ कम्यूनलिज़्म इन कोलोनियल नार्थ इन्डिया' पृ. 233

44. रजनी पामदत्त : 'आज का भारत' मैकमिलन इन्डिया लिमिटेड पृष्ठ 4

45. रविन्दर कुमार : पूर्वोक्त, पृ. 14–15

46. पूर्वोक्त, : पृष्ठ 14–16

47. ज्ञान पाण्डेय : 'एसेडेन्सी ऑफ कांग्रेस' इन उत्तर प्रदेश पृष्ठ 156

48. रविन्दर कुमार : पूर्वोक्त, पृष्ठ 22

49. सुमित सरकार : पूर्वोक्त, पृष्ठ 380

50. पूर्वोक्त : पृष्ठ 415–16

51. पूर्वोक्त, : पृष्ठ 463–64

52. पंकज राग : पूर्वोक्त, पृष्ठ 69

53. सुमित सरकार : पूर्वोक्त पृष्ठ 22

54. पूर्वोक्त : पृष्ठ 23

55. फ्रेडरिक वान श्लेगल : उद्धृत ज्ञान पाण्डेय, 'द कन्सट्रक्शन ऑफ कम्युनलिज़्म इन कोलोनियल नार्थ इन्डिया,' भूमिका पृष्ठ 1.

56. मेरी स्टुअर्ट : 'एण्ड हाऊ वाज़इट फार यू मेरी? 'सेल्फ आइडेन्डिटी एण्ड मीनिंग' फॉर ओरल हिस्टोरियन' ओरल हिस्ट्री जर्नल, वाल्यूम – 21 नं. 2 आटम, 1993.

57. सुमित सरकार : पूर्वोक्त, पृ. 21

58. पूर्वोक्त : पृष्ठ 28

59. मृदुला मुकर्जी : "औपनिवेशिक भारत में कृषक प्रतिरोध और कृषक चेतना, उपाश्रयवाद और उसके बाद" 'इतिहास' अंक 3 पृ. 163

60. सुमित सरकार : पूर्वोक्त – 21

61. विपिन चन्द्र, मृदुला मुकर्जी, आदित्य मुकर्जी, क.न. पनिकर, सुचेता महाजन : पूर्वोक्त, भूमिका

62. पूर्वोक्त

63. रजत कुमार राय : थ्री इन्टप्रिरेशन ऑफ इन्डियन नेशनलिज़्म पृष्ठ 2

64. इरफान हबीब : 'इतिहास की व्याख्या' हिन्दी कलम सम्पादक नीलकांत, अंक -- 4 पृष्ठ 162

65. विपिन चन्द्र : पूर्वोक्त

66. सुमित सरकार : पूर्वोक्त, पृ. 21

67. विपिन चन्द्र : पूर्वोक्त

68. रजत कुमार राय : पूर्वोक्त, पृ. 9–10

69. रविन्दर कुमार : पूर्वोक्त, पृ. 2

70. इरफान हबीब : पूर्वोक्त पृ. 133

71. रजत कुमार राय : पूर्वोक्त पृ. 4

72. इरफान हबीब : पूर्वोक्त, पृ. 140

73. रजत कुमार राय : पूर्वोक्त, पृ. 7

74. रजनी पामदत्त : पूर्वोक्त, पृ. 314

75. रजत कुमार राय : पूर्वोक्त पृ. 11–12

76. विपिन चन्द्र : पूर्वोक्त

77.विपिन चन्द्र, अमलेश त्रिपाठी, वरूण दे : 'फ्रीडम स्ट्रगल',नई दिल्ली 1972, देखें प्रथम अध्याय

78. विपिन चन्द्र :'राइज़ एण्ड फॉल ऑफ इकोनामिक नेशनलिज़्म इन इन्डिया; इकॉनमिक पालिसीज़ ऑफ इन्डियन लीडरशिप 1880–1905' नई दिल्ली 1966

79. विपिन चन्द्र, मृदुला मुकर्जी : पूर्वोक्त – भूमिका

आदित्य मुकर्जी, कन. पनिकर, सुचेता महाजन,

80. शहिद अमीन : 'निम्नवर्गीय प्रसंग' – प्रस्तावना

81. इरफान हबीब : पूर्वोक्त पृ. 162–63

82. मृदुलामुकर्जी : पूर्वोक्त, पृष्ठ 164

83. शाहिद अमीन : पूर्वोक्त पृष्ठ 10

84. पुर्वोक्त : पृष्ठ 7

85. पूर्वोक्त : पृष्ठ 8

86. पूर्वोक्त

87. इरफान हबीब : पूर्वोक्त पृष्ठ 164

88. शाहिद अमीन : 'इवेंट, मेटाफर, मेमोरी – चौरी चौरा

89. इरफान हबीब : पूर्वोक्त पृष्ठ 133

90. रविन्दर कुमार : पूर्वोक्त पृष्ठ 1

91. अयोध्या सिंह : पूर्वोक्त प्रस्तावना

92. सुमित सरकार : पूर्वोक्त पृष्ठ 504–6

93. पूर्वोक्त : पृष्ठ 506

II
मौखिक इतिहास (Oral History)

मौखिक इतिहास समाज का सामूहिक सपना है।[1] इस सपने में अन्तर्निहित है इस अनन्त 'समय' में समाज एवं मनुष्य द्वारा अपनी पहचान एवं अस्तित्व को स्थापित कर पाने का प्रयास। इस 'समय' में मनुष्य जहां से स्वयं को रेखांकित कर पाया है वहीं से शुरू होता है इतिहास। यानी इतिहास, अतीत में मानव समाज के अपने अस्तित्व को पाने की जद्दोजहद की अभिव्यक्ति है। इसे ही एलेज़ान्ड्रो पोर्टेली इस प्रकार कहते हैं–

"कोई कहानी कहना, समय की धमकी के विरोध में हथियार उठाना है, उसका प्रतिरोध करना है, उसे साज़ पर चढ़ाने जैसा है। कहानी कहने से, कहने वाला गुमनामी से बचता है, एक कहानी वक्ता की पहचान निर्मित करती है और वह भविष्य के लिये एक विरासत छोड़ता है।"[2]

अर्थात् कोई भी कहानी समय की भयावहता को नकारती है। कही जाने वाली कथा अपने समय में स्थापित हो जाती है अतीत वर्तमान एवं भविष्य तीनों में। अतीत में इसलिये कि उसमें पिछली बातें बताई जाती हैं। वह बात वर्तमान को लिये हुए वर्तमान में कही जा रही है तथा वह 'भविष्य' के लिये संरक्षित हो गई है। वह कहानी हर काल में अपने समय की कथा कहेगी।

इस तरह इतिहास समय की निर्बाध धारा में मनुष्य का एक सार्थक हस्तक्षेप है। अनवरत बहते इस समय में इतिहास के रूप में स्वयं को स्थापित कर मनुष्य ने समय के उस हिस्से को जीवन्त किया, उसे ज़िन्दगी का उपहार दिया है, तथा उसे एक मूर्त अर्थ प्रदान किया है। चूंकि अतीत में 'मानव' के चिन्हित होने से ही इतिहास शुरू होता है, अतः इसी मानव के इर्दगिर्द और उसके सापेक्ष ही विकसित हुयी है ज्ञान की सारी अभिधायें। इतिहास भी उसी मानव के आसपास और उसके

सापेक्ष ही विकसित होता है। 'मानव' से इतर इतिहास कुछ भी नहीं है। दूसरी तरफ मनुष्य जाने या न जाने उसका अस्तित्व इतिहास से परे नहीं होता। इतिहास का उत्तराधिकारी मनुष्य, अपने कार्यो द्वारा उसे प्रभावित करता हुआ प्रायः उससे परिचित नहीं होता। जब से मनुष्य चेतनशील हुआ है, वह अतीत में जहां उसके वर्तमान का स्रोत हैं, दिलचस्पी लेता रहा है। समाज के सन्दर्भ में इतिहास की वही भूमिका है जो मनुष्य के सन्दर्भ में उसकी स्मृति की। इस तरह इतिहास समष्टि की अपने अतीत की स्मृति है पर जब कोई व्यक्ति इस स्मृति का संयोजन करता है, तभी इतिहास का जन्म होता है।[3] इतिहास समष्टि की स्मृति तो है परन्तु अब तक के समूचे इतिहास लेखन में यह समष्टि प्रायः अनुपस्थित रहती है। सारी दुनिया में आज तक इंसान का जो इतिहास लिखा गया है वह प्रायः विशिष्ट लोगों द्वारा विशिष्ट लोगों के लिये ही लिखा गया है। अगर समीकरण देखें तो मानवता के इतिहास में अब तक जितनी ज़िन्दगियं दर्ज हुयी हैं उनका इतिहास चन्द विशिष्ट लोगों द्वारा लिखा गया है। स्पष्ट है कि उनकी कलम से विशिष्ट लोगों का इतिहास ही कलम बन्द होगा। यानी पृथ्वी की अब तक की अधिकांश आबादी का इतिहास, या अधिकांश समष्टि का इतिहास इतिहासलेखन से गायब है। कुछ लोगों की प्रतिबद्धता उस समष्टि के प्रति हो सकती है किन्तु वह अपर्याप्त है। समष्टि का इतिहास अब तक लिखी इतिहास पुस्तकों में नहीं बल्कि वह व्याप्त होता है परम्पराओं में संस्कृति में और समष्टि की ज़िन्दगी की रोजमर्रा के अनुभवों में । अगर समष्टि को रेखांकित करना है तो आवश्यक है कि इतिहास में उनके स्रोतों तक जाया जाये। जैसा कि मेरी स्टुअर्ट कहती हैं "जो कुछ घटता है (इतिहास) वह हमारी चेतना का उत्पाद होता है क्योंकि वह हमारी व्याख्याओं एवं निर्मितियों से जन्म लेता है।"[4] यानी इतिहास वस्तुगतता एवं चेतना के द्वन्द्व से पैदा होता है । इतिहासकार घट चुके अतीत का अपनी समझ एवं प्रतिबद्धता के हिसाब से वर्णन करता है। अर्थात् इतिहासकार अतीत का भविष्य वक्ता होता है। इतिहासकार यह तय करता है कि अतीत कैसा था, वह अतीत का भविष्य अपनी चेतना के अनुसार प्रस्तुत करता है। अतीत एवं इतिहास को अर्थ मानव से ही मिलता है। इस तरह

इंसानों का भविष्य इतिहासकार तय करता है । यानी अब तक के अगिनित इंसानों का भविष्य चन्द इंसान इतिहासकारों ने लिखा है। बहुप्रचलित है कि इतिहास अतीत और वर्तमान के बीच चलने वाला सतत् सम्वाद है। इतिहासकार इस संवाद का सूत्रधार होता है। इस संवाद के सूत्र विभिन्न तथ्यों के रूप में बिखरे होते हैं– लिखित दस्तावेजों में, परम्पराओं में और मौखिक साक्ष्यों में। यह सारे तथ्य मनुष्य के आस–पास ही निर्मित होते हैं। इतिहास की रचना एक व्यक्ति करता है जो किसी आर्थिक राजनीतिक तथा सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश में रहता है। जीवन और परिवेश की उसकी अपनी समझदारी होती है, उसकी अपनी एक अस्मिता होती है। ये बातें उसके इतिहासलेखन पर विशिष्ट प्रभाव डालती हैं। इस प्रकार व्यक्ति एवं इतिहास के सम्बन्ध दोहरे हो जाते हैं। रेमोआरों के शब्दों में आदमी एक साथ इतिहास का कर्त्ता एवं पात्र दोनों होता है।[5] इतिहासकार अतीत में बिखरे उन तथ्यों में अर्थ तलाशता है, उन्हें संयोजित करता है। ऐसे में मौखिक इतिहास का प्रादुर्भाव 'समष्टि के अतीत की आवाज़' के रूप में होता है। अतीत की यह आवाज़ समाज की मौखिक परम्पराओं एवं मौखिक साक्ष्यों के रूप में निहित होती है। इस आवाज़ को इतिहासलेखन के अनुशासन में निबद्ध कर दिया जाये तो वह 'मौखिक इतिहास' कहलाता है। अधिक विस्तृत अर्थ में कहा जाये तो मौखिक इतिहास 'संवाद' की अगली शब्दावली है जिसका सामान्य कार्य है, मुख की आवाज़ द्वारा संचारित होना। इसमें लोक संस्कृति से लेकर मनोविश्लेषणात्मक साक्षात्कार तक सभी कुछ शामिल होता है। मौखिक इतिहास एक संवाद होता है जो अपने कार्यो एवं अपने उद्देश्य द्वारा सबसे अच्छी तरह व्याख्यायित होता है, जिसका आरम्भिक उद्देश्य लिखित स्रोतों के साथ इतिहासकार के पारम्परिक कार्य की पूर्ति हेतु मौखिक साक्ष्यों को रिकार्ड करना होता है।[6] चूंकि इतिहास के केन्द्र में मानव होता है अतः जैसा कि पाल थाम्पसन कहते हैं कि सभी इतिहास अन्ततः अपने सामाजिक उद्देश्यों में निहित होता है। इसलिये अतीत से यह मौखिक परम्पराओं में लिखित इतिवृत्तों द्वारा हस्तांतरित होता है।[7] मौखिक इतिहास लोगों के समीप तक जाता है और इतिहास में उन्हें अवस्थित करता

है। वह समाज की उन आवाज़ों को स्थान देता है जो अतीत की पारम्परिक व्याख्याओं द्वारा खामोश करा दिये गये हैं।[8] इतिहास का प्रभाव वृहत् रूप से समाज पर पड़ता है तभी तो सारी दुनिया की सरकारें अपने पक्ष में इतिहास लिखवाती हैं। डीन इंज का इशारा था कि अतीत को खुदा भी नहीं बदल सकता।[9] पर इतिहासकार उस अतीत को न सिर्फ बदल सकता है बल्कि उसको मानवता के पक्ष में या विपक्ष में प्रस्तुत कर सकता हैं। इसीलिये पेशेवर इतिहासकारों को जनकोष से सहायता दी जाती है, बच्चों को स्कूलों में इतिहास पढ़ाया जाता है और लोकप्रिय इतिहास पुस्तकें सर्वाधिक बिकने वाली किताबें होती हैं।[10] भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान सुन्दरलाल की पुस्तक 'भारत में अंग्रेजी राज' जबरदस्त जन प्रतिरोध का प्रतीक बनी। इतिहास की यह पुस्तक लोगों के लिये न सिर्फ संघर्ष का हथियार बल्कि लड़ने के लिये ज़रूरी आत्मविश्वास बन गई। शहरों में ही नहीं गांवों में भी इसे एक 'पवित्र' पुस्तक की तरह सहेज कर रखा जाता था। लोग उसे पुलिस की नज़रों से बचा कर रखते थे।[11]

घबराकर अंग्रेजों को इस पुस्तक पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा था। पुस्तक के रचयिता सुन्दर लाल लिखते हैं– "पुस्तक का पहला संस्करण, 4000 प्रतियों का 18 मार्च, 1929 को प्रकाशित हुआ। पुस्तक लिखे जाने के दिनों में ही अंग्रेज शासकों के बीच इतनी खलबली मच गई थी कि इतनी बड़ी पुस्तक के प्रकाशन से पहले ही इसकी जब्ती का फैसला हो चुका था।

22 मार्च, 1929 को अंग्रेज सरकार की ओर से जब्ती की आज्ञा लेकर पुलिस प्रकाशक के दफ़तर पहुंच गई। इस बीच तीन दिनों के अन्दर ही किसी तरह 1,700 किताबें ग्राहकों के पास पहुंचा दी गई थीं। बाकी 300 के करीब सरकार ने रेल या डाकखाने में जब्त कर ली। इन 1700 के लिये भी ग्राहकों के पते लगा–लगा कर हिन्दोस्तान भर में सैकड़ों तलाशियां ली गई, जिसमें अनेक पुस्तकें पुलिस के हाथ लग गई। इस जब्ती और इन तलाशियों के ख़िलाफ देशभर में लगभग सब समाचारपत्रों और प्रमुख नेताओं ने अपनी आवाज़ उठाई। महात्मागांधी ने 'यंग इण्डिया' में इस जब्ती को 'दिन दहाड़े डाका' बताया और देशवासियों को खुली सलाह दी कि वे

तलाशी के अपमान को सह लें, किन्तु अपने पास की पुस्तक अपने हाथों से पुलिस को जाकर न दें और जहां तक हो सके अपनी चीज़ को बचा लें। स्वर्गीय सेठ जमनालाल बजाज जैसे नेताओं ने अपने और अनेक प्रांतों के अन्दर अनेक देशभक्तों ने ऐसा ही किया। यह न किया जाता तो इतनी पुस्तकों का बच पाना असंभव था। ..... इसके बाद यंग इण्डिया में उन्होंने (गांधी जी ने) इस पुस्तक पर कई सम्पादकीय लिखे। और लोगों को सलाह दी कि जब भी ब्रिटिश सरकार के कानून को तोड़कर सत्याग्रह करने का अवसर आये। इस पुस्तक के महत्वपूर्ण अंशों को नकल करके या छाप कर और खुले वितरण करके लोग जेल जा सकते हैं। चुनांचे इसके बाद के सत्याग्रह के दिनों में कई प्रांतों में विशेषकर मध्यप्रांत में अनेक लोग इसी पुस्तक पर सत्याग्रह करके जेल गये।"[12]

यह है इतिहास एवं इतिहास की पुस्तक की ताकत । पर इसी ताकत का प्रयोग शासक वर्ग हमेशा से करते आये हैं। अगर सही स्रोतों का सही ढंग से प्रयोग किया जाये तो जनता इतिहास के इतने करीब हो सकती है कि अपने शोषकों की आंखों में आंखे डालकर अपने प्रश्नों का जवाब पूछ सकती है। इतिहास के माध्यम से सामान्य जन अपनी ज़िन्दगी में घटने वाले उतार–चढ़ाव एवं परिवर्तनों को समझ सकने में समर्थ होते हैं– मसलन युद्धों एवं सामाजिक रूपान्तरण, जैसे युवाओं की बदलती स्थिति, तकनीकी परिवर्तन जैसे भाप की शक्ति का अन्त अथवा एक नये समुदाय से माइग्रेशन। स्थानीय इतिहास के द्वारा एक गांव या कस्बा अपने चरित्र के परिवर्तन में अर्थ ढूढंता है और नई पीढ़ी ऐतिहासिक ज्ञान की अपनी जड़ों का अहसास कर सकती है। जो राजनीतिक एवं सामाजिक इतिहास बच्चों को स्कूल में पढ़ाया जाता है उसके द्वारा उन्हें यह समझने एवं स्वीकार करने में मदद मिलती है कि जिस सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था में वह रह रहे हैं, वह कैसे आयी। उनके विकास में किस तरह 'शक्ति' एवं 'संघर्ष' ने खेल खेला है और खेल रहे हैं।[13] यहीं से शुरू होती है मूल अवधारणा की बात। इतिहास का कारक कौन है? कोई पराभौतिक शक्ति? महापुरूष? या फिर जनशक्ति ? यदि इतिहास जनाकांक्षाओं, जन संघर्ष एवं

जन शक्ति की अभिव्यक्ति है तो मौखिक स्रोतों का महत्व था, है और रहेगा, क्योंकि कभी भी दस्तावेजों में सब कुछ नहीं संजोया जा सकता। न फिलहाल सम्भव है।[14] इसलिये जनता का इतिहास लिखने के लिये एवं जनता को इतिहास में अवस्थित करने के लिये ज़रूरी है कि हम स्रोतों के लिये भी उनके पास जायें क्योंकि लिखित दस्तावेजों (जो बहुधा सरकारी होता है) में अधिकांशतयः जनता का पक्ष नहीं होता, जो होता भी है वह अपर्याप्त है और उसका सही प्रयोग नहीं होता। ऐसे में मौखिक इतिहास में साक्ष्य ग्रहण करने हम जनता के करीब जाते हैं और उनके पूछे प्रश्नों के उत्तर मे जो प्रश्न इतिहास के सामने खड़े होते हैं – उनका जवाब देना होता है। मौखिक इतिहास की चुनौती अंशतः इतिहास के इसी अनिवार्य सामाजिक उद्देश्य में निहित होती है। वहीं बड़ा कारण है कि वह कुछ इतिहासकारों को बेहद उत्तेजित करता है। तथा अन्य को बहुत डराता है।[15]

मौखिक इतिहास, इतिहास को अधिक लोकतांत्रिक बनाता है। बल्कि यह अभिजन इतिहासकारों के एकाधिकार को चुनौती देता है और एक लोकतांत्रिक विकल्प प्रस्तुत करता है। सामान्य लोग न केवल इतिहास में जगह पाते हैं बल्कि उनकी ऐतिहासिक ज्ञान के उत्पादन में भी भूमिका होती है। पूर्वी लन्दन में 'पीपुल्स बायोग्राफी आफ हैकनी' स्थानीय निवासियों के लिये एक खुला समूह है, जो एक दूसरे का जीवन्त इतिहास रिकार्ड करते हैं। इसके प्रतिलेख (transaipt) को पैम्फलेट के रूप में प्रकाशित करते हैं और उसे एक स्थानीय किताब की दुकान से लोगों तक पहुंचाते हैं। यद्यपि इसमें पढ़े लिखे लोग शामिल होते हैं, लेकिन उसमें कोई पेशेवर इतिहासकार नहीं होता, अगर वे शामिल होते तो लोगों का अतीत के प्रति उनकी अपनी अवधारणा में विश्वास कम होता। इसके पीछे विचार यह है कि मौखिक कार्य द्वारा एक समुदाय को अपना इतिहास खोजना चाहिये और अपनी सामाजिक पहचान विकसित करनी चाहिये।[16]

इस तरह मौखिक इतिहास, इतिहास को जनता के करीब ले जाता है। मौखिक इतिहास लिखित रिकार्ड में निहित सामाजिक तथ्यों की सावधानी पूर्वक

सुव्यवस्थित करने के साथ सामान्य लोगों की आवाज़ सुने जाने का प्रावधान करता है।[17]

मौखिक इतिहास अनिवार्यतः परिवर्तन का एक उपकरण नहीं है बल्कि यह उस भावना पर निर्भर करता है जिसके तहत इसका प्रयोग हो रहा है फिर भी मौखिक इतिहास निश्चिततः इतिहास के संदर्भ एवं उद्देश्य को परिवर्तित कर सकता है। यह इतिहास के 'फोकस' को परिवर्तित करने के लिये प्रयुक्त हो सकता है और यह नये परीक्षणों के लिये मार्ग खोल सकता है। यह गुरू शिष्य के बीच, पीढ़ियों के बीच, शैक्षणिक संस्थाओं एवं बाहरी दुनिया के बीच की बाड़ों को तोड़ सकता है। यह लोगों को उनका इतिहास उन्हीं के शब्दों में वापस कर सकता है और उन्हें प्रमुख स्थान दिला सकता है, जिन्होंने इतिहास बनाया है अनुभव किया है। निस्संदेह मौखिक इतिहास अतीत की अधिक यथार्थपरक पुनर्रचना करता है। यथार्थ बहुत जटिल एवं बहुआयामी होता है। अधिकांश मौजूदा रिकार्ड शासक वर्ग का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। मौखिक इतिहास पहले से स्थापित वर्णनो को चुनौती देता है। इस कार्य को करते हुए मौखिक इतिहासकार समग्रता में इतिहास के सामाजिक संदेश के लिये आमूल परिवर्तन प्रस्तुत करता है। मौखिक इतिहास से इतिहासलेखन का 'स्कोप' स्वयं विस्तृत और समृद्ध हो जाता है और साथ ही इसका सामाजिक संदेश परिवर्तित हो जाता है। इतिहास अधिक लोकतांत्रिक हो जाता है। राजाओं के इतिवृत्तों के स्थान पर इसकी चिन्तायें सामान्य लोगों के जीवनानुभव में शामिल हो जाती हैं। इतिहास लिखने की प्रक्रिया अपने संदर्भ के साथ बदल जाती है। यह परिवर्तन मौखिक इतिहास की प्रणाली में रचनात्मक एवं सहयोगी चरित्र से उद्भूत होता है। एक बार रिकार्ड हो जाने के बाद मौखिक स्रोत पुस्तकालय में अन्य स्रोतों की तरह प्रयुक्त किये जा सकते हैं।[18] संक्षेप में मौखिक इतिहास सामाजिक इतिहास को एक मानवीय चेहरा देने काप्रयास करता है।

मेरी स्टुअर्ट माइकल फ्रिश को उद्घृत करते हुए कहती हैं कि मौखिक इतिहास की प्रक्रिया अतीत एवं वर्तमान के बीच चलने वाला आवश्यक 'विषय' होता है।[19]

इस तरह मौखिक इतिहास स्वयं में एक विशाल फलक समेटे हुए है। यह विषय इतना विशद है कि इसमें मनुष्य की छोटी–छोटी पीड़ाओं से लेकर सामाजिक परिवर्तन की बातें शामिल होती हैं। उसमें किसी समुदाय की सामूहिक स्मृति से लेकर व्यक्तिगत स्मृति तक शामिल हो सकती है। यह सामूहिक स्मृति एक समुदाय को निजता की पहचान देती है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में सामूहिक स्मृति फिलीस्तीनी लोगों के लिये विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो गई है। अपने गृह स्थल से चालीस वर्षो के निर्वासन के दौरान सामूहिक स्मृति ने उन्हें अपनी पहचान एवं संस्कृति एवं निजताबोध को बचाये रखने में सहायता दी है। अनेकों स्थितियों ने फिलीस्तीनी लोगों की सामूहिक स्मृति के कारण को पुष्ट किया है। इज़राइल राज्य की स्थापना के बाद फिलिस्तीन का आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक ढांचा पूरी तरह नष्ट हो गया और इसने एक राज्यविहीन लोगों को निर्मित किया। सन् 1948 के बाद से फिलीस्तीनी लोगों के अस्तित्व को नकारा गया। एक राज्यविहीन जन के रूप में फिलीस्तीनी लोगों ने सरकारी संस्थाओं एवं दस्तावेजों के अभाव में, सामूहिक स्मृति द्वारा अपने इतिहास को संरक्षित किया है। शरणार्थी शिविरों में फिलीस्तीनियों ने अपने ग्राम समाज के सामाजिक ढांचे के अनुरूप स्वयं को पुनः समूहबद्ध किया। स्थितियां जहां तक अनुमति देती हैं, एक परिवार एवं एक गांव के लोग उसी शरणार्थी शिविर में रहते हैं, जिससे उनके गांव की परम्परा एवं सामाजिक ढांचे की निरंतरता सुरक्षित एवं संरक्षित रहे। इस तरह वे अपनी आदतें, वेशभूषा, लोक कथायें, गाथायें, गीत नृत्य एवं भोजन अक्षुण्ण रखते हैं। अधिकांश लोग अन्तर्ग्रामीण विवाहों को बचा कर रखते हैं जिससे पीढ़ी दर पीढ़ी ग्रामीण समुदायों की निरंतरता बनी रहे।

फिलीस्तीनियों के लिये सामूहिक स्मृति एक खो चुकी गृहभूमि के अतीत से एकमात्र सम्पर्क हैं। यह सामूहिक स्मृति जितने विस्तार से सम्भव है, नई पीढ़ी को हस्तांतरित कर दी जाती है, जिससे बच्चे अजनबियत एवं असुरक्षा से बचें, और इसलिये कि आने वाली पीढ़ियां उस ज़मीन की विरासत का एक अंश ही ग्रहण करें,

जहां उनका जन्म नहीं हुआ। इस तरह 'गृहस्थान' अगली पीढ़ियों में जीवित रहता है और उनके ऊपर इस मुक्ति का उत्तरदायित्व आ जाता है।[20]

भारत में विभाजन से प्रभावित लोगों की भी एक सामूहिक स्मृति है। उस स्मृति में महीन दर्द है जिन्हें इतिहास में अभी तक शामिल नहीं किया गया है। पारम्परिक तरीके से इतिहास लिखने वाले यह आपत्ति कर सकते हैं कि इन सामूहिक दर्दो या मनुष्य की छोटी–छोटी पीड़ाओं की कोई वस्तुगतता नहीं होती अतः इनका इतिहास में कोई स्थान नहीं हो सकता। यह सही नहीं है। युद्धों से उपजी पीड़ा एक ऐतिहासिक सच है और उसे सिर्फ मौखिक इतिहास ही रेखांकित कर सकता है। बल्कि द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् ही मौखिक साक्ष्यों को आधार बनाकर इतिहास लिखने की प्रणाली अधिक प्रचलित हुयी। एक समुदाय की पीड़ा को मौखिक इतिहास ही छू सकता है और उसे ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में संरक्षित कर सकता है। इलाहाबाद के एक ख़ासे रईस अपने ज़माने में इलाहाबाद के मेयर रह चुके और एक सफल ज़िन्दगी जीने वाले तथा स्वतन्त्रता संग्राम में हिस्सा ले चुके 98 वर्षीय जुल्फेकारुल्लाह साहब (इनके पिता के नाम पर इलाहाबाद की प्रसिद्ध नूरूल्लारोड है) अपनी दर्द भरी आवाज़ में कहते हैं–

"देखिये हमारा पहले भी ख़याल था कि आज़ादी ऐसी सूरत में मिलेगी जब हमारी स्थिति हिन्दुस्तान में कुछ रहेगी नहीं। हम दोयम दर्जे के नागरिक रहेंगे। वही रहा बहुत दिनों तक, अब थोड़ी सी कमी आ रही है, बहुत थोड़ी सी कमी पर ज़रा सा मामूली आदमी भी आकर कह देता है जाओं पाकिस्तान जाकर रहो। तो कितना बुरा लगेगा हमें ?"[21]

उनकी यह पीड़ा महज व्यक्तिगत पीड़ा नहीं है बल्कि यह पूरे समुदाय की पीड़ा है और उससे भी आगे बढ़कर यह एक ऐतिहासिक पीड़ा है जिसे मौखिक इतिहास के एक उपक्रम में कैसेट संख्या M6 में कैद किया है और यह आवाज़ अतीत की एक ऐसी आवाज़ होगी जो आने वाली कई पीढ़ियों को विभाजन की कसक बतायेगी – वह उन्हें याद दिलायेगी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की सबसे बड़ी

असफलता और सबसे दुखती रग की। इस तरह मौखिक इतिहास सामुदायिक आवाज़ों को इतिहास में जगह देता है।

एलन नेविन के साथी एवं 1958 में उनके उत्तराधिकारी कोलम्बिया विश्वविद्यालय में 'ओरल हिस्ट्री प्रोजेक्ट' के निदेशक लुई स्टार (1917–1980) ने एनसाइक्लोपीडिया ऑफ लाइब्रेरी एण्ड इन्फॉर्मेशन साइंस' में परिभाषा की है कि – "मौखिक इतिहास बोले जाने वाले शब्दों को रिकार्ड कर प्राथमिक स्रोत सामग्री को रिकार्ड करना है। सामान्यतः यह योजनाबद्ध तरीके से टेपरिकार्डर में अंकित उन व्यक्तियों के साक्षात्कार होते हैं जिनके पास संरक्षित करने योग्य सूचनायें उपलब्ध होती हैं। यह एक उपकरण (tool) से अधिक एक अनुशासन (discipline) से कम होता है।"[22]

मौखिक इतिहास इस बात का सूचक है कि लगातार विकसित होते हुए विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी का प्रवेश इतिहास में भी हुआ है। मौखिक स्रोतों के साथ काम करना कोई नई बात नहीं है, बल्कि इसे पुनः पहचाना गया है । केवल नई बात यह है कि इसमें टेक्नॉलॉजी शामिल हो गई है।[23]

सामान्यतः मौखिक इतिहास के दो हिस्से होते हैं– मौखिक परम्परा एवं मौखिक साक्ष्य। पहली कोटि समष्टि की चेतना में उपजती है। इसमें शामिल किया जा सकता – मिथकों, गाथाओं, लोक–कथाओं, लोकगीतों, किवंदन्तियों और मुहावरों आदि को। इनके रचयिता अज्ञात होते हैं और इनमें से किसी एक व्यक्ति का व्याख्यात्मक हस्तक्षेप पता नहीं चलता। इसका अर्थ यह नहीं कि इनमें कोई व्याख्या या संयोजन नहीं होता। इनमें संजोये मूल्य एवं व्याख्यायें समष्टि की एवं सार्वजनिक होती है। उनमें वर्ग जाति या धर्म सम्प्रदाय के पूर्वाग्रह होते हैं फिर भी वे एक समष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं।[24] मौखिक परम्परायें तभी उपस्थित होती हैं जब वह कही जाती हैं। कुछ समय के लिये वह सुनी जा सकती है किन्तु अधिकांशतः वह लोगों के मस्तिष्क में निवास करती हैं। मस्तिष्क स्मृति के माध्यम से संस्कृति को पीढ़ी दर पीढ़ी पहुंचाता है।[25]

दूसरी कोटि में साक्ष्य के वाहक की सचेतन या अचेतन व्याख्या बनी रहती है। उदाहरण के लिये अगर किसी का साक्षात्कार लिया जा रहा है तो वह अपनी राजनीति शिक्षा और अनुभव के आधार पर तथ्य प्रस्तुत करता है। इसलिये ऐसे साक्ष्यों की विश्वसनीयता के बारे में स्पष्टता आवश्यक होती है। ऐसे लोगों का साक्षात्कार प्रश्नावली के साथ और उनके बिना होना चाहिये और स्वतःस्फूर्त उत्तरों के साथ उत्प्रेरित उत्तर भी संग्रह करने चाहिये। इसके लिये शोधक का अध्येय विषय तथा मनोविज्ञान का जानकार होने के साथ ही बहुत जागरूक और रचनात्मक होना चाहिये।[26] मौखिक इतिहासकार के लिये स्रोत, सूचना देने वाले की जिन्दगी में घटी समकालीन घटनाओ एव स्थितियों से सम्बन्धित स्मृतियां, कहावते एवं प्रत्यक्षदर्शी के वर्णन होते हैं।

मौखिक परम्पराओं से वह इस मायने में भिन्न होते हैं कि परम्परायें समकालीन नहीं होती। यह सूचना देने वाले की ज़िन्दगी के परे ज़बान से ज़बान तक गुजरती रहती हैं। स्रोतों को एकत्रित करने से लेकर उनके विश्लेषण तक में दोनों स्थितियों में बहुत अन्तर होता है। मौखिक इतिहासकार तात्कालिक घटनाओं का साक्षात्कार करता है। इस तरह के साक्षात्कारों की लिखित स्रोतों अथवा पूर्व प्रकाशित साक्ष्यों से एवं रेडियो और टी.वी. से मिलने वाली सूचना से तुलना की जाती है। इसका उद्देश्य होता है साक्ष्यों को नष्ट होने से बचाना, घटनाओं/स्थितियों का प्रथम मूल्यांकन तथा अध्ययन करना तथा घटनाओं में हिस्सा लेने वालों में चेतना को विकसित करना।[27]

मौखिक इतिहास शब्दावली टेपरिकार्डर की तरह नई अवश्य है और इसके पास भविष्य के लिये रैडिकल कार्यक्रम भी हैं किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि इसका कोई अतीत नहीं है। वस्तुतः मौखिक इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना कि इतिहास स्वयं। यह अपने आपमें प्रथम प्रकार का इतिहास है।[28] लेखन क्रिया प्रचलित होने के पूर्व एवं आज भी निरक्षर समाजों में मौखिक साक्ष्य अद्भुत महत्व रखते हैं।[29]

मौखिक परम्परायें तो इतिहास का मूल स्रोत रही हैं। इतिहास के स्रोतों को

पीछे पलट कर अगर हम क्रमशः तलाश करने जाये तो हम पायेंगे कि इतिहास का पहला शब्द मौखिक ही था। आदिम समाज के सभी सोपानों पर इतिहास मौखिक ही था। आज भी भारत सहित अनेक देशों में ऐसी आदिम जातियां रहती हैं जिनका कोई लिखित इतिहास नहीं है। समूचे अफ्रीका में तो मौखिक इतिहास की लम्बी परम्परा ही रही है। जैन वैनसिना ने अफ्रीका के इतिहास का मौखिक स्रोतों द्वारा खूबसूरत अध्ययन किया है। अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक 'ओरल ट्रेडीशन्स एज़ हिस्ट्री' में उन्होंने मौखिक परम्पराओं के इतिहास में प्रयोग के विषय में विस्तार से वर्णन किया है। विख्यात उपन्यासकार एलेक्स हेली के विश्वप्रसिद्ध उपन्यास 'रूट्स' (जो एक ऐतिहासिक गल्प है) में हेली ने मौखिक साक्ष्यों को आधार बना कर 12 वर्षो की अथक खोज के उपरांत अपने परिवार का उदगम प्रस्तुत किया है। इस रोचक उपन्यास में हेली ने अपनी मां की तरफ से छः पीढ़ी पहले की जड़ें तलाश की। अपनी नानी मां से अपने पूर्वजों की कहानी सुनते–सुनते अतीत के प्रति हेली की रूचि जागी। 'को' जिसका अर्थ है गिटार तथा 'कैम्बी बोलंगो' जो वर्जीनिया में एक नदी का नाम है, इन दो शब्दों का आधार पकड़ कर हेली ने अथक परिश्रम से लोगों से बातचीत करते हुए अफ्रीका में जाम्बिया के एक गांव में अपने छः पीढ़ी पूर्व पूर्वज 16 वर्षीय 'कुण्टा किण्टे' का सुराग पाया। इस काले नौजवान को उसकी मातृभूमि से पकड़ कर गुलामों के बाज़ार में लाया गया। अमरीका की भूमि में मासा (मालिक) की यातनायें झेलते–झेलते उसकी पीढ़ियां अमरीका में ही गुलामी से मुक्त हुयीं। इस उपन्यास को लिखने में हेली ने मौखिक साक्ष्य के साथ–साथ इतिहास की पुस्तकों अभिलेखागारों से साक्ष्य की पुष्टि और जैन वैनसिना जैसे मौखिक इतिहासकारों से लम्बी बातचीत भी शामिल है।

एलेक्स हेली बताते हैं कि अफ्रीकी गांवों से बेहद वृद्ध लोग जो 'ग्रियट' (griot) कहलाते हैं, उनकी ज़िम्मेदारी होती है कि वह गांव के लोगों को, नई पीढ़ियों को उनके इतिहास के बारे में बताते हैं। यह लोग मौखिक इतिहास के चलते फिरते अभिलेखागार होते हैं। एक साठ सत्तर साल का बूढ़ा 'ग्रियट' जिसके युवा शिष्य 'ग्रियट' होते हैं। वह उन लड़कों को इतिहास का प्रशिक्षण देता है, इस तरह कि एक

लड़का 40–50 साल पहले के अतीत का वर्णन कर सके। वह वरिष्ठ ग्रियट के रूप में चुना जाता है, जो प्रमुख अवसरों पर गांवों का, वंशों का, परिवारों का और महान नेताओं का शताब्दियों पुराना इतिहास सुनाता है। पूरे काले अफ्रीका में इस तरह के प्राचीन इतिवृत्त पुराने पुराणों के ज़माने से हस्तांतरित होते रहे हैं। वहां कुछ युगपुरूष (legendry) 'ग्रियट' हुए हैं जो अफ्रीकी इतिहास के लम्बे तथ्यों को बिना दुहराये तीन दिनों तक वर्णित कर सकते हैं।[30]

इस तरह सारी दुनिया में आरम्भ में मौखिक शब्दों का प्रयोग प्रचलित था किन्तु धीरे–धीरे लिखित शब्दों की स्थापना होती गई और लिखित शब्द पवित्र माने जाने लगे और दस्तावेज नहीं तो इतिहास नहीं तक बात पहुंची। किन्तु किसी न किसी रूप में मौखिक शब्द प्रयुक्त होते रहे। इतिहास का जनक कहे जाने वाले हेरोदोतस ने अपने इतिहास में मौखिक स्रोतों का प्रयोग किया है। पांचवी शताब्दी ईसा पूर्व हेरोदातस ने प्रत्यक्षदर्शियों से बातचीत की प्रणाली इस्तेमाल की थी। तीसरी शताब्दी में लूसियां ने भावी इतिहासकारों को सूचना देने वाली की प्रेरणाओं में शामिल करने की सलाह दी।[31]

आठवीं में बेडे ने अपनी पुस्तक "हिस्ट्री आफ द इंग्लिश चर्च एण्ड पीपुल" में अन्य स्रोतों के साथ प्रत्यक्षदर्शियों के वर्णन का प्रयोग किया है। वह लिखते हैं "मैं जो जानता हूँ, इसके अलावा में किसी एक लेखक पर निर्भर नहीं हूं बल्कि उन अनगिनत विश्वसनीय प्रत्यक्षदर्शियों पर आधारित हूँ जो तथ्यों के बारे में जानते हैं और याद रखते है।"[32]

सोलहवीं शताब्दी में इटली के गुइकार्दिनी दस्तावेजों से सीधे उद्धरण लेने में हिचकते हैं। उनका मानना है वह समय जिसका वह वर्णन करते हैं उसमें उनकी अपनी हिस्सेदारी सत्य की पुष्टि करने के लिये पर्याप्त है। क्लेरेंडन ने 'हिस्ट्री ऑफ द रेबेलियन एण्ड सिविल वार्स इन इंग्लैण्ड (1704)' में इसी तरह की बातें कही हैं। बिशप बर्नेट अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ ओन टाइम्स (1724)' में अत्यन्त सावधानी–पूर्वक मौखिक स्रोतों का प्रयोग करते हैं। 18वीं शती के प्रबुद्ध काल के

इतिहासकारों में वर्तमान इतिहास लिखने के लिये साक्ष्यों के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तित हुआ। वोल्तेयर पीढ़ी दर पीढ़ी कही जाने वाली सुदूर अतीत की परम्पराओं के मिथक को बकवास मानते हैं, जो कि इतिहास की नीवं है। फिर भी अपने काम के लिये उन्होंने मौखिक एवं दस्तावेजी साक्ष्यों दोनों को एकत्रित किया। वोल्तेयर ऐतिहासिक विद्वता की प्रकृति में एक बड़े परिवर्तन के युग के दौर पर खड़े थे।

पूरी अट्ठारहवीं शताब्दी में मुद्रित स्रोतों के भारी प्रसार ने इतिहासलेखन को सकारात्मक रूप से समृद्ध किया। 19वीं शताब्दी में सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ इंग्लैण्ड (1848–55)' में मैकाले ने गुइकार्डिनी और क्लेरेडंन के उत्तराधिकारी का काम किया। उसने मौखिक साक्ष्यों का रोचक प्रयोग किया है।

ऐतिहासिक उपन्यासों एवं साहित्य में वाल्टर स्काट से लेकर चार्ल्स डिकेन्स, चारलोट ब्रांट, जार्जमूर, इमारल जोला, एर्नोल्ड बेनेट, थामस हार्डी और भारत में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और अमृतलाल नागर जैसे लोगों ने मौखिक स्रोतों का प्रचुर प्रयोग किया।

दूसरी तरफ सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक जीवनी विषयक स्मृतियां या आत्मकथ्य के रूप में ऐतिहासिक कार्य सामने आये। संस्मरण के इस रूप में प्रयुक्त मौखिक स्रोत इतिहास के महत्वपूर्ण स्रोत बने।

कालांतर में 18वीं सदी के अन्त तक स्वतन्त्र सामाजिक इतिहास के रूप में इतिहासलेखन का नया रूप देखा जा सकता है। इस क्षेत्र में आरम्भिक प्रमुख उपलब्धियां स्काटलैण्ड में जॉन मिलर की 'ओरिजिन ऑफ दि डिस्टिंक्शन ऑफ फैक्ट्स' एवं 'स्टैटिसटिकल एकाउन्ट ऑफ स्काटलैण्ड' (1791–99 सम्पादन जान सिंक्लेयर) है। इसमें क्षेत्रीय अध्ययन का प्रयोग हुआ है।

19वीं शताब्दी में क्षेत्रीय कार्य प्रणाली का विकास देखा जा सकता है– इसी समय सामाजिक सिद्धान्त अलग से आगे बढ़ा। 19वीं सदी के मध्य में मार्क्स एवं एंगेल्स ने अपने राजनीतिक लेखन में सीधे अपने अनुभव एवं ढेर सारे मिलने वालों एवं प्रतिनिधियों के लिखित और मौखिक रिपोर्ट को शामिल किया। एंगेल्स ने अपनी

'कन्डीशन ऑफ वर्किंग क्लास इन इंग्लैण्ड इन 1844' में समाचार पत्र, ब्लूबुक एवं अन्य समकालीन टिप्पणियों के अतिरिक्त मेहनतकश वर्ग के जीवन के अपने अनुभव को भी शामिल किया है। अपने सैद्धान्तिक विश्लेषण के प्रतिपादन के लिये मार्क्स मुख्यतः प्रकाशित सामग्री पर ही निर्भर थे। 'कैपिटल' ग्रन्थसूची एवं फुटनोट सहित सघन रूप से दस्तावेजों से लैस है। क्लासिकल साहित्य से लिये गये कुछ उद्धरणों के अतिरिक्त मार्क्स ने दो प्रकार के स्रोतों का उल्लेख किया है– समकालीन आर्थिक एवं राजनीतिक सिद्धान्त एवं टिप्पणियां एवं समकालीन वर्णन जिसमें समाचारपत्रों एवं ब्लूबुकों के उपाख्यान शामिल हैं। निस्संदेह मार्क्स का नये क्षेत्रीय अध्ययन करने की बजाये पहले से प्रकाशित मौखिक साक्ष्यों का ही प्रयोग अंशतः उनकी व्यक्तिगत पसंद हो सकती है।

अपनी क्लासिक रचना 'हिस्ट्री ऑफ ट्रेड यूनियन्ज़िम (1847) में बीट्रिस वेब एवं सिडनी वेब ने अत्यन्त व्यवस्थित तरीके से दस्तावेजी साक्ष्यों के साथ मौखिक स्रोतों का वर्णन किया है। बीट्रिस वेब ने अपनी आत्मकथा 'माई एप्रेन्टिसशिप' (1926) में साक्षात्कार पर अलग से एक परिशिष्ट दिया है।

जान मार्ले ने 'लाइफ आफ ग्लैडस्टोन' (1903) एवं लेविस नेमियर ने 40 वर्षोपरांत 'डिप्लोमैटिक प्रील्यूड 1938–39' में मौखिक स्रोतों का प्रयोग किया। नेमियर ने लिखा है कि "समकालीन इतिहास के विद्यार्थियों के लिये यह आसानी है कि वे उसमें हिस्सेदार लोगों से बातचीत कर सकते हैं।"[33]

प्रसिद्ध फ्रांसीसी इतिहासकार जूल्समिशेल ने 'हिस्ट्री ऑफ फ्रेंच रिवोल्यशन' में मौखिक साक्ष्यों का प्रयोग किया है। उन्होंने महसूस किया कि सरकारी दस्तावेज कहानी का केवल एक पक्ष प्रस्तुत करते हैं। उन्नीसवी शताब्दी के इतिहासकारों ने आत्मविश्लेषण नहीं प्रस्तुत किया है।

सारबॉन के सी.वी. लैंग्लाइस एवं चार्ल्स, सीनॉब्स ने अपने क्लासिक मैनुअल 'स्टडी ऑफ हिस्ट्री' (1898) की प्रस्तावना में प्रस्तुत किया है– "इतिहासकार दस्तावेजों के साथ काम करता है। दस्तावेजों का कोई स्थान नहीं ले सकता।"[34]

धीरे–धीरे लिखित और मुद्रित शब्दों की आधिकारिता बढ़ने लगी और मौखिक स्रोत गुमनामी में गुम होने लगे। मुख्यतः द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् मौखिक इतिहास ने पुनः गुमनामी की धुंध से बाहर निकलना शुरू किया। आधुनिक रूप में जो मौखिक इतिहास अस्तित्व में है उसका अंकुरण द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हुआ किन्तु यह केवल नई–विधा या उपकरण नहीं है। मौखिक साक्ष्य दस्तावेजों को न केवल उत्तरतिथीय बनाता है बल्कि पूर्वतिथीय भी बना देता है।[35]

आधिकारिक रूप से मौखिक इतिहास की शुरूआत सबसे पहले कोलम्बिया विश्वविद्यालय के एलन नेविन ने 1948 में की जबकि, उन्होंने अमेरिकी जीवन के प्रमुख व्यक्तियों की स्मृतियों को रिकार्ड करना शुरू किया।[36]

जैसे–जैसे मानव समाज एवं इतिहास विकसित होता गया, उसकी बढ़ती समझ पर विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी का प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। एलन नेविन के समय टेप एवं टेलीफोन तथा आज उन्नत किस्म के रिकार्डिंग सिस्टम एवं वीडियो कैमरा इतिहास अतीत के दस्तावेजीकरण (documentation)की विकसित प्रणाली है। विज्ञान के बढ़ते विकास ने ही नेविन को इतिहास संरक्षित करने की नई प्रणाली अपनाने को प्रेरित किया। उन्होंने ध्यान दिया कि विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी के प्रभाव में लोग अधिकाधिक मात्रा में एवं फोन के आदी हो गये हैं जो आज कम्युनिकेशन का प्रमुख उपकरण है तथा सामान्यतः लोग पत्रलेखन एवं डायरी रखने की आदत खत्म कर रहे हैं। अतः इतिहासकार दो महत्वपूर्ण सूचना से वंचित होते जा रहे है। यह हानि वह शिद्दत से महसूस करते थे। नेविन इस बात से सहमत थे कि योग्य साक्षात्कार कर्त्ता टेपरिकार्डर पर उन लोगों की स्मृतियों को, जिनके पास सूचना है, संग्रहीत कर इस हानि को कम कर सकते हैं। इस तरह मौखिक इतिहास में टेक्नॉलॉजी से उत्पन्न हानि के ख़िलाफ टेक्नॉलॉजी का प्रयोग कर सकते है।[37] एलन नेविन अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'गेटवे टू हिस्ट्री' में लिखते हैं – "वर्तमान युग में 'जबकि घटनाओं को रिकार्ड करने के वृहत् उपकरण है, ज़िन्दगी के प्रत्येक पक्ष पर पर्याप्त साक्ष्य प्राप्त किया जाना चाहिये।"[38]

प्रो. एलन नेविन ने 1848 में 'मौखिक इतिहास (Oral History) शब्दावली को प्रस्तुत किया था। यद्यपि कोई सीधा साक्ष्य नहीं था परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपने समकालीन जो गाउल्ड (1884–1957) से प्रभावित थे, जिन्होंने 'ओरल हिस्ट्री ऑफ अवर टाइम्स' संकलित की थी। गाउल्ड ने मौखिक इतिहास के बारे में लिखा है– "अचानक मौखिक इतिहास का विचार मेरे दिमाग में कौंधा। मैं अपना शेष जीवन शहर के विषय में जानने में लगा दूंगा, लोगों को सुनुंगा और जो सुना है उसमें जो महत्वपूर्ण है उसके बारे में लिखूंगा, इससे कोई फरक नहीं पड़ता कि वह सुनने में कितना उबाऊ, बेवकूफी भरा, बल्गर या अश्लील लगता हो।" इतिहास के बारे में उनके अपने विचार थे। उन्होंने लिखा "किसी देश का इतिहास संसद में या युद्ध के मैदान में नहीं होता बल्कि उसमें होता है जो लोग आपस में 'बतियाते है', अपने अच्छे दिनों के बारे में या वह झगड़ा कैसे करते हैं, अथवा तीर्थयात्रा पर जाते हैं।"[39] जो गाउल्ड ने गांव में लोगों से कहा था कि उनका मौखिक इतिहास लाखों शब्दों का है जो बाईबिल से भी लम्बा है। निस्संदेह वह सबसे लम्बी अप्रकाशित साहित्यिक मैन्युस्क्रिप्ट है, लेकिन वह हमेशा अधूरी रही । उनके पास सुनी हुयी बातों की व्याख्या करने की अद्भुत प्रतिभा थी। उन्होंने दावा किया कि यह प्रयास उनके काम को 'क्लासिक' बना देगा। सम्भवतः जो गाउल्ड और एलन नेविन कभी मिले नहीं, परन्तु यह तय है कि नेविन ने 'ओरल हिस्ट्री' शब्द ज़रूर सुना होगा, क्योंकि अनेकों बार न्यूयार्क हेरल्ड ट्रिब्यून में जो गाउल्ड के मौखिक इतिहास के बारे में रोचक खबरें प्रकाशित हुयीं। उदाहरण के लिये 2 मार्च 1934 को एक रिपोर्ट छपी कि गाउल्ड का मौखिक इतिहास 75,00,000 शब्दों वाला है। पुनः 10 अप्रैल 1937 को प्रकाशित हुआ कि उनके मौखिक इतिहास की लम्बाई 88,00,000 शब्दों तक पहुंच गई है और पुनः 24 अगस्त 1941 को इसी पेपर में छपा कि उनका मौखिक इतिहास 7 फीट की ऊंचाई तक पहुंच गया है। अतः एलन नेविन ने जो पहले पत्रकार थे और समाचार पत्रों के गहन अध्ययनकर्ता थे उन्होंने इस 'ओरल हिस्ट्री' शब्द को अवश्य पढ़ा होगा।

परन्तु गाउल्ड एवं नेविन की मौखिक इतिहास के प्रति अलग–अलग

अवधारणा थी। गाउल्ड के लिये उस समय की शर्त यही थी कि मौखिक साक्ष्यों को एकत्रित करना ही मौखिक इतिहास है। उनके पास मौखिक इतिहास में साक्षात्कार लेने का कोई योजनात्मक विचार नहीं था। गाउल्ड एवं नेविन का इतिहास के प्रति न केवल अलग विचार था बल्कि उनकी प्रणाली भी अलग थी। निश्चिततः नेविन अधिक वैज्ञानिक थे। उन्होंने मौखिक इतिहास द्वारा उस ज्ञान एवं अनुभव को सुरक्षित करने की कोशिश की जो उचित रिकार्ड की कमी के कारण नष्ट हो रहा था। उन्होंने मौखिक इतिहास द्वारा ज्ञान एवं अनुभव को सुरक्षित करने की कोशिश की जो उचित रिकार्ड की कमी के कारण नष्ट हो रहा था। उन्होंने मौखिक इतिहास को अपने साक्षात्कार कार्यक्रम को व्यवस्थित करने के लिये लगातार इस्तेमाल किया। इस तरह मौखिक इतिहास साक्षात्कार प्रोजेक्ट के लिये परिचित होने लगा।[40] एलन नेविन एक विशिष्ट पत्रकार, कूटनीतिज्ञ और इतिहासकार थे। उन्हें दो बार पुलित्ज़र पुरस्कार मिला। वह इतिहास को रोचक किन्तु विद्वतापूर्वक लिखे जाने के अभियानकर्त्ता थे। उनका कहना था कि "दस्तावेज निकलता है, उस जीवित व्यक्ति की जिह्वा से जिसने भोगे हुए अतीत की स्मृतियों के महत्व के ऐतिहासिक निष्पादन में हिस्सा लिया था।"[41]

यद्यपि मौखिक साक्ष्य जबसे इतिहास लिखा जाने लगा है तभी से इतिहास लिखने का एक नियमित अंग है किन्तु विश्वयुद्ध के उपरांत इसमें नाटकीय रूप से गति आयी। तब से आज तक मौखिक इतिहास में असंख्य काम हुए हैं। यूरोप एवं अमेरिका में मौखिक इतिहास के अनेकों केन्द्र हैं।

मौखिक अभिलेखागार सबसे पहले अमेरिका में प्रचलित हुए। आज अमरीका में सैकड़ों ओरल हिस्ट्री आर्काइव्स एवं प्रोजेक्ट है। अमेरीका में ओरल हिस्ट्री एसोसिएशन की स्थापना 1967 में हुयी थी। इसका एक जर्नल 'ओरल हिस्ट्री रिव्यू' निकलता है। अमेरिका का मौखिक इतिहास लिखने के लिये कोलम्बिया विश्वविद्यालय में ओरल हिस्ट्री ऑफिस की स्थापना की गई है।[42]

ब्रिटेन में मौखिक इतिहास का कोई केन्द्रीय अभिलेखागार नहीं है किन्तु वहां पर पॉल थाम्पसन के नेतृत्व में मौखिक इतिहास के नाम से एक आन्दोलन ही

चल पड़ा है। बी.बी.सी. अपने साउन्ड आर्काइव्स में केवल प्रसारित होने वाली सामग्री रखता है और यह केवल प्रमाणित शोधकर्ताओं के लिये ही खुला है। आम जनता को ब्रिटिश इन्स्टीट्यूट ऑफ रिकार्डेड साउन्ड में भेजा जाता है।[43] इसके अतिरिक्त स्थानीय स्तर पर अनेकों ओरल हिस्ट्री सोसाइटी हैं। औपनिवेशिक इतिहास एक ऐसा विषय है जो मुख्यतः मौखिक इतिहास पर आधारित है। यह उन देशों में जहां लिखित रिकार्ड पारम्परिक रूप से नहीं प्रचलित हुए हैं, ब्रिटिश अनुभव को रिकार्ड करता है। औपनिवेशिक मौखिक अभिलेखागार आक्सफोर्ड एवं केम्ब्रिज दोनों में स्थापित किये गये हैं। इन्डिया ऑफिस लाइब्रेरी एवं रिकार्ड्स में एक विशिष्ट अभिलेखागार बनाया गया है। इससे प्रमुख रूप से दो इतिहास प्रोजेक्ट जुड़े। पहला प्रोजेक्ट बी.बी.सी. द्वारा अपनी रेडियो श्रृंखला 'प्लेन टेल्स फ्राम राज' के लिये कराया गया। निर्माता माइकल कैसन द्वारा निर्मित एवं अधिकांशतः चार्ल्स ऐलेन द्वारा लिये गये लगभग 75 साक्षात्कार इन्डिया ऑफिस लाइब्रेरी एवं रिकार्ड में हैं। यद्यपि वक्ता अधिकांशतः ब्रिटिश थे या कुछ भारतीय भी थे जिन्होंने ब्रिटिश शासन में अपने जीवन की स्मृतियां रिकार्ड कराई हैं।

ब्रिटेन में सबसे बड़ा औपनिवेशिक मौखिक अभिलेखागार सेन्टर फार एशियन स्टडीज़ केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में है। 1964 में स्थापित इस संस्था में ध्वन्यांकित संग्रह हैं। अक्टूबर 1981 तक यहां विभिन्न शोधकर्ताओं द्वारा 274 रिकार्डिगं की गई। यहां पर भारत के ऊपर एक महत्वपूर्ण संग्रह हैं जिसमें महात्मागांधी एवं मुक्ति आन्दोलन से सम्बन्धित ढेरों लोगों से साक्षात्कार शामिल हैं। उमाशंकर नामक व्यक्ति ने 1960 के दशक के अन्त एवं 1970 के दशक के आरम्भ में 115 भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम सेनानियों से साक्षात्कार लिये किन्तु फण्ड की कमी के कारण उन्हें काम बन्द करना पड़ा। यद्यपि इस अभिलेखागार के पास मौजूदा भारतीय इतिहास से सम्बन्धित नेताओं के साक्षात्कार नहीं हैं फिर भी अध्येता घटनाओं में हिस्सेदारी करने वालों से सबसे पहला वर्णन सुन सकते हैं।[44]

भारत में तो मौखिक परम्पराओं की लम्बी श्रृंखला रही है। किस्से कहानियों

मुहावरों एवं गीतों के रूप में मौखिक परम्परा की अथाह सम्पदा यहां मौजूद है। पीढ़ी दर पीढ़ी ऋग्वेद की ऋचायें स्मृतियों में ही संरक्षित होती रही, जब तक वह लिख नहीं ली गई। मध्यकालीन भारत में राजपूत राज्यों में चारण होते थे जो शासक के इतिहास की प्रमुख घटनाओं को गाते थे।[45] सिक्ख धर्म के संस्थापक गुरूनानक देव (1469–1535) की कहानियां 60 सालों तक उनके अनुयायी सिक्खों में प्रचलित रही। वह सिक्खों की स्मृतियों का हिस्सा बन गई थी। जब भाई गुरदास ने 17 वीं शताब्दी में सिक्ख धर्म के संस्थापक के बारे में लिखा तो उनके सामने गुरू के बारे में मौखिक साक्ष्य किंवदंन्तियां एवं परम्परायें ही थीं। बाद में गुरूनानक की वह परम्परायें चार विभिन्न साखियों में लिखी गई। सिक्ख इतिहास के अधिकांश स्रोत मौखिक साक्ष्य पर आधारित है।[46]

11 वीं शताब्दी के पूर्व तेलगू साहित्य केवल मौखिक परम्पराओं में ही था। पीढ़ीगत स्मृतियां एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित हो जाती है। कुछ तेलगू लोककलायें आंध्र प्रदेश में सदियों से चली आ रही हैं– इनमें प्रमुख हैं– 'हरिकथा', बुर्राकथा, तीर्थिनाटकम्, कोलाटम, गोल्लासुद्दुलु, भजनालु, चेञ्चुवेशालु आदि। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान इन लोककला विधाओं का प्रयोग प्रतिरोध के लिये किया गया। साहित्य के क्षेत्र में गांधी जी, तिलक एवं अन्य राष्ट्रीय नेताओं का संदैश जनता में जंगल की आग की तरह फैला। 'गरिमेल्ला सत्यनारायण' उग्र रूप से ब्रिटिश शासन को अस्वीकार करते हुए गीत लिखते हैं– "हमें गोरों का शासन नहीं चाहिये।" इसे अंग्रेजों द्वारा प्रतिबन्धित कर दिया गया एवं कवि पर देशद्रोह का आरोप लगाया गया। 19वीं शती में पौराणिक महाकाव्यों की थीम पर नाटक लिखे गये। राष्ट्रीय आन्दोलन के गतिशील होने पर चन्द्रगुप्त, शिवाजी, झांसी की रानी, तिलक, पंजाब की दुर्घटनाओ जैसे देश भक्ति प्रदर्शित करने वाले नाटक लिखे गये।

इन सबमें 'बुर्राकथा' सबसे अधिक प्रचलित था। इसमें समकालीन राजनीति पर व्यंग्यात्मक टिप्पणियां, एक कहानी, संगीत एवं शरीर की लयात्मक गतिविधियां एवं मेकअप होता था। शंकर सत्यनारायण के बर्राकथा 'कष्टजीवी', 'अल्लुरी सीताराम

राजु' राष्ट्रीय चेतना के प्रति रूचि प्रदर्शित करते थें। 'हरिकथा' की विधा कोसुरी पुन्नैया द्वारा प्रचलित की गई थी। तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष के समय शंकर एवं वासुरेड्डी के 'मां भूमि' ने नगरीय एवं ग्रामीण जनता को एक समान उत्तेजित किया। औरतों ने भी खुलकर नाटक एवं बुर्राकथाओं में भाग लिया।[47]

प्रो. गुरक्कल बताते हैं कि केरल में इतिहास की मौखिक परम्परा 'केरलोलपति' नाम से जानी जाती है। कोरलोलपत्ति में इतिहास शताब्दियों से मौखिक परम्परा द्वारा हस्तांतरित होता आया है। इसके लेखक ब्राह्मण है। केरल में लम्बे समय से मौखिक इतिहास का यही ब्राह्मणवादी स्वरूप प्रचलित एवं स्वीकृत है क्योंकि समाज पर ब्राह्मणों का नेतृत्व बरकरार है। पूरे समाज एवं अर्थतन्त्र पर ब्राह्मणों का कब्जा होने के कारण ब्राह्मण सांस्कृतिक व्यवस्थाओं को भी उत्पादित और नियंत्रित करते थे।[48] इस तरह शासक की भाषा एवं इतिहास समाज की चालक भाषा एवं इतिहास बन जाते है। भारत में साहित्य लेखन में तो मौखिक स्रोतों का विशद प्रयोग हुआ हैं। परन्तु मौखिक इतिहास के रूप में स्थापित विधा नहीं है। प्रताप नरायण मिश्र सहित अनेक साहित्य कारों ने अपनी रचनाओं के लिये मौखिक स्रोतों का प्रयोग किया है। अमृतलाल नागर ने एक महत्वपूर्ण उपन्यास लिखा है– 'गदर के फूल'[49] इस ऐतिहासिक उपन्यास के लिये उन्होंने अवध क्षेत्र में मौखिक साक्ष्य एकत्रित किये। इस बेहद श्रमसाध्य कार्य में उन्होंने बाराबंकी से लेकर लखनऊ तक लगभग 30 गांवों में मौखिक परम्पराओं में बिखरें 'गदर के फूल' चुने और 1857 के विद्रोह का एक विलक्षण इतिहास उपन्यास की शैली में लिखा है। अब यह ऐतिहासिक 1857 के विद्रोह के बारे में जनश्रुतियों में बिखरे इतिहास के रूप में भविष्य की धरोहर है। भारत में पहली मौखिक इतिहास परियोजना का प्रारम्भ 1966 में दिल्ली स्थित नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम एवं लाइब्रेरी में शोध क्रियाओं के लिये किया गया। 1992 तक वहां राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित लगभग 3000 साक्षात्कार एवं प्रतिलेख हैं। वहां पर माउण्टबेटेन ख़ान अब्दुल ग़फ्फार ख़ान, दलाईलामा, ईरान के शाह, इन्दिरा गांधी, चरण सिंह, वी.वी. गिरी जयप्रकाश नरायण, आचार्य कृपलानी, कमलादेवी चट्टोपाध्याय एवं फैज़ अहमद

फैज़ सहित अनेकों प्रमुख लोगों के साक्षात्कार हैं।[50]

अरूण गांधी (महात्मा गांधी के पौत्र) तथा हीरो श्रॉफ ने 1982 में नेशनल आर्काइव ऑफ ओरल हिस्ट्री की शुरूआत बम्बई में की। उनका उद्देश्य प्रमुख राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक घटनाओं का लोगों द्वारा प्रथम वर्णन रिकार्ड करना है। इस बीच उन्होंने ब्रिटेन के नेशनल साउण्ड आर्काइब्स के साथ संयुक्त परियोजना की। हीरो श्रॉफ का कहना है– "भारत में मौखिक इतिहास बहुत सम्पन्न है, लेकिन उसको रिकार्ड करने में बेहद विपन्न है।" उनका मानना है कि अभी भी यहां यह एक सगठित क्षेत्र नहीं हैं।[51]

अलग–अलग जगहों पर मौखिक इतिहास के क्षेत्र में महत्वपूर्ण काम हो रहे हैं– इसी संदर्भ में अभी हाल में इलाहाबाद संग्रहालय में इलाहाबाद के 'राष्ट्रीय' आन्दोलन के सन्दर्भ में मौखिक इतिहास श्रृंखला शुरू की गई है। मौखिक इतिहास का अध्ययन आराम से कुर्सी पर बैठकर नहीं किया जा सकता। इसके लिये शोधकर्त्ता को भावात्मक एवं बौद्धिक तौर पर ही नहीं भौतिक तौर पर भी सम्पृक्त होना पड़ता है। जैसे पुरातत्व के क्षेत्र में होता है यहां भी शोधक को वैज्ञानिक और कलाकार दोनों ही बनना पड़ता है– तर्क और कल्पना, विश्लेषण और सृजनशीलता दोनों का ही सतत् प्रयोग करना पड़ता है– इतिहास की अपनी अवधारणा के प्रति दृढ़ता से जुड़े हुए भी उपकरणों के प्रयोग और पद्धति में बेहद लचीला होना पड़ता है। उसे अन्य विषयों की पद्धतियों का प्रयोग करना पड़ता है और यहां अन्तर्अनुशासनीय पहुंच का महत्व रेखांकित होता है।[52] मौखिक इतिहासकार को एक साथ कई–कई स्तर पर कार्य करना पड़ता है अतः उसका कार्य सामान्य शोधकार्यों से दुगुना–तिगुना हो जाता है।

व्यवहारिक रूप से मौखिक इतिहासकार अपने अध्ययनक्षेत्र से सम्बन्धित मौखिक साक्ष्यों को टेपरिकार्डर पर (या वीडियो कैमरे पर) रिकार्ड करता है। उसके बाद वह उन साक्षात्कारों को प्रतिलिखित करता है। रिकार्ड किये उन साक्ष्यों को अन्य लिखित प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों से वह उसकी पुष्टि करता है– उसके बाद वह किसी निष्कर्ष पर पहुंच कर वह उन साक्ष्यों की व्याख्या करता है। इस पूरी यात्रा में

मौखिक इतिहासकार को विशिष्ट योग्यता, पैनी दृष्टि, अत्यधिक धैर्य एवं भौतिक रूप से सम्पन्न होना चाहिये।

मौखिक इतिहास में काम करते हुए सबसे प्रमुख काम होता है– सम्बन्धित क्षेत्र में मौखिक स्रोतों को संग्रहीत करना। साक्षात्कार उसकी एक विधि है। यद्यपि मौखिक इतिहास में साक्षात्कार लेने का कोई एक सबसे ठीक रास्ता नहीं होता। साक्षात्कार लेना, कुछ हद तक एक कला है, एक ऐसी कला जो अनुभव एवं निरीक्षण (observation) जागरूकता और व्यवहार से प्राप्त की जा सकती है।[53] जैसा कि पॉल थाम्पसन कहते हैं– "मौखिक इतिहास का व्यवहारिक अनुभव स्वयं ही इतिहास की प्रकृत के विषय में गहन प्रश्नों की ओर ले जायेगा।" वह कहते हैं कि सफलतापूर्वक साक्षात्कार लेने के लिये योग्यता की आवश्यकता होती हैं। संवाद की शैली में नियंत्रित प्रश्न पूछना सबसे औपचारिक तरीका है। अच्छे साक्षात्कारकर्ता उनके व्यक्तित्व के अनुसार विभिन्न शैली विकसित करते हुए सर्वाधिक अच्छे परिणाम प्राप्त करता है। एक साक्षात्कारकर्ता उनके व्यक्तित्व के अनुसार विभिन्न शैली विकसित करते हुए सर्वाधिक अच्छे परिणाम प्राप्त करता है। एक साक्षात्कारकर्ता में कुछ गुण अनिवार्यरूप से होना चाहिये। उसमें व्यक्तियों के प्रति सम्मान होना चाहियें। उनको प्रतिउत्तर देने में लचीला होना चाहिये, उनके विचारों के प्रति, सहानुभूतिपूर्ण एवं इन सबसे बढ़कर शांतिपूर्वक बैठने एवं सुनने की सदिच्छा होनी चाहिये।[54]

वैसे तो मौखिक इतिहास में साक्षात्कार लेने का काम दो व्यक्तियों के बीच सम्बन्ध को स्थापित करता है। अतः जब दो चेतन मनुष्य आपस में बातचीत कर रहे हों तो बहुत यांत्रिक होकर काम नहीं किया जा सकता। यह अलग बात है कि काम से सम्बन्धित कुछ बिन्दु दिमाग में स्पष्ट होकर चाहिये किन्तु अपने दिमाग की कोई भी चीज़ सामने वाले पर थोपी नहीं जानी चाहिये। वरना हम जिन साक्ष्यों को एकत्र कर रहे हैं उनके प्रति ईमानदार नहीं रहेंगे और अपनी आत्मगतता उसमें समाहित कर देंगे। ऐसा नहीं होता है कि जब हम अतीत की आवाज़ को रिकार्ड कर रहे होते हैं, तो वह भविष्य में सिर्फ हम तक ही सीमित रहेगी या किसी एक ही शोधकार्य में काम

देगी। एक बार रिकार्ड होने के बाद वह इतिहास का साक्ष्य होता है और वह सुदूर भविष्य में सामाजिक ज्ञान की सम्पत्ति होगा जिसको अनेकों तरीके से प्रयुक्त किया जा सकता है। इस तरह मौखिक इतिहासकार को अपने कार्य की विराटता एवं महत्ता का अहसास होना अनिवार्य है। विषय समाज एवं व्यदित में उसकी गहन सम्पृक्तता अनिवार्य है। समाज से असंपृक्त व्यक्ति मौखिक इतिहास में इमानदारी से काम नहीं कर सकता।

शोधकर्ता को अपने अध्ययन की व्यवस्थित योजना बनानी चाहिये। सूचना देने वाले के सापेक्ष समाज परिवर्तन का एक विस्तृत अध्ययन होना चाहिये और साक्षात्कार लेने के पूर्व प्रश्नों की सावधानीपूर्वक तैयारी करनी चाहिये। प्रश्न हमेशा साधारण और यथा सम्भव सीधे होने चाहिये और उसकी परिचित भाषा में होना चाहिये। कभी भी दोहरे एवं जटिल सवाल नहीं पूछना चाहिये। वरना अस्पष्ट उत्तर मिलने की सम्भावना रहेगी।[55]

एक साक्षात्कार महज एक संवाद या बातचीत नहीं होता। मुख्य बात है कि सूचना देने वाला बोले। साक्षात्कारकर्ता को यथासम्भव पृष्ठभूमि में रहना चाहिये। बीच में अपनी कहानी नहीं थोपनी चाहिये। यह अपना ज्ञान प्रदर्शित करने का समय नहीं होता। कभी भी अपने आपको अधीर नहीं दिखाना चाहिये। खामोश रहने से बोलने वाले को सोचने का मौका मिलता है। साक्षात्कार देने वाले को हमें विश्वास में रखना चाहिये। उनको निचिन्त एवं आत्मविश्वासी बनाये रखना चाहिये। पूरे साक्षात्कार के दौरान उसमें अपनी रूचि प्रदर्शित करते रहना चाहिये। हमेशा सूचना देने वाले की भावनाओं के प्रति संवेदनशील होना चाहिये।[56] विशेषतः वृद्ध लोगों के साथ अधिक सावधानी रखनी चाहिये। (वरना साक्षात्कार लेते समय भोलानाथ मालवीय[57] तथा हरिश्चन्द्र सक्सेना[58] हमसे बातचीत करते समय बार–बार फूट–फूट कर रोने लगे। पहले तो हम उतने बुजुर्ग के रोने से हतप्रभ रह गये। बाद में लगा कि जीवन की सान्ध्य बेला पर अतीत की बातें करते समय अतीत का मोह और आसन्नमृत्यु का ख़तरा उनके दिमागों में घूम रहा होगा।)

इस तरह मौखिक इतिहास में शोधकर्ता को न सिर्फ अपने शोधकार्य बल्कि अपने इतिहास अपने समाज एवं समाज में व्यक्तियों के प्रति बेहद संवेदनशील होना चाहिये। साक्षात्कार लेने के दौरान साक्षात्कार देने वाले व्यक्ति के साथ ही अन्य ढेर सारे व्यक्तियों के साथ भी सामाजिक सम्बन्ध बनाना पड़ता है। साक्षात्कार को सिर्फ यांत्रिक ढंग से अपना काम पूरा कर लेने तक ही सीमित नहीं रहना चाहिये। उनसे उनके सुख–दुःख की बातें करके अच्छा तादाम्य स्थापित करना चाहिये– तभी वह ईमानदारी से अपने अतीत के बारे में बतायेंगे। जैसा कि पालथाम्पसन कहते है कि रिकार्डिंग खत्म होते ही भाग नहीं जाना चाहिये आपको वहां कुछ देर तक रहना चाहिये। इतनी देर तक उन्होंने जो आपको दिया है उसके बदले में उन्हें कुछ आत्मीय प्रशंसा और गर्माहट देनी चाहिये। अगर एक कप चाय मिलती है तो उसे स्वीकार करना चाहिये। उनसे परिवार एवं तस्वीरों की बात करनी चाहिये– यही समय होता है जब दस्तावेज मिलने की सम्भावना होती है।[59]

मौखिक साक्ष्यों को रिकार्ड करने के चार तरीके हैं–

(1) याददाश्त के आधार पर, नोट्स लेकर बाद में लिखना, (2) बातचीत करते समय ही नोट्स लेते हुए एवं लिखते हुए (3) टेपरिकार्डर पर रिकार्ड करने के बाद प्रजिलिखित (transcribe) करके (4) वीडियो रिकार्डिंग करके ।[60] यद्यपि भारत में इतिहास की वीडियो रिकार्डिंग नियोजित तरीके से नहीं होती, परन्तु इलेक्ट्रानिक मीडिया के बढ़ते हुए प्रचार के कारण समकालीन इतिहास के क्षण तो कैद हो ही जाते हैं– कालान्तर में अगर उनके अभिलेखागार के रूप में इस्तेमाल की गुंजाइश बनी तो भारत में मौखिक इतिहास समृद्ध होगा।

भारत में मौखिक साक्ष्य को संगृहीत करने का सबसे सटीक एवं सरल सही उपाय है – टेप पर बातचीत को रिकार्ड करना और फिर उन्हें 'ट्रांसक्राइब' करके इतिहास के स्रोत के रूप में प्रयुक्त करना। यद्यपि यह विधा भी बहुत दोषमुक्त नहीं है। बहुधा यह होता है कि टेपरिकार्डर को सामने देखकर साक्षात्कार देने वाला व्यक्ति सचेत हो जाता है। चूंकि उसकी बातें रिकार्ड हो रही हैं इसलिये वह अपनी बातों के

प्रति अतिरिक्त सचेत हो जाता है। परन्तु यह मुश्किल अपने समझाने के तरीके एवं अंतरंग शैली से दूर किया जा सकता है। इसलिये सामने वाले व्यक्ति से अंतरंग सम्बन्ध ज़रूरी है। उन्हें अपने काम की विश्वसनीयता का विश्वास दिलाना अनिवार्य है। साथ ही इतिहास में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका का अहसास भी कराना पड़ता है ताकि वह उस सम्बन्ध को यंत्र से ऊपर समझे। इसलिये मौखिक इतिहासकार को मनोवैज्ञानिक भी होना पड़ता है। कुछ लोग सशंकित भी होते हैं। जैसे कि बंसीलाल[61] साक्षात्कार समाप्त हो जाने के बाद हंसते हुए कहते हैं कि– "हमका फंसाय त न देबो?" और बाद में खुद ही हंसते हुए जवाब देते हैं– "हमका ओकर चिन्तौ नाय।" दूसरी तरफ पुन्नू खां [62] अन्त तक अविश्वास से भरे रहे और पूरा साक्षात्कार उन्होंने उसी स्वर में रिकार्ड कराया।

टेपरिकार्डर पर काम करना इसलिये भी दुष्कर हो जाता है क्योंकि उस पूरे साक्षात्कार को प्रतिलिखित करना अपने आप में बहुत पेचीदा एवं कठिन काम है। जैसा कि पापवर्थ कहते हैं और स्वयं अपना अनुभव भी है कि एक घंटे के साक्षात्कार को ट्रासक्राइब करने में तकरीबन छः घण्टे लगते है और स्वयं शोधकर्ता के अलावा कोई अन्य इस काम को उतने संतोषजनक तरीके से नहीं कर सकता।[63] यह काम तुरंत करना भी अनिवार्य होता है– क्योंकि तभी साथ में रिकार्डिंग से परे घटी बातें, चेहरे की अभिव्यक्तियां भी नोट करना सम्भव हो पाता है। आवाज़ का भाव पक्ष भी तभी याद रहता है। वरना एक बार देर होने पर सिर पर प्रतिलिखित करने का बोझ बढ़ता जाता है और इकट्ठा होने पर वह पहाड़ जैसा लगने लगता है और वह टलता जाता है। साक्षात्कार को ट्रांसक्राइब करना बेहद थकाने वाला कठिन उबाऊ और महीन काम है। यह भीषण एकाग्रचित्तता की मांग करता है। थोड़ी सी भी एकाग्रचित्तता समाप्त होने के साथ ही प्रतिलिखित करने का काम बेहद मुश्किल हो जाता है। इसलिये मौखिक इतिहासकार को अतिरिक्त परिश्रमी एवं धैर्यशाली होना पड़ता है। प्रतिलेखों (transcripts) के विशाल संग्रह में से प्रासंगिक सामग्री खोज निकालाना मेहनत का काम है।[64]

मौखिक इतिहासकार को रिकार्डिंग करते समय एक साथ कई काम करने पड़ते हैं। साक्षात्कार लेने से पूर्व स्थान भाषा एवं व्यक्ति की जानकारी के साथ–साथ अध्ययन के विषय की समझ भी ज़रूरी हैं। आधारभूत जानकारियों के अतिरिक्त कुछ तात्कालिक ध्यान भी रखने होते हैं। मसलन सम्बन्धित व्यक्ति का पता–परिवेश वर्ग आदि का सूक्ष्म परीक्षण आवश्यक है। उसके घर के क्या हालात है– घर वालों से उसके सम्बन्ध कैसे हैं– वह कैसी–कैसी स्थितियों में रहते आये हैं। घर की आर्थिक स्थिति क्या है– आदि का बारीकी से निरीक्षण भी साथ–साथ ही करते रहना पड़ता है। कई बार इस बात का भी ध्यान देना पड़ता है कि लिखने से व्यक्ति की बोली बाधित तो नहीं हो रही। इसके अतिरिक्त कुछ तकनीकी पक्ष का ध्यान भी आवश्यक है– जैसे साक्षात्कार शुरू करने से पूर्व टेप का परीक्षण करना। बैटरी कैसेट सभी दुरूस्त होने चाहिये। टेप बोलने वाले के कितने करीब रखना है। अन्य चीज़ों का शोर उस तक न पहुंचे। जिस स्थान पर साक्षात्कार ले रहे हों वह शांत हो, वहां बाहरी व्यवधान यथासम्भव कम हो– यह ध्यान देने की बात है। साथ ही बीच–बीच में टेप को देखते रहना पड़ता है कि वह काम कर रहा है या नहीं। यह भी चेक करते रहना चाहिये कि कहीं कैसेट खत्म तो नही हो गया। वरना कई बार ऐसा होता है कि बातचीत चलती है और टेप काम करना बन्द देता है। (स्वयं हमारे साथ ऐसा हुआ है कि पूरा का पूरा साक्षात्कार रिकार्ड ही नहीं हो पाया है) ऐसे में दुबारा साक्षात्कार लेना सम्भव नहीं हो पाता।

साथ ही साक्षात्कार देने वाले की सुविधा का पूरा ध्यान रखना चाहिये। उसे किसी तरह की तकलीफ न हो। अगर उसे बात करने का मन न हो तो बात नहीं करनी चाहिये। अगर वह थक गया हो या अस्वस्थ हो तो भी हमें पूरी चिंता दिखानी चाहिये।

अन्त में जैसा कि पाल थाम्पसन कहते हैं कि व्यक्ति को छोड़ने के बाद तीन प्रमुख काम यथाशीघ्र करलेना चाहिये। पहला, साक्षात्कार के सम्बन्ध में अपनी कोई टिप्पणी हो तो उसे तुरंत रिकार्ड करना चाहिये। सूचना देने वाले व्यक्ति का

चरित्र एवं अतिरिक्त टिप्पणी लेनी चाहिये । और जो नहीं कहा गया वह भी लिखना चाहिये। फिर टेप पर लेबल लगा देना चाहिये। इस बात को सुनिश्चित कर लेना चाहिये कि सूचना देने वाले के बारे में आधारभूत तथ्य रिकार्ड हुए हैं।

छोड़ने से पहले साक्षात्कार देने वाले व्यक्ति से पुनः मिलने का वादा करना चाहिये तथा उनके कहे वक्तव्यों को शोध कार्य में प्रयोग करने का अनुमतिपत्र ले लेना चाहिये।

रिकार्डिंग हो जाने के बाद कुछ तकनीकी जानकारी होनी चाहिये कि कैसे उन कैसेटों को यानी अतीत की आवाज़ को संरक्षित किया जाये। हलांकि व्यक्तिगत रूप से मौखिक इतिहासकार इस क्षेत्र में बहुत कुछ नहीं कर सकता किन्तु कुछ बातों का ध्यान दिया जाना चाहिये। जैसा कि पाल थाम्पसन सुझाते हैं कि टेप की क्वालिटी बहुत सावधानी पूर्वक चुननी चाहिये। रिकार्डिंग के लिये प्रयुक्त होने वाले टेप को ही प्रयुक्त करना चाहिये। इसके अलावा टेप एवं कैसेट को धूल गर्मी एवं नमी से बचाना चाहिये। ध्वन्यांकित कैसेटों की सुरक्षा के लिये भी ध्यान देना चाहिये। उन पर लेबल लगा होना चाहिये जिस पर कैसेट संख्या तथा साक्षात्कार देने वाले का नाम पता और तिथि लिखी होनी चाहिये। ट्रांसक्राइब प्रति पर और विस्तार से यह सब कुछ होना चाहिये। प्रतिलेखों की तीन प्रतियां बनाई जानी चाहिये जिसमें से एक साक्षात्कार देने वाले के पास भेज देनी चाहिये।[65]

एक बार सारे साक्ष्य संग्रहीत हो जाने पर सवाल उठता है कि उन्हें कैसे एक साथ संकलित किया जाये, उनसे कैसे इतिहास बनाया जाये। हमे सबसे पहले उसे प्रस्तुत करने के तरीके पर विचार करना चाहिये। फिर हम उन साक्ष्यों का मूल्यांकन कैसे करते हैं और मुख्य बात है कि हम साक्ष्यों को इतिहास के सिद्धान्त से कैसे जोड़ते हैं। हम इतिहास में कैसे अर्थ निर्मित करते हैं। अन्ततः हम उन प्रभावों को देखेंगे जो भविष्य में इतिहास निर्माण में मौखिक साक्ष्य प्रस्तुत करेंगे।

मौखिक साक्ष्यों के साथ इतिहास का प्रस्तुतिकरण नई सम्भावनायें खोलता है।[66] मुख्यतः तीन तरीकों से हम मौखिक इतिहास को एक साथ रख सकते हैं। पहला

किसी एक जीवन कहानी का वर्णन। कुछ उल्लेखनीय केसों में यह किसी एक वर्ग एवं समुदाय के इतिहास के लिये प्रयुक्त हो सकता है। नेटशा की आत्मकथा "आल गॉड्स डैन्जर' दक्षिण अमरीका में अश्वेत लोगों का वृहत्तर अनुभव है।

दूसरा तरीका है कहानियों का संग्रह एवं तीसरा प्रतिविश्लेषण (cross analysis) द्वारा तर्क एवं इतिहास की व्याख्या। यह इतिहास की व्याख्या के सुनियोजित विकास के लिये ज़रूरी है।[67]

एकत्रित किये हुए साक्ष्यों के प्रतिलेख को ध्यान से पढ़ा जाना चाहिये फिर उस सामग्री की अपने सन्दर्भ के हिसाब से व्याख्या करनी चाहिये। मौखिक साक्ष्यों का मूल्यांकन वर्णन एवं तुलना अन्य स्रोत सामग्री से भी करनी चाहिये। यह अब न तो कठिन रह गया है न ही आसान। लेकिन कुछ मामलों में यह विभिन्न प्रकार का अनुभव है। मौखिक इतिहासकार जब लिखना शुरू करते हैं तो उन लोगों को जानते हैं जिनके साथ उन्होंने बात की है। लिखते समय वह अपनी अन्तर्दृष्टि एवं जीवन कलाओं की विविधता के बारे में बात करना चाहेंगे जिसने उनकी कल्पनाओं को रोक रखा है।[68]

मौखिक इतिहास की कुछ सीमायें तथा आलोचनायें भी हैं। मौखिक इतिहास की सीमाओं के अन्तर्गत स्वयं साक्षात्कार देने वाले, साक्षात्कारकर्त्ता एवं स्वयं साक्षात्कार की प्रकृति में निहित सीमायें आती हैं। साक्षात्कार देने वाली सबसे पहली सीमा यह होती है कि उसकी स्मृति की पूरी विश्वसनीयता नहीं होती। विशेष रूप से कोरे तथ्य एवं कालक्रम के लिये साक्षात्कार देने वाले की स्मृति की अविश्वसनीयता मौखिक इतिहास की सबसे बड़ी आलोचना है।[69] कई बार साक्षात्कार देने वाला व्यक्ति अन्धविश्वासी एवं पूर्वग्रह से ग्रसित होता है। अक्सर ऐसा भी होता है कि साक्षात्कार देने वाला व्यक्ति बेहद बातूनी होता है और अधिकांश समय गप करने में बिता देता है। कभी–कभी साक्षात्कार देने वाला व्यक्ति चीज़ों का अतिसरलीकरण करता है। ऐसे लोग जो स्वयं को हर उपलब्धि का कारण समझते हैं, कभी–कभी वे गुमराह करने की कोशिश करते हैं । कई बार साक्षात्कार देने वालों में परिप्रेक्ष्य की कमी होती है और अक्सर व्यक्तिगत भावना के कारण विकृतियां आती है। यह भी होता है कि साक्षात्कार

देने वाला व्यक्ति अपने प्रति सचेत रहता है या उसके वर्णन में आत्मगतता होती है। अक्सर वे प्रकाशित साक्ष्यों को ही दुहराते हैं। दूसरी तरफ साक्षात्कारकर्ता की भी अपनी सीमायें होती हैं। कई बार विषय के प्रभाव का असर साक्षात्कार पर पड़ता है। अक्सर हर साक्षात्कारकर्ता पूर्वग्रह से ग्रसित होकर प्रश्न पूछता है। साक्षात्कार देने वाले के प्रति उसके पूर्वाग्रह होते हैं। उस पर साक्षात्कारकर्त्ता की आत्मगतता भी होती है। इसके अतिरिक्त साक्षात्कार लेना भी अपने आप में थका देने वाला काम होता है। एक बार साक्षात्कार लेने के बाद उसे 'ट्रांसक्राइब' करना भी बहुत धैर्य की मांग करता हैं। लगभग एक घण्टे के साक्षात्कार को प्रतिलिखित करने में न्यूनतम छः घण्टे लगते हैं। इस पूरी प्रक्रिया में काफी समय लगता है और कई बार घण्टों खराब होते हैं और कुछ हाथ नहीं लगता। मौखिक इतिहास पर काम करना स्वयं में बेहद खर्चीला मसला है। कभी–कभी इस वजह से भी काम पर असर पड़ता है। कुछ लोग साक्षात्कार देते समय बातें ठीक से सम्प्रेषित नहीं कर पाते। कई बार साक्षात्कार में जो कहा गया हैं उसकी ग़लत प्रस्तुति भी अध्येता कर देता है। कभी ऐसा भी होता है कि साक्षात्कार के प्रतिलेख साक्षात्कार के सार को छोड़ देते हैं। अक्सर जीवित बचे लोगों एवं उनमें से भी जो बात करने को तैयार हो जाते हैं उन्ही पर साक्षात्कारकर्ता आधारित होता है।[70]

मौखिक इतिहास के विषय में अधिकांशतः लोग पूर्वग्रह ग्रसित हो जाते हैं। उसके विरूद्ध मुख्य तर्क है कि मौखिक इतिहास अविश्वसनीय, आंशिक व तोड़–मरोड़ कर प्रस्तुत किया हुआ तथा आत्मगत पूर्वग्रहों पर आधारित होता है। यहा तक कि यह वस्तुगत नहीं होता।[71]

किन्तु यह बात समस्त ऐतिहासिक तथ्यों पर लागू होती है। कोई भी तथ्य तथा सत्य निरपेक्ष नहीं होता। मसला केवल दृष्टिकोण का होता है अगर इतिहास का सरोकार इंसान और समाज से हैं, महज कोरे तथ्यों से नहीं तो प्रत्येक व्यक्ति से प्राप्त प्रत्येक वाक्य महत्वपूर्ण होता है। वह अलग–अलग संदर्भो में अलग तरीके से प्रयुक्त हो सकता है। वैसे सारे लिखित तथ्य किसी एक ऐतिहासिक विषय के लिये महत्वपूर्ण

नहीं होते। इतिहासकार उनमें चुनाव करता ही है। यह सच है कि साक्षात्कार देने वाले की बातों में आत्मगतता की प्रबल संभावना होती है, पर अपने अध्ययन एवं तकनीक से हम उसमें से ऐतिहासिकता एवं महत्व पृथक कर सकते हैं। ज्यादातर मौखिक इतिहासकार घटनाओं के वर्णन से जूझते हैं। व्यवहार में शोध को आकार देना उनके लिये बड़ी समस्या बन जाती है। गवाह के समस्त विवरण में से उसे चुनना होता है।[72] बहुधा यह भी होता है कि विभिन्न लोगों के वक्तव्यों द्वारा एक–दूसरे के कथन का निरीक्षण होता रहता है। अक्सर ऐसा भी होता है कि मौखिक इतिहास को लिखित स्रोत पर आधारित इतिहास के विरूद्ध खड़ा करके देखा जाता है। यह बात ठीक नहीं है। लिखित तथा मौखिक स्रोत–इतिहास लेखन की विधायें हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं। दोनों के सम्यक संतुलित प्रयोग करने से हम इतिहास के अन्तरालों को खत्म कर सकते हैं। पारम्परिक इतिहासकारों के पास यह भी भय होता है कि एक बार मौखिकता (orality) के द्वार खुल जाने से लिखित साक्ष्य (और उसके सही होने का तर्क) बह जायेंगे। जैसा कि पालथाम्पसन ठीक ही कहते हैं कि मौखिक इतिहास का उद्देश्य इसीलिये कुछ लोगों को उत्साहित करता है, तो कुछ को डराता है।[73] वस्तुतः लिखित एवं मौखिक विशिष्ट रूप से अलग नहीं है। उनकी एक तरह की विशेषतायें हैं। उसी तरह जैसे कि उनके स्वायत्त एवं विशिष्ट कार्य भी है, जो सिर्फ एक ही कर सकता है। इसलिये उन्हें अलग और विशिष्ट व्याख्यात्मक उपकरण की आवश्यकता होती है।[74] कई बार लिखित स्रोत एवं मौखिक स्रोत एक दूसरे के पूरक होते हैं। दोनों में अन्तर केवल पद्धति एवं दृष्टिकोण का होता है। मौखिक इतिहास की अगली आलोचना है कि मौखिक स्रोत मौखिक होते हैं (oral sources are oral soures) यह सच है कि मौखिक स्रोत टेप में रिकार्ड होते है– परन्तु हर मौखिक इतिहासकार उन साक्षात्कारों को प्रतिलिखित करता है। उसकी प्रतिलिखित (transcribed) प्रतियां उपलब्ध होती हैं। एक बार रिकार्ड हो जाने के बाद वह मौखिक स्रोत अन्य स्रोतों की तरह ही इतिहास की धरोहर होते हैं। कई जगह मौखिक साक्ष्य एकमात्र साक्ष्य भी होते हैं मानवता का वह सारा हिस्सा जो अभी तक अलिखित है उसका

एकमात्र साक्ष्य मौखिक ही होता है। ऐसे लोग जो निरक्षर हैं, या वे सामाजिक समूह जो लिखित स्रोतों से या तो अनुपस्थित हैं, या उन्हें तोड़मरोड़ कर प्रस्तुत किया गया है, मौखिक स्रोत हमें उनके विषय में सूचना देते हैं।[76] अभी भी अफ्रीका, भारत तथा पूरी दुनिया में ऐसी जनजातियां रहती हैं जिनका कोई लिखित इतिहास नहीं है। वैसे भी इतिहास का सबसे पहला साक्ष्य मौखिक ही रहा होगा।

मौखिक साक्ष्य विवरणात्मक साक्ष्य हैं। अतः मौखिक इतिहास की सामग्री का विश्लेषण प्राप्त साहित्य के सिद्धान्त के अनुसार होता है। गैर शासक वर्ग से प्राप्त मौखिक स्रोत का सम्बन्ध लोक वर्णन की परम्परायें होती हैं। इन परम्पराओं में पढ़े लिखे वर्ग की लिखित परम्पराओं से भिन्न वर्णनात्मक कोटि होती है। आज जब प्रामाणिकता, सरकारी साक्ष्य (testimory) और शैक्षिक प्रक्रिया की सारी गतिविधियां लिखित में समाहित हो गई हैं तो मौखिक वर्णनों का महत्व कम हो गया।[77] यह ठीक है कि मौखिक वर्णनो में व्यक्ति की आत्मगतता शामिल होती है, परन्तु यह बात हर तरह के ऐतिहासिक साक्ष्य पर लागू होती है। प्रत्येक साक्ष्य में तथ्य व्यक्ति की चेतना के साथ ही घटता है। जैसा कि ब्रुगमेयर कहते हैं कि लिखित इतिहास भी विभिन्नता लिये होता है, प्रत्येक इतिहास में किसी न किसी तरह की विकृति होती है।[78] इतिहास में निरपेक्ष सत्य या निरपेक्ष वस्तुगतता जैसी कोई चीज़ नहीं होती। इसे हम एक उदाहरण से समझ सकते हैं– हम गांधी को एक ऐतिहासिक तथ्य के रूप में लें।

सबसे पहले हम उनके बारे में दस्तखेजी साक्ष्यों को लें। उनका खुद का लेखन है, सरकारी रिपोर्ट समकालीन अखबार एवं पत्रिकायें, उनके अनुयायियों का सहयोगियों का लेखन एवं आलोचनायें एवं जीवनी के वर्णन, विदेशियों के लेखन, भारतीयों एवं विदेशियों के निजी कागज़जात हैं। उनके लेखकों को पक्ष एवं विपक्ष में, पत्रकार, राजनीतिक, विश्लेषक एवं भारतीय एवं विदेशी, ब्रिटिश एवं अन्य इतिहासकार एवं साहित्यकार आदि के रूप में बांट सकते हैं। यह सारे वर्णन किसी न किसी तरह से आत्मगत हैं, आंशिक हैं, पूर्वग्रहयुक्त एवं विकृत हैं।

गांधी के अपने लेखन यहां तक 'माई एक्सपेरिमेट विद ट्रुथ' में भी खुद को

सिद्ध करना ही है। उससे किसी वस्तुगतता की आशा करना व्यर्थ है। कितना भी किसी संत का क्यों न हो वह एक व्यक्ति का ही दृष्टिकोण है जो तार्किक एवं वस्तुगत होने का दावा नहीं करता। उनके लिये उनकी आत्मा की आवाज़ सर्वोच्च थी। निश्चिततः उनका लेखन उन्ही का विचारबिन्दु प्रस्तुत करता है, एक ऐसा विचार जो अक्सर प्रिय एवं नजदीकी लोगों को भी स्वीकृत नहीं था, तो क्या उन्हें ऐतिहासिक पुनर्रचना के लिये संदेहास्पद सिद्ध किया जाना चाहिये? अधिकांश अभिलेखीय सामग्री गांधी के प्रति सरकारी पूर्वग्रह हैं। गांधी जी के प्रति किसी गवर्नर जनरल एवं पुलिस अफसर की व्यक्तिगत सोच चाहे जो हो वह सरकारी प्रविष्टियों में उनके विरोध में ही होती थीं। अतः वह भी आंशिक, पूर्वग्रह युक्त एव विकृत हैं। क्या इसलिये उन्हें भी संदेहास्पद कोटि में रखना चाहिये।

समकालीन समाचारपत्र, अपने लेखों, समाचारों एवं सम्पादक के नाम पत्रों में सम्पादकीय नीतियां निहित होती हैं। उसमें भी राष्ट्रवादी एवं साम्राज्यवादी पूर्वग्रह होंगे। गांधी के सामान्यीकृत एवं सरलीकृत तथ्य को समझना पर्याप्त नहीं है।मुक्ति संघर्ष केवल वही नहीं था, जिसके विषय में लिखा गया है । यह भारतीय समाज का एक महान उत्प्रेरक था, जिसका कथन आज भी समाज को आन्दोलित कर रहा है। उसमें सैकड़ों गतियां हैं और उन गतियों की सैकड़ों उपगतियां हैं। भीड़ ने केवल फ्रांसीसी क्रांति में ही हिस्सेदारी नहीं की थी। भारतीय आज़ादी की लड़ाई में भी असंख्य लोगों की सहभागिता थी किन्तु उन्हें ज़मीन नहीं प्रदान की गई है।[79] इस तरह हम देखते हैं कि कोई भी ऐतिहासिक तथ्य अपने आप में पूर्ण नहीं होता। एक समय के सत्र का विश्लेषण आनेवाली पीढ़ी करती है और उसे काल्पनिक, मिथकीय तथा गाथात्मक सिद्ध कर देती है। फिर उसे नवीन सत्य द्वारा स्थानान्तरित करती हैं। अगली पीढ़ी फिर यही दुहराती है। इसका यही मतलब है कि प्रत्येक समाज का अपना सत्य होता है और वह सत्य ही होता है, न कि निरपेक्ष । अतीत का सत्य समय के प्रवाह के साथ 'मिथ' बन जाता है।[80]

मौखिक स्रोतों की विश्वसनीयता एक दूसरे तरह की विश्वसनीयता होती

है। यह हमें घटनाओं के विषय में कम बताते हैं तथा उन घटनाओं के अर्थ के विषय में अधिक बताते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि मौखिक इतिहास की कोई तथ्यात्मक रूचि नहीं है। साक्षात्कार अक्सर अज्ञात घटनाओं को उद्घाटित करते हैं, अथवा ज्ञात घटनाओं के अज्ञात बिन्दुओं को प्रकाश में लाते हैं और वह गैर सत्ताधारी वर्ग के अनन्वेषित पक्षों पर नई रोशनी डालते हैं।

इस तरह मौखिक इतिहासलेखन की एक विधा है न कि यह कि यह इतिहास के ख़िलाफ खड़ा है। अगर आम जनता इतिहास का निर्माण करती है तो उसका इतिहास लिखने के लिये सबसे सशक्त माध्यम मौखिक इतिहास ही है। हलांकि मौखिक इतिहास बहुत नाजुक उपकरण है– और इसे कोई भी अपने पक्ष में कर सकता है। इसलिये एक ईमानदार इतिहासकार को इतिहास की वस्तुगतता में आस्था बनाये रखते हुए ही इस विधा में काम करना चाहिये।

अतीत की आवाज़ अविभाज्य रूप से वर्तमान की आवाज़ भी होती हैं।[81] अतीत की यह आवाज़ रची–बसी होती है उन लोगों में जिन्होंने इतिहास को करीब से देखा परखा है, अहसास किया है। बल्कि इतिहास का निर्माण भी किया है। यही इतिहासबोध हमें वर्तमान में जीने का साहस देता है और भविष्य में जाने का संकल्प!

संदर्भ सूची

1. प्रो. राजन गुरूक्कल : व्यक्तिगत साक्षात्कार, मौखिक इतिहास . श्रृंखला कैसेट सं. 18
2. अलेसान्ड्रोपोर्टेली : "द टाइम ऑफ माई लाइफ" फन्क्शन ऑफ टाइम इन ओरल हिस्ट्री, इन्टरनेशनल जर्नल ऑफ ओरल हिस्ट्री, वाल्यूम–2, नं. 3
3. लालबहादुर वर्मा : इतिहास के बारे में, पृ. 21–22
4. मेरी स्टुअर्ट : 'एण्ड हाऊवाज़ इट फ‍ॉर यू मेरी? सेल्फ आइडेन्डिटी एण्ड मीनिंग फॉर ओरल हिस्टोरियन्स' ओरलहिस्ट्री जर्नल, आरम, वाल्यूम – 21, नं. 2
5. लालबहादुर वर्मा : पूर्वोक्त, पृष्ठ 22–23
6. कालपेयर क्लार्क, माइकल जे हाईड एवं इवा मैकमहन : 'कम्युनिकेशन इन ओरल हिस्ट्री इन्टरव्यू, इन्टरनेशनल जर्नल ऑफ़ ओरल हिस्ट्री वाल्यूम–1 नं. 1
7. पाल थाम्पसन :'द वायस ऑफ पास्टः ओरल हिस्ट्री' पृष्ठ 1
8. मेरी स्टुअर्ट : पूर्वोक्त
9. उदधृत लालबहादुर वर्मा : 'इतिहासकार एवं समाज' अध्यक्षीय वक्तव्य – उ.प्र. कांग्रेस – पिथौरागढ़
10. पालथम्पसन : पूर्वोक्त
11. साक्षात्कारों के आधार पर
12. सुन्दरलाल : 'भारत में अंग्रेजी राज' प्रथम खण्ड भूमिका
13. पाल थाम्पसन : पूर्वोक्त, पृष्ठ –1–2

14. लालबहादुर वर्मा . 'मौखिक स्रोत और परम्परायें तथा इतिहास' 'इतिहासबोध' – प्रथमांक

15. पाल थाम्पसन : पूर्वोक्त पृष्ठ –2

16. जान टॉश : 'पर्स्यूट ऑफ हिस्ट्री' पृष्ठ –77

17. पूर्वोक्त : पृष्ठ –175

18. पाल थाम्पसन : पूर्वोक्त, पृष्ठ –2–8

19. मेरी स्टुअर्ट : पूर्वोक्त

20. सोनिया एल निम्र : 'ओरल हिस्ट्री एण्ड पैलेस्टीनियन कलेक्टिव मेमोरी', ओरल हिस्ट्री जर्नल वाल्यूम–21 नं. –1 1993, पृष्ठ –54–56

21. श्री जुल्फेकारूल्लाह : व्यक्तिगत साक्षात्कार, मौखिक इतिहास श्रृंखला कैसेट सं.

22. राक फेलर : इलस्ट्रेटेड इनसाइक्लोपीडिया, वोल्यूम 3 न्यूयार्क मई – 1977

23. जेनेट रिजवी : 'द लिविंज पास्ट', इण्डिया इण्टरनेशनल सेन्टर क्वार्टली, वाल्यूम–9 नं. 1 1982

24. लालबहादुर वर्मा : पूर्वोक्त

25. जैन वैनसिना : ओरल ट्रेडीशन ऐज़ हिस्ट्री' – द यूनिवर्सिटी ऑफ विन्कान्सिन प्रेस 1985 प्रस्तावना

26. लालबहादुर वर्मा : पूर्वोक्त

27. जैन वैनसिना : पूर्वोक्त, पृष्ठ –12–13

28. पाल थाम्पसन : पूर्वोक्त – पृष्ठ –19

29. एन्थनी सेल्डन एवं जोना पापवर्थ : 'बाइ द वर्ड आफ माऊथ – 'इलीट' ओरल हिस्ट्री' पृष्ठ –7

30. एलेक्स हेली : 'रूट्स' पृष्ठ –674

31. पाल थाम्पसन : पर्वोक्त – पृष्ठ –24

32. पूर्वोक्त : पृष्ठ –24

33. सेल्डन एवं पापवर्थ : पूर्वोक्त

34. पूर्वोक्त : पृष्ठ 19–47

35. सेल्डन एवं पापवर्थ : पूर्वोक्त पृष्ठ –6–7

36. पालथाम्पसन : पूर्वोक्त पृष्ठ –54

37. डा. किरपाल सिंह : 'ओरिजिन एण्ड कॉन्सेप्ट ऑफ ओरल हिस्ट्री' पंजाब पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट अक्टूबर 1995

38. एलन नेविन : गेटवे टू हिस्ट्री – पृष्ठ –89

39. किरपाल सिंह : पूर्वोक्त पृष्ठ –24–25

40. पूर्वोक्त : पृष्ठ –95

41. एलन नेविन : 'इन्टरव्यू ट्रांसक्रिप्ट' कोलम्बिया विश्वविद्यालय, 1963 पृष्ठ –169–70

42. सेल्डन एवं पापवर्थ : पूर्वोक्त, पृष्ठ –235

43. पूर्वोक्त : पृष्ठ –197

44. पूर्वोक्त : पृष्ठ –204

45. लालबहादुर वर्मा : पूर्वोक्त

46. किरपाल सिंह : पूर्वोक्त, पृष्ठ –225

47. डॉ. वी. ललिता : (तेलगू अकादमी हैदराबाद में कार्यरत) 'ओरलहिस्ट्री एण्ड नेशनलिज़्म', एक स्वतन्त्र लेख।

48. प्रो. राजन गुरूक्कल : पूर्वोक्त

49. अमृत लाल नागर : 'गदर के फूल' – अमृतलाल नागर रचनावली खण्ड –6 राजपाल एण्ड संस द्वारा प्रकाशित, 1991

50. द टाइम्स ऑफ इन्डिया, 22–9–92 तथा नेहरू मेमोरियल संग्रहालय एक पुस्तकालय से प्रकाशित मौखिक इतिहास परियोजना पर एक सूचना ।

51. द हिन्दुस्तान टाइम्स, 7 जून 1997.

52. लालबहादुर वर्मा : पूर्वोक्त

53. सेल्डन एवं पापवर्थ . पूर्वोक्त, पृष्ठ –55

54. पाल थाम्पसन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 165

55. पूर्वोक्त : पृष्ठ –16–69

56. पूर्वोक्त : पृष्ठ –178–180

57. भोलानाथ मालवीय : साक्षात्कार, मौखिक इतिहास श्रृंखला कैसेट संख्या M5

58. हरिश्चन्द्र सक्सेना : साक्षात्कार, मौखिक इतिहास श्रृंखला – कैसेट संख्या M7

59. पाल थाम्पसन : पूर्वोक्त पृष्ठ –180

60. सेल्डनी एवं पापवर्थ : पूर्वोक्त पृष्ठ–69

61. बंसीलाल : साक्षात्कार, मौखिक इतिहास श्रृंखला, कैसेट सं. M10

62. पुन्नू खां : साक्षात्कार, मौखिक इतिहास श्रृंखला, कैसेट सं. M11

63. सेल्डन एवं पापवर्थ : पूर्वोक्त, पृष्ठ 71

64. पूर्वोक्त

65. पाल थाम्पसन : पूर्वोक्त, पृष्ठ –186–202

66. पूर्वोक्त : पृष्ठ –203

67. पूर्वोक्त : पृष्ठ –205

68. पूर्वोक्त : पृष्ठ –209

69. सेल्डन एवं पापवर्थ : पूर्वोक्त पृष्ठ – 17

70. सेल्डन एवं पापवर्थ : पूर्वोक्त, पृष्ठ 16–35

71. लालबहादुर वर्मा : 'सिग्नीफिकेंस ऑफ ओरल हिस्ट्री, इलाहाबाद ड्यूरिंग फ्रीडम स्ट्रगल, अलीगढ़ इतिहास कांग्रेस 1994 में प्रस्तुत शोध पत्र ।

72. जैन वैनसिना . पूर्वोक्त पृष्ठ –13

73. पाल थाम्पसन . पूर्वोक्त पृष्ठ –2

74. एलेसान्ड्रो पोर्टेली : पिक्यूलियरिटीज़ ऑफ ओरल हिस्ट्री, हिस्ट्री वर्कशॉप जर्नल, 1981 नं. 11–12

75. पूर्वोक्त

76. पूर्वोक्त

77. पूर्वोक्त

78. उदधृत लालबहादुर वर्मा : पूर्वोक्त

79. पूर्वोक्त

80. प्रो. राजन गुरूक्कल : पूर्वोक्त

81. जान टॉश : पूर्वोक्त पृष्ठ 178।

III

जन इतिहास (People's History)

निस्संदेह अभी तक आविर्भूत समाज का इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास रहा है।[1] वर्गों के परस्पर अन्तर्विरोधों के परिणामस्वरूप ही इतिहास को गति मिलती आयी है। सामान्य अर्थो में मानवता का वह बड़ा हिस्सा जो लगातार संघर्षरत रह कर इतिहास का निर्माण करता है 'जन' कहलाता है। समग्रता की इसी पृष्ठभूमि में इतिहास–लेखन जब जनता को रेखांकित करता है तो वह –'जन इतिहास' कहलाता है। वह न तो 'निम्नवर्गीय जन' का कोई प्रसंग होता है और न ही बुर्जुआ इतिहास लेखन का कोई 'अभिजन'। सामान्यतः देश काल संदर्भ, विषय विचारधारा एवं इतिहासलेखन के हिसाब से 'जन' एवं जनइतिहास की अलग–अलग अवधारणा होती है। 'जन इतिहास' पर विश्लेषण करने से पहले स्वयं 'जन' की अवधारणा औरं पहचान के बारे में स्पष्ट हो लेना आवश्यक है। कौन है जन ? क्या जन और सम्पूर्ण जनसंख्या में अन्तर है ? शत्रु सम्बन्धों से आक्रान्त समाज में जन को एक ऐतिहासिक कोटि के रूप में जनसंख्या तथा जन, शोषक समुदायों तथा सामान्य जन के बीच अन्तर के प्रकाश में देखना चाहिये। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के अन्त के बाद ही जन का अर्थ सम्पूर्ण जनसंख्या हो सकेगा। जन की अवधारणा के अन्तर्गत सीधे उत्पादन करने वाले मेहनतकश और वे लोग आते हैं जो शोषक वर्ग में नहीं शामिल हैं। मार्क्सवाद के अनुसार जन ही इतिहास का निर्णायक तत्व है और वही समस्त भौतिक और अधिकांश आत्मिक धन का उत्पादन करता है। इस प्रकार वह समाज के अस्तित्व के लिये आवश्यक स्थितियों को सुनिश्चित करता है। जन का स्वरूप, क्रांति की मंजिल और देश विशेष की राजनीतिक स्थिति पर निर्भर करता है।[2] सामान्य अर्थ में 'जन' (People) किसी राज्य, देश की आबादी होता है, सटीक अर्थ में उन हिस्सों तथा वर्गो समेत लोगों का ऐतिहासिक दृष्टि से बदलता हुआ समुदाय, जो सम्बद्ध देश के

प्रगतिशील विकास के ऐतिहासिक कार्यभारों को संयुक्त रूप में तय करने में सक्षम हैं। मार्क्सवाद ने सबसे पहले यह सिद्ध किया कि जनसाधारण इतिहास की निर्णायक शक्ति है, वे समस्त भौतिक तथा अधिकांश आत्मिक सम्पदा का निर्माण करते हैं और इस तरह समाज के अस्तित्व की निर्णायक अवस्थायें सुनिश्चित करते हैं। वे उत्पादन का विकास करते हैं फलस्वरूप पूरे सामाजिक जीवन का परिवर्तन तथा विकास होता है, वे क्रांतियां सम्पन्न करते हैं, जिनकी बदौलत सामाजिक प्रगति होती है।[3] यानी इतिहास में जन की भूमिका अत्यन्त व्यापक है। वह न सिर्फ इतिहास को गति प्रदान करता है, बल्कि वह उस गति को परिवर्तित करने वाला तत्व भी है। किन्तु इतिहास लेखन में उसकी व्यापक भूमिका को रेखांकित करने का काम बहुत सीमित मात्रा में हुआ है।

जन इतिहास में 'जन' के अपने अर्थ एवं प्रयोग दोनों में अनेकों 'शेड' हैं। जन हमेशा बहुसंख्यक होता है। लेकिन इसका अर्थ इस बात पर पृथक होता है कि तुलना की धुरी किस पर है-- राजा और प्रजा पर अमीर और गरीब पर या शिक्षित और साधारण लोगों पर। 'रैडिकल' लोकतांत्रिक अथवा मार्क्सवादी व्याख्या के अनुसार 'जन' शोषण के सम्बन्धों द्वारा निर्मित होता है, दूसरी व्याख्या के अनुसार (लोक संस्कृति वादी) जन सांस्कृतिक विरोधों के द्वारा तथा एक तीसरी व्याख्या के अनुसार जन राजनीतिक शासन द्वारा निर्मित होता है। यह शब्दावली विशिष्ट राष्ट्रीय परम्पराओं के अनुसार अलग--अलग अर्थ ग्रहण करती है। फ्रांस में उन्नीसवीं शताब्दी का जन स्थायी क्रांति का अलंकरण है।[4] रूडे इसे 'क्रांतिकारी भीड़' शब्द प्रदान कर इसे एक बृहत्तर आयाम प्रदान करने का प्रयास करते हैं।[5] फ्रांसीसी क्रांति में वह सारे लोग जो रोटी की मांग पर उमड़ पड़े थे और शोषण के प्रतीक बास्तीय के किले को ढहा दिया था वह सारे--लोग 'जन' थे। फ्रांसीसी क्रांति में यह शब्दावली निश्चिततः वर्गशक्ति के विचार से जुड़ी थी। फ्रांसीसी क्रांति एक जनक्रांति थी जिसमें जनसाधारण ने सभी कमेरे वर्गो ने हिस्सा लिया था, पर सामंती अभिजातों की सत्ता के विरूद्ध इसका नेतृत्व तत्कालीन समाज में नवोदित बूर्जुआ वर्ग ने किया था। क्रांति के बाद बुर्जुआ वर्ग

जैसे ही सत्ता में आया, उसकी भूमिका में परिवर्तन की शुरूआत हो गई और जैसे–जैसे उसकी सत्ता का सुदृढ़ीकरण होता गया, वह जनता पर अपने वर्गीय अधिनायकत्व को ज्यादा से ज्यादा प्रतिक्रियावादी स्वरूप में बोलते हुए सर्वहारा और सभी मेहनतकश वर्गो के ख़िलाफ खड़ा होना इतिहास की विकासमान धारा के लिये खुद ही अवरोधक बनता गया।[6] यही स्थिति ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ख़िलाफ भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के संदर्भ में भी कहीं जा सकती है। राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तिम समय में उभर कर आने वाले स्वतः स्फूर्त एवं नियोजित जनान्दोलन इस बात के साक्षी हैं कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एक जन–आन्दोलन था। इसका नेतृत्व भी कांग्रेस पार्टी के नेतृत्व में यहां के बूर्जआ वर्ग ने किया। फ्रांसीसी क्रांति तथा भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में नेतृत्व करने वाला वह बूर्जुआ वर्ग भी जन में शामिल था। क्रांति के उपरांत तथा स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद वे शासकों की स्थिति में अवस्थित हो गये और अपनी वर्गीय स्थिति के अनुसार वह जनता से कट गये। स्वयं शोषक बन जाने के कारण उन्हें अब जन नही कहा जा सकता ।[7]

इंग्लैण्ड में लोकप्रिय संवैधानिकता की परम्परा के साथ यह शब्द ज्यादातर राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकारों के साथ जुड़ता है। जर्मनी में लोकजीवन अध्ययन ने जनइतिहास का प्रमुख मुहावरा प्रदान किया। लोकसंस्कृतिवादियों के लिये 'जन' आधारभूत रूप से कृषक (peasantry) है। समाज वैज्ञानिकों के लिये मेहनत करवाई है जबकि लोकतांत्रिक अथवा सास्कृतिक राष्ट्रवाद के लिये यह जातीय समूह का सहवर्ती होता है।[8]

मार्क्सवादी दृष्टिकोण में जन सबको लपेट लेने वाला कोई अमूर्त शब्द नहीं है। जन वह है जो उत्पादन में हिस्सेदारी करता है।[9] यानी–जन वह है जो सर्वहारा है। जिस ऐतिहासिक 'जन' की हम बात कर रहे हैं उसे और सर्वहारा के आमने–सामने खड़ा किया जाये तो थोड़ी–कठिनाई हो सकती है। मार्क्स सर्वहारा की बात करते हैं लेकिन उनका सर्वहारा बहुमत मूलक होता है और प्रायः जन का पर्यायवाची है। 1905–06 के क्रांतिकारी प्रयासों की असफलता के बाद लेनिन ने अपनी कालजयी

कविता में भी जन को ही निहित किया था।

" पैरों में रौंदे हुए आजादी के फूल
आज नष्ट हो गये हैं ......
मगर उस फूल के फल ने पनाह ली है जन्म देने वाली मिट्टी में।
मांके गर्भ में ।
उठेगा वह नया जन्म लेकर।
एक नई आजादी के बीच वह लायेगा।
लाल पत्रों को फैला कर वह उठेगा।
दुनिया को रोशन करेगा।
सारी दुनिया की जनता को
अपनी छांव में इकट्ठा करेगा।"[10]

अक्टूबर क्रांति के बाद प्रायः 'मेहनत जनता' 'व्यापक जनता' जैसे शब्दों का प्रयोग बढ़ता गया। जनता के जनतन्त्रों की स्थापना के बाद 'जन' का अर्थ और अधिक 'आम' होता गया और जनता की अवधारणा व्यापक होती गयी।

समाज की उपरी परतों के लिये जन एक रहस्यात्मक 'पर' है।[11] जनता और जनसंस्कृति की खोज के सौन्दर्यबोधात्मक तथा राजनीतिक कारण रहे हैं। सौन्दर्य बोधात्मक कारण था राष्ट्रीयता के विरूद्ध विद्रोह जिसका उत्कर्ष रोमांटिक आन्दोलन में हुआ और राष्ट्रवादी कारण था राष्ट्रवादी मुक्ति आन्दोलनों की वैधता को स्थापित करना।[12] समाज में ऐसी शक्तियां रही हैं और हैं, जो अपने हित में जन की इस प्रकार की व्याख्या करती है जिन्हें और अधिक अनुशासित करने और कारगर ढंग से नियंत्रण में रखने की आवश्यकता है।

जब ए.एल. राउज लिखते हैं कि जन इतिहास का उसी प्रकार निर्माण करता है जिस प्रकार एक कोरल रीफ करोड़ों सामुदायिक जीवों द्वारा निर्मित होता है या जब मिशले 'जन' को गौरवान्वित करता है तो उनके मन्तव्य ठीक हो सकते हैं लेकिन जन भी किसी भावनात्मक ढांचे मात्र में व्याख्या का दुरूपयोग हो सकता है

बल्कि होता आया है। इसलिये जन और जन इतिहास का स्वरूप स्पष्टतया परिभाषित होना चाहिए।

बीचो ने 1725 में प्रकाशित 'सिएन्सा नूओवा' में पैट्रीशियन (कुलीन) और प्लेबियन (सामान्य) के बीच विद्वेष को चिन्तित करते हुए विकास की मंजिलों की बात की। इस प्रकार जन को परिप्रेक्ष्य मिलना शुरू हुआ। इतिहास की यही धारणा मिशले से मार्क्स तक केन्द्र में बनी रही है। परन्तु जहां तक पहुंचने की राह कठिन थी।

पहले तो इतिहास के सम्मान के विपरीत माना जाता था जन की बात करना। आज के अर्थ में तो समाज की बात 18वीं शताब्दी तक नहीं होती थीं। हर्डर ने किसानों को 'डास फोल्क' कहा। जन को राष्ट्रवादी, कभी–कभी तो नस्लवादी अर्थो में इस्तेमाल किया गया। 19वीं शताब्दी में जन को नायक और परिणामतः गैरजन को खलनायक जैसा चित्रित किया गया। ऐसी पहुंच से विभ्रम जन्मे और आज भी मौजूद है क्योंकि कुछ को औरों की अपेक्षा अधिक जन करार देने की प्रवृत्ति है। इसी का परिणाम है कि ई.पी. टाम्पसन अपनी प्रसिद्ध कृति 'मेकिंग ऑफ इंग्लिश वर्किंग क्लास' में टोरी मजदूरों को शामिल करते हैं। क्रिस्टोफर हिल 'द वर्ल्ड हर्न्ड अपसाइड डाउन' में रैडिकल विचारों को जन विचारों की तरह प्रस्तुत करते हैं जब कि वास्तविकता यह है कि सभी रैडिकल समान्य जन नहीं होते और सभी जन रैडिकल नहीं होते। 'टोटल हिस्ट्री' के अलमबरदार पीटर बर्क इस नायक खलनायक सिंड्रोम में खतरा महसूस करते हैं क्योंकि हमारे पक्ष में सब कुछ सही नहीं है और 'पर' पक्ष में अब कुछ गलत नहीं। व्यक्तिगत सन्दर्भ में वह अपने को समाजवादी भी मानते हैं, इतिहासकार भी पर समाजवादी इतिहासकार नहीं। उनके अनुसार इतिहास को राजनीतिक संघर्ष का हथियार बनाना प्रतिफल दायी है।

पीटर बर्क से पूरी तरह सहमत न होते हुए भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने एक जरूरी मुददा उठाया है। मगर इतिहास को कोई मन माफिक संचालित करता है तो निश्चित ही वह प्रतिफलदायी होगा। पक्षधरता और वस्तुगतता के बीच कोई अनिवार्य अन्तर्विरोध नहीं है । पक्षधरता का अर्थ है किसी वर्ग या

विचारधारा का किसी चीज़ के हित में खड़ा होना। तात्कालिक सन्दर्भ में जो हित में लगता है वह वास्तव में अहित हो सकता है। इस पक्षधरता का अर्थ होगा वास्तविक सारगत और दूरगामी हित की सेवा जिसमें आलोचनात्मक दृष्टिकोण शामिल होगा।[13] इस प्रकार अपने आप में जन एक बहुत अस्पष्ट अभिव्यक्ति है। उसी तरह जैसे कि समाज । सामाजिक निर्माण में लगे लोगों के विभिन्नि समूहों हितों एवं उद्देश्यों के संदर्भ में हम जन की बात कह सकते हैं। हमें उन समूहों का तथा उनके परस्पर संचार का पता लगाना होगा। हमें जन को समग्रता की पृष्ठभूमि में ही लेना होगा।[14]

'जन' देशकाल विचारधारा एवं पक्षधरता के हिसाब से अर्थ ग्रहण करता है। जैसाकि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के सन्दर्भ में प्रसिद्ध इतिहासकार रामशरण शर्मा का मानना है कि राष्ट्रीय आन्दोलन में निरक्षर या अनपढ़ लोगों की भूमिका बहुत कम थी। उसमें कही लोग जाते थे जो थोड़े बहुत पढ़े लिखे हों।[15] इस तरह जन की अवधारणा व्यक्तियों के व्यक्तिगत विचारों पर भी निर्भर करता है। किसी विशेष अध्ययन में विषय का चुनाव, घटनाओं का चुनाव एवं इतिहासकार की आत्मगत स्थितियों में भी जन की यह अवधारणा बदल जाती है।

मार्क्सवाद के अनुसार उत्पादन में लगा व्यक्ति जन है। परन्तु मार्क्सवादी जन स्वयं में बहुत व्यापकता लिये हुए है और वह समाज के बहुसंख्यक जन तक विस्तृत हो जाता है। मुक्तिसंग्रामों में वह बड़ा हिस्सा जो मुक्ति चाहता है वह 'जन' होता है। मुक्ति की चाहत एक किस्म का सांस्कृतिक उत्पाद है और किसी संघर्ष काल विशेष में, मसलन ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दौर में हर वह व्यक्ति जो आज़ादी की चाहत लिये था 'जन' था। यह अलग बात है कि उस संघर्ष की समाप्ति के बाद उसी जन का एक हिस्सा जो सत्ता पर काबिज हो जाता है वह जन नहीं रह जाता वह शोषक शासक हो जाता है। यानी जन का मतलब 'वर्ग' से भी होता है वर्गसंघर्ष में इतिहासकार की पक्षधरता भी इतिहासकार के जन का निर्माण करती है।

जन हमेशा से दो प्रकार से होता है— स्थितियों से पैदा जन तथा चेतना से उत्पन्न जन । मुख्यतः जन अपनी वर्गगत स्थिति से ही तय होता है। चेतना से

उत्पन्न जन वह होता है जब किसी काल विशेष में वृहत्तर जन हितों से जुड़ता है। पूरी दुनिया के मुक्ति आन्दोलनों में जो लोग भी आज़ादी के लिये संघर्ष करते हैं वह जन होते हैं।

यही स्थिति भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की भी है। हर वह व्यक्ति जो साम्र ज्यवाद के ख़िलाफ खड़ा था, उस दौर में वह जन था। आज़ादी की ऐसी आकांक्षाओं के दौर में एक बड़ा हिस्सा जन में तब्दील हो जाता है और तभी इतिहास आगे बढ़ता है। किसी भी देश के इतिहास के निर्माण में जनता की सही भूमिका बनती है। इस खास परिप्रेक्ष्य में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में भी यहां का जन जुड़ा। जनता की व्यापक भूमिका के बगैर भारत की आज़ादी तकरीबन नामुमकिन थी। अतः रामशरण शर्मा जी की यह उक्ति कि अनपढ़ लोगों की राष्ट्रीय आंदोलन में हिस्सेदारी नहीं थी समीचीन नहीं है। अनपढ़ लोगों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में अपनी तरह से हिस्सेदारी की। मौखिक साक्ष्य भी इसकी पुष्टि करते हैं। अंग्रेजों के आने के साथ ही आरम्भ हो गया था जनता का प्रतिरोध जो विभिन्न रूपों में अन्त तक जारी रहा। जनजातीय आन्दोलन तथा किसान आन्दोलन इसके सबसे बड़े साक्ष्य हैं। आगे चलकर नेतृत्व वर्ग का संघर्ष तो अपने वर्गचरित्र के अनुरूप सत्ता के लिये संघर्ष में परणित हो गया लेकिन तेलंगाना आन्दोलन के रूप में किसान आंदोलन (जन आंदोलन) उसके बाद भी जारी रहा।

इस तरह 'जन' का अर्थ बहुत व्यापक और सापेक्ष है। हर विचारधारा जन एवं जनइतिहास को अपने ढंग से लेती है। उसका एक स्वरूप मार्क्सवादी एक जनवादी उदारवादी तथा सांस्कृतिक राष्ट्रवादी है। मुख्य झुकाव वाम की ओर ही है पर दक्षिणपंथी रूप भी मौजूद है। उदार दिखने वाली प्रवृत्तियां भी मूलतः दक्षिणपंथ की ही सेवा करती हैं। उदाहरण के लिये ट्रेवेल्यान के प्रसिद्ध सामाजिक इतिहास मे जन को प्रायः इतिहास के बाहर ही रखा गया है। भारत में तो ऐसे अनेक उदाहरण हैं जबकि जन विरोधी शक्तियां 'अपने जन' की लामबन्दी इतिहास के सहारे करती हैं।[16]

'जनइतिहास' शब्दावली का एक लम्बा 'कैरियर' रहा है। यह स्वयं में विभिन्न लेखनों को समेटे हुए है। उनमें से कुछ प्रगति के विचार से कुछ सांस्कृतिक निराशावाद तो कुछ यांत्रिक मानवतावाद से लैस होते हैं।[17] शाब्दिक अर्थो में जब–जब इतिहास लेखन अपनी वृत्तातों में जनता को रेखांकित करता है तो वह 'जन इतिहास' कहलाता है। जनइतिहास की विषय वस्तु भी अलग–अलग होती है लेकिन इसकी कोशिश हमेशा इतिहास को परिधियों को जनजीवन के करीब लाने की होती है। कुछ जगहो पर 'फोकस' उपकरणों एवं यांत्रिकी पर होता है, कुछ जगहों पर सामाजिक आन्दोलनों पर और कहीं पारिवारिक जीवन पर ।[18] आर्थिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के ढांचे में जन इतिहास के अनेकों नाम हैं।

जन इतिहास सदैव इतिहास के आधार को विस्तृत करता है। इसकी विषयवस्तु को वह और बढ़ाने के लिये वह नये स्रोतों को प्रयुक्त करता है। और ज्ञान को नई दिशायें प्रदान करता है।[19] जन इतिहास, इतिहास को युद्ध के मैदानों एवं नायकों की ज़िन्दगी के आस–पास से बहुतायत जनता की ओर ले जाता है। जन इतिहास अपनी विशिष्ट विषयवस्तु में जो भी हो, हमेशा राजनीति के हथियार के रूप में आकार पाता है और इस पर हर तरफ से विचारधारा का प्रभाव पड़ता है। कुछ व्याख्याओं में यह मार्क्सवाद से जुड़ता है। दूसरी तरफ यह जनतांत्रिक उदारवाद से जुड़ता है तो एक अन्य में यह सांस्कृतिक राष्ट्रवाद से भी जुड़ जाता है और इनमें से प्रत्येक महत्वपूर्ण है। यद्यपि जन इतिहास का मुख्य जोर हमेशा रैडिकल होता है, जिस पर वाम अपना कोई दावा नहीं कर सकता। यह सभी निर्जीव विद्वता से विद्रोह करते हैं और इतिहास को उसकी जड़ों की ओर ले जाते हैं।

जन इतिहास की दक्षिणपंथी व्याख्या की विशेषता होती है कि इसमें राजनीति का तत्व छोड़ दिया जाता है। जैसा कि ट्रेवेल्यान की पुस्तक 'इंग्लिश सोशल हिस्ट्री' एक संघर्ष विहीन इतिहास है। लेकिन उसमें धर्म एवं मूल्यों की सशक्त स्थापना हे। यह उस परिवार का आदर्श पेश करना चाहता है जो अपने में 'प्यार का एक घेरा' है जिसमें परिचित चेहरे हैं और वह इन्हें रिश्तों के शोषक चरित्र की जगह,

उन्हे अन्योन्याश्रित बताता है।

अपनी स्वाभाविक भिन्नताओं के बावजूद जनइतिहास की दक्षिण एवं वाम व्याख्यायों अनेक बिन्दुओं पर एक दूसरे को अच्छादित करती हैं। दोनों ही रोमांटिक आदिमवाद की सामान्य परम्परा को 'शेयर' करते हैं। जो प्राकृतिक है, सहज है और स्वतः स्फूर्त है उसको मानते हैं। दोनों के ही पास अतीत की नष्ट होती एकता के प्रति एक ललक है और उनका विश्वास है कि आधुनिक जीवन उनके प्रतिकूल है। लेकिन पूंजीवाद समाजवादियों के लिये अलग करने वाली एक शक्ति है।

जन इतिहास की उदारवादी व्याख्या समाजवादियों अथवा संकीर्णवादियों की अपेक्षा अधिक आशावादी है। यह भौतिक प्रगति को अपने प्रभाव में उदार मानता है। पूंजीवाद को कस्बों के विकास के रूप में देखता है। इनके अनुसार व्यक्तिवाद का उदय विनाशकारी नहीं है। बल्कि एक सामाजिक प्रगति का घोतक है, जो सामंती तानाशाही से मुक्ति दिलाता है। आधुनिकीकरण नागरिकी स्वातन्त्र्य की प्रगति की ओर मस्तिष्क का अभियान है। इसके विपरीत के मध्ययुग की तुलना युद्धों एवं अन्धविश्वासों से करते हैं। उस दौर में इतिहास का एक मुख्य विषय मध्ययुगीन म्युनिसपिलिटी का स्वशासन के लिये संघर्ष है (थोरी का राज्य ऑफ़ थर्ड स्टेट)। एक अन्य बात कृषकों की अर्धदासता से मुक्ति के रूप में की जाती है। धर्म एवं विज्ञान की लड़ाई में उदारवादी इतिहास स्वयं को चर्च भी आधिकारिता के विरोध में मजबूती से स्थापित करते हैं। राष्ट्रीयता का विकास भी प्रजाजन की मुक्ति की प्रगतिशील अवधारणा को ही पुष्ट करता है। जैसा कि कीरो सामान्यजन का सम्मान करता था और उसे 'द मासेज' बनकर पुकारता था जिसे वह इतिहास एवं उसके अन्तिम निर्णायकों (इतिहासकारों) दोनों का शिकार मानता था।

आरम्भिक दौर के समाजवादियों के उदारवादियों से थोड़ा विकसित एक भिन्न वर्ग दृष्टिकोण रखा। उन्होंने जमींदारों की जगह पूंजीवादियों को अपना दुश्मन माना और जन की पहचान पहली बार औद्योगिक मेहनतकश के रूप में की। लेकिन उन्होंने जनइतिहास की रैडिकल उदारवादी व्याख्या को लगभग अक्षुण रखा। उन्हीं

की तरह वर्ग शोषण के लिये भूमि ही उनका मुहावरा बनी। उन्होंने औद्योगिक हड़तालों की जगह किसानों के उदय का ही वर्णन किया है। यद्यपि फैक्ट्री व्यवस्था उनके लिये अन्याय की ऐतिहासिक द्योतक बनी। जबकि एच. एम. हाइन्डमान, बेलफोर्ड बैक्स, थेरोल्ड रीजर्स एवं श्रीमती जी. आर. ग्रीन के लिये पन्द्रहवीं सदी कलाकारों एवं किसानों का 'स्वर्णयुग' थी।

यह सच है कि मार्क्स ने 'जन' की नहीं 'सर्वहारा' की बात कही थी; लेकिन उनके लेखन ने यह शब्द परिवर्तनीय अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। जिसमें सम्पत्तिहीन एवं गरीब भी शामिल है। उनके चिन्तन में मेहनतकश वर्ग हमेशा बहुसंख्यक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। मार्क्स एवं उनके अनुयायियों के लिये समाजवाद जनवादी विचार का अहसास था। बीसवीं शताब्दी में मार्क्स का चिन्तन और उभर कर सामने आता हैं जबकि समाजवादी एवं साम्यवादी हर जगह जनान्दोलनों के नेता बनते हैं। अक्टूबर क्रांति एवं थर्डइन्टरनेशनल के कम्युनिस्टों ने वृहद् जन अथवा कोटि श्रमजीवियों के लिये अपील निर्देशित की। कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो में यह शब्द मेहनतकश जन के रूप में परिभाषित होता है, जो आज तक कायम है। इटली में ग्रामशी का 'राष्ट्रवादी लोक' इटली के साम्यवाद का ऐतिहासिक आधार है। चीन के साम्यवाद एवं हाल में तीसरी दुनिया के मुक्ति आन्दोलनों में मार्क्सवाद ने राष्ट्रवाद का जो अनिवार्य मुहावरा स्वीकृत किया उसके 'जन' एक समग्र रूप में प्रयुक्त हुआ है।

जन इतिहास के साथ मार्क्सवाद का सम्बन्ध कठिन ज़रूर है लेकिन उनके एक दूसरे से नाभिनाल का सम्बन्ध है। मार्क्स ने स्वयं जनइतिहास का प्रयोग किया है जिसके लिये उसके उत्तराधिकारी उसके ऋणी हैं। पूंजी का पूरा विवरण निम्न वर्ग का इतिहास है।[20]

मार्क्सवाद के अनुसार सम्पूर्ण मानव इतिहास का पहला पूर्वाधार निस्संदेह प्राणवान मानव है। ..... इतिहास लिखने का कार्य हमेशा इतिहास के प्रवाह के दौरान मानव के कार्यकलाप के माध्यम से उनमें होने वाले परिवर्तनों से आरम्भ किया जाना चाहिये।[21]

यद्यपि जनता ही इतिहास की निर्णायक शक्ति होती है और हमेशा जनता इतिहास निर्माण करती आयी है किन्तु जनभूमिका को रेंखांकित करने का काम इतिहास में बहुत देर से शुरू हुआ। वस्तुतः जनइतिहास शब्दावली अपने आपमें एक आधुनिक शब्दावली है। इसका विकास मुख्यतः यूरोप की भूमि पर हो हुआ। जन इतिहास का विचार मुख्यतः अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक जाता है। ग्रीस एवं रोम की शास्त्रीय परम्परा जो पुनर्जागरण के समय पुनर्नवीन हुयी, एक कुलीन साहित्यिक कोटि में आती है। जैसे 'एपिक' एवं 'ट्रेजेडी'। 'ऐपिक', 'ट्रेजेडी' एवं इतिहास यह सभी महान लोगों के महान कार्यो से सम्बद्ध थे। सामान्य जन की बात करना आम तौर पर इतिहास की प्रतिष्ठा के नीचे की बात करने जैसा था।

हेरोदोतस एवं पुनर्जागरण काल में शास्त्रीय इतिहासकार भी विभिन्न लोगों के तौर तरीके एवं रीति रिवाजों में ही रूचि रखते थे। परन्तु उन्होंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि यह रीतिरिवाज समय के साथ परिवर्तित हो गये। वह इस बात को जानते थे कि कानून एवं भाषा समय के साथ बदल गये हैं किन्तु समाज में होने वाले परिवर्तनों से वह अन्जान थे। अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य तक किसी भी यूरोपीय भाषा में 'समाज' शब्द का आधुनिक अर्थ अस्तित्व में नहीं था और बिना शब्द के समाज अथवा सामाजिक ढांचे के रिश्तों को समझना मुश्किल है। 18वीं सदी के मध्य में ही फ्रांस एवं ब्रिटेन के कुछ लेखक तौर तरीके एवं रीति रिवाज में परिवर्तन तथा एक समाज से दूसरे समाज में परिवर्तन की बात कहने लगे।

वाल्तेयर का 'एसे ऑन मैनर' यूरोपीय जीवन के तौर तरीके में बदलाव की बात कहता है। तूर्जो, एडम स्मिथ एवं विलियम राबर्टसन ने जीवन निर्वाह के तरीकों के आधार पर मानवता के इतिहास को अलग–अलग वर्णित किया है। स्कॉटलैण्ड में 'बुद्धिजीवियों' ने 'नागरिक समाज के इतिहास' अथवा सामाजिक इतिहास की बात की। इसी समय जर्मन बुद्धिजीवियों द्वारा लोकप्रिय संस्कृति की खोज हुयी। जिसमें सर्वप्रसिद्ध जे.जी. हर्डर हैं, जिन्होंने 'पापुलर कल्चर' शब्दावली प्रस्तुत की। ग्रिम बन्धुओं ने लोककथाओं का संकलन किया।

19वीं शताब्दी के आरम्भ में इतिहास में सबसे पहले 'जन' शब्द का प्रयोग हुआ। इस क्षेत्र में सबसे आरम्भिक किताबों में हैं– ई.जी. गीजर की 'हिस्ट्री ऑफ स्वीडिश पीपुल' एवं पैलेकी की 'हिस्ट्री ऑफ चेक पीपुल'। गीजर एवं पैलेकी दोनो ने विद्यार्थी के रूप में अपने देश का भ्रमण किया और लोकगीतों को एकत्रित किया। इतिहास लिखने के लिये इसी तरह की सांस्कृतिक रूचि एवं महत्वाकांक्षा की आवश्यकता हे। जो सिर्फ सरकार का इतिहास न होकर पूरी जनता का इतिहास हो। जर्मनी में जिमरमान ने जर्मन किसान युद्ध के बारे में लिखा। रूस में कवि पुश्किन ने सत्रहवी सदी के किसान विद्रोह के नेता युगाचेव का इतिहास लिखने की योजना बनाई। (इस पर जार की टिप्पणी कुख्यात है: इस तरह के आदमी का कोई इतिहास नहीं होता) फ्रांस में 'मिशेल, इंग्लैण्ड में मैकाले जनइतिहास के आरम्भिक उदाहरण हैं। आगे चलकर जे. आर. ग्रीन ने 'शार्ट हिस्ट्री ऑफ इंग्लिश पीपुल' लिखी। लेकिन अंग्रेज लेखक स्वीडिश एवं चेक लेखकों से पिछड़े हुए थे।

इस तरह यह सारे लेखक जनइतिहास के आरम्भकर्ता हैं। यद्यपि उन्होने जो लिखा वह पूरी तरह से संतोषजनक नहीं है, फिर भी यह बात सकारात्मक है कि वाल्तेयर से लेकर आगे के सभी लेखकों ने यही घोषित किया कि इतिहास का सम्बन्ध केवल युद्ध एवं राजनीति से नहीं है, बल्कि समस्त जन जीवन से है। यद्यपि इन्होंने भी जन की स्थिति पर बहुत कुछ नहीं लिखा। मार्क्स एवं एंगेल्स के पहले किसी के पास भी घटनाओं एवं ढांचे को जोड़ने की आवश्यकता पर ध्यान नहीं दिया।

इन इतिहासकारों की एक अन्य कमज़ोरी यह थी कि 'जन' शब्द का अर्थ इनके लिये अस्पष्ट था। यह जन कौन है– कभी–कभी यह पूरी जनसंख्या के लिये प्रयुक्त होता है पर हमेशा नहीं। कभी कुलीनता जन से अलग कर दी जाती तो कभी वह कस्बों के निवासी होते।[22]

इस तरह 'जनइतिहास' की शुरुआत इतिहास के एक अंग के रूप में हुयी। भारत में अभी भी अलग से 'जनइतिहास' के रूप में इतिहासलेखन की बात नहीं कही जाती किन्तु इतिहास की मार्क्सवादी पक्षधरता के इतिहासकार अपने लेखन को जनता

के इर्दगिर्द अवश्य केन्द्रित करते रहे हैं। मुख्यतः भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के विश्लेषण के माध्यम से भी यह बात सिद्ध की जा सकती है। यहां भी 'जन' का विभाजन दक्षिण एवं वाम का है। वामपंथी इतिहासलेखन अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता के कारण जन के अधिक करीब होता है। फिर भी जन इतिहास किसी भी विचारधारा के तहत लिखा गया है। वह हमेशा सामान्य जनता की ज़िन्दगियों के करीब होता है और जैसा कि पाल थाम्पसन कहते हैं कि सभी इतिहास अन्ततः अपनी सामाजिक सोद्देश्यता में निहित होता है।[23] यदि इतिहास का सम्बन्ध समाज और मानव से है तो इतिहास लेखन का सरोकार भी मानव समाज यानी 'जन' से होना चाहिये।

जन इतिहास महज इतिहास लेखन का ही प्रश्न नहीं है। जन इतिहास अवधारणा के साथ-साथ पद्धति का भी प्रश्न हे। यही से शुरू होती है सबसे महत्वपूर्ण बात इतिहास की मूल अवधारणा की बात इतिहास का कारण कौन है कोई पराभौतिक शक्ति? महापुरूष ? पर फिर जनशक्ति[24] अब तक के इतिहास से यह सिद्ध हो चुका है कि इतिहास का कारक हमेशा जनशक्ति होती है। यहीं पर उठता है महत्वपूर्ण सवाल कि इतिहास का निर्माता है तो फिर उसका इतिहास लिखने की पद्धति क्या होगी। वह कैसे और किन स्रोतों के आधार पर लिखा जायेगा। उपलब्ध पारम्परिक स्रोतों के आधार पर किये इतिहास लेखन की हमेशा जन से दूरी ही बनेगी। कई बार जनता की बात करते हुए भी वह सेवा हमेशा सरकारी इतिहास की ही करेगा। अतः जनता का इतिहास को लिखने के लिये सबसे जरूरी है कि इतिहासकार जनता के बीच जाये और जनता से ही स्रोत एकत्रित करे। यानी जन इतिहास को लिखने की प्रणाली निश्चिततः मैखिक इतिहास से जुड़ती है। जैसा कि रफेल सैमुएल की प्राप्ति है कि मौखिक इतिहास सामाजिक ढांचे और प्रतिदिन के जीवन के सांचे को व्याख्यायित करने के लिये सबसे उपयोगी माध्यम है।[25] आइन्सटीन के अनुसार ज्ञान के दो स्रोत हैं पुस्तकें एवं स्वयं जीवन। इसी तरह इतिहास के भी दो तरह के स्रोत होते हैं- तरह-तरह के दस्तावेज एवं स्वयं जीवन। एक व्यक्ति के जीवन में ही उसका जीवन समाहित होता है- साथ ही उसके अतीत की स्मृति भी होती है। इसी तरह

समाज के विभिन्न पहलुओं में अतीत निहित होता है। साथ ही गाथाओं, मिथकों, लोकगीतों यहां तक कि मुहावरों और किंवदंतियों तक में अतीत पूरी जीवन्तता के साथ उपस्थित रहता है।[26] ज़रूरी है कि इतिहासकार लोगों के करीब जाकर उन स्रोतों को भी संकलित करे। इतिहास में 'जन' की रेखांकित करने के लिये जन से ही स्रोत सामग्री एकत्रित करनी होगी। अर्थात् जन इतिहास अपनी प्रणाली एवं पद्धति में मौखिक इतिहास के करीब है। मौखिक इतिहास जन संघर्षों एवं जन शक्ति की अभिव्यक्ति होता है। मौखिक इतिहास वह इतिहास है जो जनता के इर्दगिर्द निर्मित होता है। यह स्वयं इतिहास में जीवन फूंक देता है और इसकी सम्भावनाओं को बढ़ाता हैं। यह सिर्फ नेताओं से ही नहीं बल्कि बहुसंख्यक अन्जान लोगों में से भी नायक तलाश करता है। यह कम विशेषाधिकार प्राप्त विशेषतः बूढ़ों को गरिमा एवं आत्मविश्वास प्रदान करता है। यह सामाजिक वर्गों एवं पीढ़ियों के बीच समझदारी उत्पन्न करता है। व्यक्तिगत इतिहासकार एवं अन्य लोगों को नये मायने देता है और देश एवं काल को निजता बोध करता है। संक्षेप में यह समानता से मानवता को पूर्णता की ओर ले जाता है। मौखिक इतिहास स्वीकृति मिथकों को चुनौती देता है जो अपनी परम्परा में सरकारी न्याय अन्तर्निहित किये रहते हैं। यह इतिहास के सामाजिक अर्थ को 'रैडिकल' रूपान्तरण प्रदान करता है।[27] इस तरह मौखिक इतिहास एवं जनइतिहास परस्पर अन्तर्गुथित हैं। इतिहास में मौखिक स्रोतों का प्रयोग करके इतिहासकार इतिहास के फोकस को जन पर केन्द्रित करता है। साथ ही जन इतिहास में मौखिक स्रोतों का प्रयोग समग्रता में जन इतिहास को एक विधा के रूप में भी प्रस्तुत करता है। यहीं पर महत्वपूर्ण है कि इतिहास को सिर्फ जनइतिहास घोषित करना ही पर्याप्त नहीं है। यहीं प्रश्नचिन्ह लगता है इतिहासकार की सामाजिक प्रतिबद्धता पर भी। सिर्फ इतनी ही पूर्ण नहीं है कि जनइतिहास के रूप में जन की भूमिका इतिहास में दर्ज की जाये बल्कि आवश्यकता इस बात की है कि 'जन के लिये' इतिहास लिखा जाये। जन को इतिहास में शामिल करना और 'जन के लिये इतिहास' लिखने में आधारभूत अन्तर है। इतिहास लेखन में 'निम्नवर्गीय' इतिहास शामिल करके इतिहासकार वैचारिक रूप

से अपना पक्ष तो रखता है परन्तु कोई ज़रूरी नहीं कि वह 'जनइतिहास' हो। मसलन 'सबाल्टर्न' समूह 'नीचे के इतिहास' की बात तो करता है परन्तु इतिहास जन के लिये नहीं होता। ज़्यादातर अंग्रेजी में लिखी मोटी–मोटी किताबें (अब कुछ का कठिन अनुवाद हिन्दी में उपलब्ध है) और भारी भरकम अकादमिक बहसें भी उनके इतिहास को 'जन के लिये' नहीं बना पाती। दूसरी बात यह है कि जन को हमेशा 'अभिजन' के सापेक्ष ही समझा जा सकता है। दूसरे शब्दों में जन को हमेशा वर्गीय 'आउटलुक' में ही देखा जा सकता है। यहीं पर इतिहास की उपान्श्रयी धारा मौखिक इतिहास एवं जन इतिहास से अलग हो जाती है। वह जन को सिर्फ 'नीचे' से देखने की आदी हैं और इतिहास लेखन के दौरान अभिजन का हिस्सा नहीं मानता । जबकि मौखिक इतिहास एवं जन इतिहास, इतिहास को समग्रता में लेते हैं और वर्गों की सापेक्षिकता में ही 'जन' को रेखांकित करते हैं।

अत. जनइतिहास विचारधारा– पद्धति एवं प्रतिबद्धता के साथ–साथ भाषा का भी प्रश्न है। जन इतिहास को जनता की भाषा का भी प्रश्न है। जन इतिहास को जनता की भाषा भी बोलनी पड़ेगी। मौखिक इतिहास एवं जनइतिहास दोनों ही एक सिक्के के दो पहलू है। मौखिक इतिहास जनइतिहास लिखने की एक पद्धति है।

मौखिक इतिहास एवं जन इतिहास न सिर्फ सामूहिकता को स्थान देते हैं बल्कि अपने सरोकार एवं जुड़ाव के चलते समूह में इतिहास बोध भी पेदा करते हैं। एक बार व्यक्ति के अतीत के बारे में प्रश्न करता हुआ न सिर्फ इतिहासकार व्यक्ति के अतीत से जुड़ता है, बल्कि वह सम्बन्धित व्यक्ति के परिवार से भी जुड़ जाता है। दूसरी तरफ वह व्यक्ति एवं उसका परिवार अतीत से गहराई से जुड़ते हैं और तब पेदा होता है यह इतिहासबोध कि इतिहास निर्माण में उसके जैसों की भूमिका रही है।

इस तरह मौखिक इतिहास, जनइतिहास का एक अविभाज्य हिस्सा है। परन्तु यह अनिवार्य नहीं है कि जनइतिहास हमेशा मौखिक इतिहास का ही अविभाज्य हिस्सा हो। क्योंकि मौखिक इतिहास का प्रयोग इतिहासकार अपनी तरह से करता है। व्यक्तिविशेष का इतिहास लिखते समय भी मौखिक इतिहास प्रयुक्त हो सकता है। वह

इतिहासकार जिनकी पक्षधरता जनता में नहीं होती वह भी मौखिक इतिहास का प्रयोग कर सकते हैं। जनइतिहासकार एवं मौखिक इतिहासकार 'सामूहिक व्यवहार' के अध्ययन में एक ही नहीं हो सकते।[28] इतिहास में जनभूमिका को रेखांकित करने में क्रम में इतिहासकार मौखिक इतिहास की पद्धति का प्रयोग करते हैं। मौखिक स्रोतों की तलाश में स्वयं जनता के पास जाते हैं। जन अपना इतिहास स्वय बोलते हैं। इतिहासकार और इतिहास निर्माताओं के बीच की दूरी कम होती है। जन इतिहास को जीवन्त बनाता है और इतिहासकार स्वयं जन को इतिहासबोध से लैस कराता है। इतिहास में जनता की भूमिका उनके शब्दों में ही दर्ज होती है। इस बात का परीक्षण भी होता है कि दरअसल इतिहास में जनता की कोई भूमिका रही भी है या नही। जैसा कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के सन्दर्भ में इतिहासकार रामशरण शर्मा सलाह देते हैं कि "पहले आप पता करिये कि उस समय जन कौन थे।" उनके हिसाब से भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में जन की भूमिका बहुत कम थी।[29] यह सत्य है कि राष्ट्रीय आंदोलन का दस्तावेजी स्वरूप मुख्यतः मध्यवर्गीय या उसकी मुख्यधारा में भाग लेने वाले लोग भी मुख्यतः शहरी अथवा गांवो से शहर में आये निम्न मध्यवर्गीय लोग ही थे। किन्तु एक बड़ी संख्या जो जनजातीय विद्रोह में अथवा किसान विद्रोह में हिस्सा ले रही थी वह अनपढ़ थी। शहरों की जनसंख्या का एक बड़ा तबका जो कम पढ़ा लिखा था 'राष्ट्रीय आन्दोलन' के साथ था। यह अलग बात है कि उसने स्वतन्त्रता आन्दोलन में अपने तरीके से हिस्सा लिया। भले ही अपनी हिस्सेदारी के प्रति वह इतने सचेत नहीं थे। लेकिन वह स्वतन्त्रता आन्दोलन का ही हिस्सा थे। वह साम्राज्यवादी शक्तियों के ख़िलाफ संघर्ष कर रहे थे, यद्यपि वह साम्राज्यवादी शक्तियों के रूप में उनकी पहचान नहीं कर पा रहे थे। उनका प्रतिरोध साम्राज्यवादी शासकों के लिये एक समस्या बन गया था। इसी तरह किसान स्थानीय भूपतियों के ख़िलाफ भी लड़ रहे थे जो अपने औपनिवेशिक स्वामी के लिये अधिक कर की मांग कर रहे थे। समूचे जनजातीय एवं किसाान आंदोलन को अनपढ़ नेताओं द्वारा ही नेतृत्व प्रदान किया गया।[30] उदाहरण के लिये अवध का किसान आन्दोलन जो आग की तरह पूरे क्षेत्र में

फैल गया था; जिसने न सिर्फ ज़मीदारों अंग्रेजों बल्कि कांग्रेस तक की नींद हराम कर दी थी, ओर तीनो ने ही उनसे निपटने के अपने–अपने तरीके अपनाये।[31] इसी तरह अनेको वह घटनायें जो दस्तावेज़ों में नहीं है– वह भी इतिहास का ही हिस्सा हैं। इसे जनइतिहास तथा मौखिक इतिहास के माध्यम से ही दर्ज करा सकते हैं। उदाहरणार्थ बंसीलाल बताते हैं कि उनके गांव में कांग्रेसी छिपने के लिये आते थे तो गांव के लोग उन्हें खाना खिलाते थे। उनके गांव के चतुर्भुज मास्टर कांग्रेसी आन्दोलन में हिस्सा लेते थे और छुपकर रहते थे। स्वयं बंसीलाल गांव से खाना एकत्र कर उन्हें पहुंचाने एक डेढ़ किमी दूर का जंगली रास्ता पार करके जाते थे।[32] इस तरह करोड़ों बंसीलाल एवं चतुर्भुज मास्टर की दास्तान लिखित इतिहास में दर्ज नहीं है। ऐसे ढेर सारे लोग अचेतन रूप से अंग्रेजों के खिलाफ खड़े थे। वे उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के एक अंग के रूप में 'औपनिवेशिक' शासन का प्रतिरोध कर रहे थे। अन्त आते–आते तो सचेत तौर पर ऐसे असंख्य लोग भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल हुए जिसके कारण ही आज़ादी सम्भव हुयी। जहां तक उसके पढ़े लिखे तबके का सवाल है जो राष्ट्रीय आन्दोलन में हिस्सेदारी कर रहा था वह महत्वाकांक्षी हो रहे थे। वे राष्ट्रीय आन्दोलन पर नियंत्रण करना चाहते थे वह औपनिवेशिक मालिकों से शासन अपने हाथ में लेना चाहते थे। यद्यपि उनकी आज़ादी की चाह भी 'जेनुइन' थी। अतः उन्होंने औपनिवेशिक सत्ता का विरोध किया। सभी लोग साम्राज्यवादी सत्ता के विरोध में थे। पढ़े लिखे कुछ लोगों की उसकी चिन्ता नहीं भी थी। अतः पूरे संघर्ष में साक्षर लोगों की ही हिस्सेदारी थी ऐसा नहीं कहा जा सकता। जनता का एक बड़ा हिस्सा आजादी की लड़ाई में शामिल हुआ।[33] यह अलग बात है कि आज़ादी का तासव्वुर सबके लिये अलग–अलग था। पढ़े लिखे लोगों का 'विजन' कुछ दूसरा था। उनके द्वारा नेतृत्व किया गया आन्दोलन थोड़ा भिन्न था। क्योंकि उनकी नीतियाँ भिन्न थी; उनकी अवधारणा भिन्न थी। उनका आन्दोलन का विचार पश्चिम से लिया गया था। अतः हम उनकी तुलना किसान आन्दोलन या जनजातीय आन्दोलन से नहीं कर सकते। सच यही है कि वह सभी अंग्रेजों के विरोध में थे। संघर्ष की यही सम्पूर्णता स्वतन्त्रता संघर्ष थी।[34]

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एक तरफ तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्ति की लड़ाई लड़ रहा था वहीं दूसरी तरफ उसका आंतरिक विरोध सामंतवादी उत्पादन प्रणाली से भी था। समूचा जन इस प्रणाली के अन्तर्गत संघर्षरत था। 1947 आते--आते ब्रिटिश साम्राज्यवाद उस पूरे अन्तर्विरोध का प्रमुख पहलू बन गया और जनता का संघर्ष भी अंग्रेजों से मुक्ति पाने के रूप में उभर कर सामने आया।

इस तरह हम देखते हैं कि इतिहास हमेशा बहुआयामी होता है, अतः इतिहास लेखन में उसकी अभिव्यक्तियां भी बहुआयामी हैं। जनइतिहास एवं मौखिक इतिहास भी उन्हीं विभिन्न अभिव्यक्तियों का एक अंग है। कोई भी इतिहास लेखन किसी भी अतीत के सभी आयाम एक साथ नहीं दिखा सकता, इसी आधार पर जनइतिहास की भी अपनी सीमायें हैं। फिर इतिहासलेखन की अपनी आत्मगतता भी होती है। जनइतिहास की भी है। जैसा कि पीटर बर्क कहते हैं– कभी इसमें कुछ 'जन' अधिक 'जन' की तरह प्रयुक्त होते हैं जबकि सभी सामान्य जन 'रैडिकल' नहीं होते और न ही सभी रैडिकल सामान्य जन होते हैं।[35] यानी कोई ज़रूरी नही कि किसी ऐतिहासिक युग विशेष में समूची जनता ने अपनी भूमिका निभाई हो। परन्तु सच यह भी है कि जनता हमेशा से इतिहास की निर्णायक शक्ति होती है। अतः इतिहास का संकेन्द्रण भी उसी पर होना चाहिये। जन इतिहास के लिये सकारात्मक यही है कि वह हमें राजनीतिक घटनाओं ने नीचे दबे सामाजिक ढांचे को दिखाता है और सामान्य जन को उसकी गरिमा वापस प्रदान करता है।[36]

निष्कर्षतः जन इतिहास इस जटिल समाज में जटिलता के प्रति जन के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है।[37] मुख्यतः यह इतिहास लेखन की दृष्टि का विषय है। यह पूरी तरह से इतिहासकार की पक्षधरता विचारधारा एवं समाज के प्रति उसके संस्कार का भी मामला है। फिर भी 'जन' एवं 'जनइतिहास' शब्द की सबसे वैज्ञानिक एवं सर्वमान्य व्याख्या मार्क्सवाद ही करता है। वर्ग समाजों में इतिहास हमेशा शासक वर्ग का सत्ता बनाये रखने के उपकरण के रूप में प्रयुक्त होता है। वह इसे राजनीतिक एवं विचारधारात्मक दोनों स्तर पर कब्जा करने के हथियार के रूप में इस्तेमाल करता

है।[38] इस लिये वर्ग संघर्षो के इतिहास में जनता की भूमिका को रेखांकित करने का काम एक जन पक्षधर इतिहासकार ही कर सकता है। हलांकि जैसा कि पीटर बर्क सलाह देते हैं कि "हमें ऐसा इतिहास लिखने का प्रयास करना चाहिये जो हर प्रकार के लोगों की समस्त क्रियाकलापों को समेट सके न कि मानवता के किसी एक हिस्से के क्रियाकलाप जैसे राजनीति, अथवा किन्ही सामाजिक समूहों की गतिविधियों पर केन्द्रित हो।"[39] इस सलाह के प्रति हमारी सदिच्छा अवश्य हो सकती है। अतीत इतना जटिल एवं बहुआयामी होता है कि उसे पूर्णता में समझना लगभग नामुमकिन है। कोई भी इतिहास या इतिहासलेखन स्वयं में सम्पूर्ण नहीं हो सकता। यह अलग बात है कि इतिहास के प्रति हमारा दृष्टिकोण समग्रता का होना चाहिये। बावजूद इसके कि जनइतिहास इतिहास को सामान्य जन एवं उनकी ज़िन्दगियों के करीब ले जाता है और जन इतिहास अपने वृन्तांत में हमेशा जन संघर्षो को जगह देता है। फिर भी हमें उन सघर्षो को मानवता के इतिहास के संदर्भ में देखना चाहिये। अर्थात् जनइतिहास को इतिहास की सम्पूर्णता में ही अवस्थित किया जाना चाहिये किन्तु इन सबसे बड़ा सच यह है कि अन्ततः इतिहास की तरह इतिहासकार भी वर्गसंघर्ष से परे नहीं होता[40]

सन्दर्भ सूची

1. कार्ल मार्क्स एवं फ्रेडरिक एंगेल्स : कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र संकलित रचनायें – खण्ड –1, भाग–1 पृष्ठ 130
2. लाल बहादुर वर्मा : 'जन के लिये इतिहास, फ्रांसीसी क्रांति पर इतिहास लेखन की एक झलक – अध्यक्षीय वक्तव्य इन्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, भारतेतर संभाग, अलीगढ़ अधिवेशन 1994
3. दर्शन कोश : प्रगति प्रकाशन, मास्को पृष्ठ 206–07.
4. रफेल सैमुएल . 'पीपुल्स हिस्ट्री एण्ड सोशलिस्ट थ्योरी', सम्पादकीय प्रस्तावना, पृष्ठ xxi
5. जार्ज रूडे :'द क्राऊड इन फ्रेंच रिवोल्यूशन';पृष्ठ 239
6. दीपायन बोस : फ्रांसीसी क्रांति की परम्परा – विरासत प्रासंगिकता और महत्व, इतिहास बोध प्रथमांक
7. लालबहादुर वर्मा : पूर्वोक्त
8. रफेल सैमुएल : पूर्वोक्त
9. वर वर राव : जनान्दोलन एवं लेखक की भूमिका, 'पहल' भाऊ समर्थ व्याख्यान, पहल द्वारा आयोजित, 1997 पहल द्वारा प्रकाशित पुस्तिका में संकलित
10. लेनिन, उदधृत : लालबहादुर वर्मा, पूर्वोक्त
11. लालबहादुर वर्मा : पूर्वोक्त
12. पीटर बर्क : 'डिस्कोर्स ऑफ पापुलर कल्चर', पीपुल्स हिस्ट्री एण्ड सोशलिस्ट थ्योरी, पृष्ठ 216

13. लाल बहादुर वर्मा : पूर्वोक्त

14. राजन गुरूक्कल : साक्षात्कार, मौखिक इतिहास शृंखला कैसेट संख्या M18

15- रामशरण शर्मा : साक्षात्कार, मौखिक इतिहास शृंखला, कैसेट संख्या 5

16. लालबहादुर वर्मा : पूर्वोक्त

17. रफे.ज़ सैमुएल : पूर्वोक्त पृष्ठ xv

18. पूर्वोक्त

19. पूर्वोक्त : पृष्ठ xvi

20. पूर्वोक्त

21. मार्क्स एंगेल्स : पूर्वोक्त

22. पीटर बर्क :पीपुल्स हिस्ट्री एण्ड टोटल हिस्ट्री, उदधृत रफेल सैमुएल – पीपुस हिस्ट्री एण्ड सोशलिस्ट थ्योरी – पृष्ठ 4 – 8

23. पाल थाम्पसन : द वाइस ऑफ पास्ट – ओरल हिस्ट्री पृष्ठ 21

24. लालबहादुर वर्मा : 'मौखिक स्रोत और परम्परायें तथा इतिहास' इतिहासबोध प्रथमांक

25. पालथाम्पसन : पूर्वोक्त पृष्ठ 136.

26. लालबहादुर वर्मा : पूर्वोक्त

27. पालथाम्पसन : पूर्वोक्त पृष्ठ 18.

28. पालथाम्पसन : लुइसा पैसरनिनी, इसाबेल वियाम एवं एलेसान्ड्रो पोर्टेली विटवीन सोशल साइन्टिस्ट : रिसपान्स टू लुइसा टिली; इन्टरलेशनल जर्नल ऑफ ओरल हिस्ट्री

वाल्यूम 6, जनइतिहास एवं समाज इतिहास पर आधारित एक बहस में ।

29. रामशरण शर्मा : पूर्वोक्त

30. राजन गुरूक्कल : पूर्वोक्त

31. देखें कपिल कुमार : किसान विद्रोह, कांग्रेस और अंग्रेज राज्य, हिन्दी संस्करण, मनोहर पब्लिकेशन्स 1991

32. बंसीलाल : साक्षात्कार, मौखिक इतिहास शृंखला कैसेट संख्या M10

33. राजन गुरूक्कल : पूर्वोक्त

34. पूर्वोक्त

35. पीटर बर्क : पूर्वोक्त पृष्ठ 7

36. पूर्वोक्त : पृष्ठ 8

37. लुई ए. टिली : पीपुल्स हिस्ट्री एण्ड सोशल साइन्स हिस्ट्री; इन्टरनेशनल जर्नल ऑफ ओरल हिस्ट्री, वाल्यूम 6, नं. 7

38. सुनीति कुमार घोष : इन्डिया एण्ड द राज – प्रस्तावना

39. पीटर बर्क : पूर्वोक्त पृष्ठ 8

40. जीन चेसनॉक्स : उदधृत सुनीति कुमार घोष, पूर्वोक्त

IV

इलाहाबाद : भौगोलिक एवं ऐतिहासिक रूपरेखा

हिमाद्विन्ध्योर्मध्ये यत्प्राग्विनशनादपि ।

प्रस्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ।।

(मनुस्मृति द्वितीय अध्याय 21वां श्लोक)

(अर्थात् हिमालय और विंध्याचल के बीच उस स्थान से पूर्व जहां सरस्वती नदी बालू में लोप हो जाती है और प्रयाग के पश्चिम में जो देश है उसे मध्यदेश कहते हैं।)[1]

इलाहाबाद शहर की सांस्कृतिक एवं धार्मिक चेतना में सदियों से बहती आ रही है एक अदृश्य पौराणिक नदी 'सरस्वती' जिसका अब कोई भौगोलिक अस्तित्व नहीं है। न जाने कब से पौराणिक–धार्मिक एवं मौखिक परम्पराओं मे प्रवहमान यह नदी आज भी 'त्रिवेणी' प्रयाग की पहचान है। किसी को नही पता कि इसका उद्गम कहां है और इसका अन्त कहां पर होता है। इलाहाबाद में गंगा, युमना के संगम तीरे फैली रेत में लोप ही जाने वाली यह नदी प्रतीक है एक पूरी परम्परा की। इसी परम्परा में विकसित हुआ है शहर इलाहाबाद।

इलाहाबाद गंगा यमुना के दोआब में बसा हुआ एक बड़ा और प्राचीन नगर है। पूरे उत्तरी भारत में यह शहर एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। कर्क रेखा इलाहाबाद के समीप से होकर जाती है जो इलाहाबाद के प्राकृतिक मौसम को खासा गर्म रखती है। साल भर में आठ महीने की कड़ी गर्मी इस शहर के लोगों को सुस्त बना देती है। किसी भी शहर की प्राकृतिक आर्थिक संरचना उस शहर के सांस्कृतिक चरित्र को रचती है। इलाहाबाद के सम्पूर्ण स्वरूप को निर्धारित करने में प्राचीन धार्मिक ऐतिहासिकता का विशेष हाथ है। भारत के तमाम प्राचीन संस्कृत साहित्य में 'प्रयाग' का वर्णन मिलता है।

वाल्मीकि रामायण में कुछ अधिक विस्तार के साथ प्रयाग का वर्णन मिलता

है। उसके अयोध्याकाण्ड के 50 से 52 सर्ग में लिखा है कि जब श्रीरामचन्द्रजी को पिता से वनवास का आदेश मिला तो वह अयोध्या से चलकर श्रृंगवेरपुर (वर्तमान सिंगरौर) में गंगा के तट पर आये और उसी धार से पार उतर कर 'वत्सदेश' में पहुंचे। यह वत्सदेश प्रयाग के पश्चिम के उस भूभाग को समझना चाहिये, जो गंगा और यमुना के बीच अब 'अन्तर्वेद' अथवा 'दोआबा' कहलाता हैं, इसकी राजधानी कोशाम्बी थी।

इसके अनन्तर 54वें सर्ग में लिखा है कि फिर "राम एक बड़ा वन पार करके उसे देश को चले, जहां गंगा और यमुना का संगम है।" प्रयाग के निकट पहुंच कर उन्होंने लक्ष्मण से कहा कि 'हे सौमित्र ! देखो यही प्रयाग है, क्योंकि यहां मुनियों द्वारा किये हुए अग्निहोत्र का सुगन्धित धुवां उठ रहा है। अब हम निश्चय गंगा और यमुना के संगम के निकट आ गये, क्योंकि दोनो नदियों के जल के मिलने का (कल–कल) शब्द सुनाई पड़ता है।"

इसके आगे भरद्वाज मुनि के आश्रम (यह स्थान इस समय कर्नलगंज मुहल्ले में है) में पहुंचने और वहां विश्राम करने का वर्णन है।

फिर आगे 55वें सर्ग में भरद्वाज मुनि ने रामचन्द्र को प्रयाग से चित्रकूट जाने का जो रास्ता बताया है वह भी उल्लेखनीय है क्योंकि उससे उस समय के प्रयाग के निकटवर्ती स्थानों की स्थिति का कुछ पता चलता है। लिखा है कि "राम आप गंगा और यमुना के संगम से पश्चिमाभिमुख होकर यमुना के किनारे–किनारे कुद दूर तक चले जाइये, फिर उसे पार करके कुछ दूर तक और चलिये तो आपको बरगद का बड़ा वृक्ष मिलेगा, जिसके चारों ओर बहुत से छोटे–छोटे पौधे उगे होंगे। उस बड़े वृक्ष में कुछ श्यामता भी आपको मिलेगी। उसके नीचे सिद्धगण बैठे हुए तप कर रहे होंगे। वहा से एक कोस पर नीलवर्ण के वृक्षों का एक सघन वन मिलेगा, जिसमें पलाश बेर और जामुन आदि के बहुत से वृक्ष होंगे। बस उसी बन से होकर चित्रकूट जाने का रास्ता है।"

महाभारत के आदिपर्व के अध्याय 55 में लिखा है कि प्रयाग में सोम वरूण और प्रजापति का जन्म हुआ था। वन पर्व अध्याय 84 में प्रयाग और अध्याय 85 में

प्रयाग तथा प्रतिष्ठानपुर (झूंसी) बासुकि (नागवासुकि) और दशाश्वमेध (दारागंज) का वर्णन है। इसी पर्व के अध्याय 87 में लिखा है कि उसी पूर्व दिशा में पवित्र ऋषिसेवित, लोकविख्यात और यमुना का संगम है, जहां पहले भगवान ब्रह्म ने यज्ञ किया था। इसी से इसका नाम 'प्रयाग' हैं। इसी प्रकार उद्योगपर्व अध्याय 144 तथा अनुशासनपर्व अध्याय 15 में प्रयाग का उल्लेख है।

पुराणों में मत्स्य पुराग (अध्याय 106 तथा 109) में प्रयाग मण्डल का विस्तार 20 कोस बतलाया गया है। कूर्म पुराण (उत्तरार्द्ध अध्याय 36) में प्रयाग क्षेत्र का परिमाण 6 हज़ार धनुष है। इसी पुराण के 34 तथा 82 अध्यायों में प्रयाग नाम से ब्रह्म का क्षेत्र 5 योजन और 6 कोस बताया गया है। इसी पुराण के अध्याय 58 में प्रयाग क्षेत्र की लम्बाई चौड़ाई डेढ़ योजन लिखी है और उसमें छः किनारे बताये गये हैं।

मत्स्य पुराण के अध्याय 104 में लिखा है कि गंगा और यमुना के मध्य में पृथ्वी की जंघा है। उसी को प्रयाग कहते हैं वही तीनो लोक में प्रसिद्ध है।

कूर्म पुराण के अनुसार प्रयाग प्रजापति का क्षेत्र है। इसी प्रकार मत्स्य पुराण के अध्याय 11 में इस स्थान को प्रजापति की वेदी बतलाया है। वामन पुराण के अध्याय 22 में इतना और है कि ब्रह्म के यज्ञ की 5 वेदियां हैं जिनमें मध्यवेदी प्रयाग है।

प्रयाग का उल्लेख तन्त्र ग्रन्थों में भी हुआ है। तांत्रिकों के 64 पीठों में एक प्रयाग भी हैं जिसकी अधिष्ठात्री ललिता देवी हैं। इनका मंदिर नगर के दक्षिण यमुना तट की ओर मीरापुर में हैं। कालिदास ने अपने महाकाव्य रघुवंश के 13वें सर्ग में गंगा और यमुना के संगम का दृश्य बहुत ही सुन्दर शब्दों में वर्णित है।[2]

इस तरह पौराणिक आख्यानों में प्रयाग के वर्णन से इलाहाबाद शहर की प्राचीनता सिद्ध होती है। किंवदतियों के अनुसार ब्रह्म ने यहां अध्वमेधयज्ञ किया था अतः इसका 'प्रयाग' नाम पड़ा।[3] किन्तु नगर के रूप में इसका विकास सम्भवतः बौद्धकाल में हुआ । पोर्टर का विश्वास है कि इस शहर की स्थापना पुरू ने की थी

जो बुद्ध के बाद छठा राजा था।[4]

किले में स्थित अशोक का सिंह स्तम्भ इस बात का सबसे बड़ा प्रतीक है कि 250 ई.पू. में प्रयाग एक महत्वपूर्ण केन्द्र था।[5] सातवीं शताब्दी में चीनीयात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्रा विवरण में इस देश की परिधि 5000 ली और उसकी राजधानी 20 ली बताई है।[6]

7वी शती के चीनी यात्री के विवरण के बाद कोई प्रमाणिक वृत्त प्रयाग की भौगोलिक जानकारी के लिये उपलब्ध नहीं होता है। आगे चलकर लगभग सात आठ सौ वर्ष बाद भारत पर जब मुगलों का शासन स्थापित हुआ तब से प्रयाग का निरंतर निर्माण होता गया।

अकबर के शासनकाल में इस सरज़मीन ने एक नया चोला बदला। अबुल फज़्ल के अकबरनामे के अनुसाार "बादशाह ने एक शहर बसाया और उसका नाम इल्हाबास रखा। इससे पहले यह पयाग नाम का एक तीरथ स्थान था।" सन् 1775 ई. मे जब गंगा–यमुना के संगम पर किला बना उसी समय इलाहाबाद का संग–ए–बुनियाद रखा गया। किले में अशोक की लाट और 'अक्षय बड़' पेड़ को भी दाखिल कर लिया गया। अलबेरूनी ने अपनी किताब 'किताबुलहिन्द' में प्रयाग के उल्लेख के साथ–साथ 'अक्षयबड़' का उल्लेख 'वट' के नाम से किया है। 'इलाहाबाद' से 'इलाहाबाद' भी अकबर के ही ज़माने में हुआ। अकबर के ज़माने में जो सिक्के इलाहाबाद की टकसाल से निकले उन पर ज़र्बे इलाहाबाद (इलाहाबाद के ढाले हुए) के साथ वह शेर मिलता है।–

हमेशा चूं ज़र्रे खुर्शीद–ओ–माह रौशनबाद
ब शर्को ग़र्बे जहां सिक्कए इलाहाबाद

(हमेशा सूरज और चांद की सुनहरी चमक की तरह पूरब और पश्चिम हर तरफ यह इलाहाबाद का सिक्का चमकता रहे।)[7]

इलाहाबाद के वर्तमान मुहल्लों और उपनगरों के नामकरणों से ज्ञात होता है कि उनका निर्माण अकबर से लेकर जहांगीर, दारा और औरंगजेब के समय तक

निरंतर होता रहा। खुल्दाबाद, शहराराबाद, दरियाबाद, शाहगंज, सादियापुर, सूबेदारगंज, दारागंज आदि नामों से ही स्पष्ट होता है कि इससे मुग़लों का निरंतर सम्बन्ध बना रहा। दारागंज का नामकरण दाराशिकोह के नाम पर किया गया है। आधुनिक प्रयाग के नवनिर्माण का आरम्भ मुग़लकाल में हुआ और उसका पुनर्गठन और विकास ब्रिटिश शासन काल में हुआ।[8]

14 नवम्बर 1801 को इलाहाबाद ईस्टइण्डिया कम्पनी के अधीन हुआ।[9] उन्होंने सर्वप्रथम किले पर अपना अधिकार किया और उसके आस–पास छावनियां बसाई। कुछ दिनों बाद उन्होंने ट्रिनिटी चर्च का निर्माण कराया और वहां निवास करने योग्य खपरैल के पक्के बंगले बनवाये। वर्तमान कटरा तथा कर्नलगंज के क्षेत्र को उन्होंने फ़ौजी आवास बनाया। नगर के खुले इलाकों में धीरे–धीरे उसका फैलाव हुआ।[10] इलाहाबाद के सबसे पहले कलक्टर ए अहमूटी थे, जिनके नाम से 'मुट्ठीगंज' का मुहल्ला बसा है।[11]

इलाहाबाद में वर्तमान मुट्ठीगंज और कीटगंज क्षेत्र अपेक्षाकृत पुराने हैं। अहमुटी के नाम से मुट्ठीगंज और जनरल कीड के नाम से कीडगंज का नामकरण हुआ। उन्हीं के प्रयत्न से इन दोनों उपनगरों का निर्माण हुआ। जहां वर्तमान चौक क्षेत्र है वहां छिटपुट रूप से कच्चे मकान बने हुए थे।

कम्पनीबाग या अल्फ्रेड पार्क के वर्तमान क्षेत्र का अपना ऐतिहासिक महत्व है। इस बाग के दक्षिण कोण में समदाबाद नाम से मेवातियों का एक गांव था। सन् 1857 के गदर के दिनों में इन दोनों ग्रामवासियों ने अंग्रेजों की भरपूर मुखालफत की थी, जिसमें ब्रिटिश सरकार ने उन्हें बग़ावती घोषित कर गांवों को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया था। कम्पनीबाग क्षेत्र के इन दोनों ग्रामवासियों का त्याग तथा बलिदान राष्ट्रीय इतिहास में उल्लेखनीय है। इन दोनों गांवों का सफाया करके अंग्रेज सरकार ने इस विस्तृत क्षेत्र को संवार सुधार कर कम्पनी के नाम से कम्पनीबाग नाम दिया।

प्रयाग के नवनिर्माण में जिन अधिकारियों का विशेष योगदान रहा, उसमें सर विलियम म्योर और मिस्टर जानसन का नाम उल्लेखनीय है। विलियम म्योर की

स्मृति म्योर सेन्ट्रल कालेज के रूप में जीवित है, जोकि अब इलाहाबाद विश्वविद्यालय का अंग है। उसके समय में (1863–1880 के बीच) पुराना हाईकोर्ट, कलक्टरी, गवर्नमेंट प्रेस और सिविल लाइन्स के गिरिजाघरों की इमारतें निर्मित हुयी। प्रयाग के तत्कालीन कलक्टर विलियम जानसन ने 1864 ई. में चौक की पुरानी बस्ती एवं बियाबान भूमि की जगह नया बाजार तथा पक्की सड़क बनवाई जो कि आज उन्ही के नाम जान्सटनगंज के नाम से अभिहित होता है। 1874 में कोतवाली बिल्डिंग बनी।

जान्सटनगंज के निर्माण से कुछ वर्ष पूर्व सिविल लाइन्स का निर्माण कार्य लगभग 1858 में आरम्भ हो गया था। सिविल लाइन्स का नवनिर्माण हो जाने के बाद अंग्रेजों ने किले के आसपास के मकानों से हटकर सिविललाइन्स में जाना शुरू कर दिया। वहां पहले गिरिजाघरों का निर्माण हुआ। तदनन्तर खपरैल के पक्के मकान बनाये गये। इलाहाबाद के तत्कालीन कमिश्नर मिस्टर थार्नहिल के नाम से थार्नहिल रोड का निर्माण हुआ।

1865 में यमुनापुल बन जाने से नगर का व्यापारिक महत्व बढ़ा और बाहरी क्षेत्रों से उसका सम्बन्ध स्थापित हुआ।

1906 में वर्तमान लूकरगंज मुहल्ले के नवनिर्माण की आधारशिला रखने का श्रेय संयुक्तप्रांत के तत्कालीन लेफ्टिनेंट गवर्नर जेम्स डिग्स लाटूश को है। 19वीं सदी के अंत और 20वीं शती के आरम्भ में 'इलाहाबाद इम्प्रूवमेंट चर्च' द्वारा नई बस्तियों का निर्माण हुआ और साथ ही नगर में यातायात के लिये कच्ची पक्की सड़कें बनीं। सर जार्ज एलन के नाम पर एलनगंज और मिस्टर ममफोर्ड के नाम पर ममफोर्डगंज बसा। 1909 में जार्जटाउन और 1911 में हीवेट रोड का निर्माण हुआ। 1912 में रामबाग स्टेशन बना। 1916 में वर्तमान हाईकोर्ट भवन बना। 1920 के लगभग फौजी आवास कटरा, कर्नलगंज से हटकर वर्तमान कैन्टुनमेंट का विकास हुआ। 1927 में नया कटरा बना और 1929 ई. में जीरो रोड का निर्माण हुआ। चौक स्थित मुहम्मद अली पार्क की स्थापना 1931 ई. में हुयी।[12]

तब से, इलाहाबाद शहर भौगोलिक रूप से अपनी ही गति से आगे बढ़ रहा

है। विकास की गतियों के साथ शहर में परिवर्तन हुआ और हो रहा है। मुख्य बात यह है कि किसी नगर की सांस्कृतिक तथा राजनैतिक विकास की गतियां कौन सी है। इलाहाबाद के विषय में उल्लेखनीय बात यह है कि अंग्रेजों के ज़माने के सभी मुहल्लों के नाम आज भी वही हैं। हिन्दू राष्ट्रीयता की दौड़ में कुछ मुसलमानी नामों वाले मुहल्लों के नाम तो बदलने की चेष्टा हुयी है परन्तु अंग्रेजी नामों वाले मुहल्लों का नाम बदलने का प्रयास न तो प्रशासन की ओर से हुआ और न ही जनता की यह मांग बनी।

राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान इलाहाबाद शहर जिस प्रक्रिया में विकसित हुआ वह बेहद जटिल है।[13] एक तरफ इलाहाबाद के चरित्र को निर्धारित कर रहा था इसका पौराणिक महत्व। गंगा–यमुना के संगम पर बसा होने के कारण धार्मिक यज्ञों से उठने वाले धुएं की खुशबू इस शहर में रचीबसी है तो दूसरी ओर अंग्रेजों के अधीन होने के बाद एक नये किस्म के बाज़ार के इर्दगिर्द निर्मित हो रहा था यह शहर। पूर्वी भारत को शेष भारत से जोड़ने वाला महत्वपूर्ण स्थान होने के कारण यह अंग्रेजों के लिये संचार एवं सामरिक महत्व के भी प्रमुख क्षेत्र के रूप में पनपा। बेली ने अपने अध्ययन में विस्तार से उन समुदायों के विकास का वर्णन किया है जिनसे इलाहाबाद शहर का नगरीय स्वरूप आकृति ले रहा था।[144]

1801 में अंग्रेजी राज के अधीन हो जाने के बाद से 1857 तक इलाहाबाद में कोई महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना नहीं घटी। सिर्फ 1834 ई. में इलाहाबाद उत्तरी पश्चिमी प्रांत की सरकारी सीट बना और हाईकोर्ट की स्थापना हुयी। किन्तु एक साल बाद इन दोनों को आगरा स्थानान्तरित कर दिया गया। 1857 में मेरठ से उठने वाली बग़ावत की लहर 12 मई 1857 को इलाहाबाद पहुंची।[15]

सन् 1857 में प्रयाग में गोरों की सेना बिल्कुल नहीं थी। केवल एक देशी पल्टन न छः कर्नल सिक्सन के कमांड में थी। इसके सिवा थोड़े से देशी तोपची थे। किले में भी इसी पल्टन के थोड़े से सिपाही नियुक्त थे। जब अफसरों को अन्य स्थानों में विद्रोह फैलने का समाचार मालुम हुआ तो उन्होंने तोपख़ाने के 60 गोरों और

फिरोज़पुर रेजिमेंट के 200 सिक्खों को तुरंत बुलाकर किले में ठहरा दिया।

12 मई को मेरठ की कारतूस तोड़ने वाली खबर इलाहाबाद की जनता तक पहुची। उसी समय से नगर में बेचैनी फैल गई। बाज़ार में खाने–पीने की चीज़ों की दर बहुत बढ़ गयी। रोज़ नाना प्रकार की अफवाहें उड़ा करती थी। बलवाइयों के मुखिया अपने साथियों को उत्तेजित कर रहे थे। परंतु अभी तक नगर में उपद्रव छिड़ा नहीं था। एक दिन कुछ नावें आट से लदी हुयी यमुना में जा रही थी। किनारे पर उन्होंने लंगर डाला। मजिस्ट्रेट ने नाववालों को बनियों के हाथ माल बेचने के लिये हुक्म दिया। इस पर बड़ा शोर मचा। सारा बाज़ार बन्द हो गया और यह संदेह हुआ कि अब यहां जल्द ही उपद्रव मचा चाहता है। 19 मई को सर हेन्री लारेंस ने कुछ सवार प्रतापगढ़ ज़िले के अधिकारियों की सहायता के लिये भेजे।

4 जून को यह खबर इलाहाबाद पहुंची कि सिक्ख रेजिमेंट नम्बर ग्यारह के कुछ सिपाही बिगड़ कर इधर आ रहे हैं। 5 जून को कानपुर से जनरल व्हीलर का तार आया कि सब यूरोपियन किले में रखे जायें। इस पर पल्टन नम्बर छः के अफसरों के अतिरिक्त सभी किले में चले गये। उसी दिन शाम को इस पल्टन की एक कम्पनी लेफ्टिनेंट हिक्स और हारवर्ड के कमांड में, जिनके साथ दो तोपें भी थीं; दारागंज में नाव के पुल की रक्षा के लिये भेजी गयी, क्योंकि बनारस के बलवाइयों के आने का समाचार यहां पहले ही पहुंच चुका था।

9 बजे रात को जैसे ही तोप दगी, इन सिपाहियों ने एक आतिशबाजी का बान छोड़ा उसके जवाब में तुरंत वैसा ही बान छावनी से छूटा ! उसी समय से विद्रोह आरम्भ हो गया था। दारागंज से दोनों तोपे लेकर ये लोग छावनी की ओर चल दिये। लेफ्टिनेंट हिक्स दो और अग्रेजों के साथ विद्रोहियों की कैद में पड़ गये। परंतु अंधेरे में किसी तरह भागकर गंगा के रास्ते से किलें में पहुंच गये। लेफ्टिनेंट हारवर्ड घोड़ा दौड़ाकर अलोपीबाग पहुंचे, जहां लेफ्टिनेंट अलैक्ज़ेंडर अपनी सेना लिये खड़े थे। उनके सिपाही भी बिगड़ गये और अन्त में वह मारा गया। लेफ्टिनेंट हारवर्ड वहां से भागकर किसी तरह किले में पहुंचा। वहां यह खबर पहुंचते ही सिक्ख अलग एक बैरक

में कर दिये गये थे तत्पश्चात् पल्टन नम्बर छः के सिपाहियों को डरा कर उनके हथियार रखवा लिये गये, और वे किले से बाहर निकाल दिये गये।

उस रात को छावनी में, जो उस समय कर्नलगंज के उत्तर 'चैथमलाइन' में थी, कुछ अंग्रेज अफसर खाने को बैठे थे कि पल्टन में बिगुल बजा। बिगुल सुनकर ये लोग दौड़ पड़े। किन्तु वहां पहुंचने पर मारे गये। इनमें से केवल तीन अंग्रेज किसी तरह भागकर किले में पहुंचे। इसके पश्चात् कई अंग्रेज अफसरों का वध हुआ। विद्रोहियों ने खजाना लूटा और गंगा पार करके फाफामऊ पहुंचे। उस समय उसके पश्चिम शहाबपुर में एक छोटा सा किला था। संग्राम सिंह वहां का ज़मीन्दार था। उसने बलवाइयों से ख़जाने का रूपया लेकर रसीद दे दी, और उन लोगों को अपने यहां नौकर रख लिया। इधर शहर से विद्रोही उठे, जिनमें से अधिकांश छीतपुर और समदाबाद (ये गांव वहां पर थे जहां अब अल्फ्रेड पार्क है) के थे। पहले उन्होंने जेल का फाटक तोड़ा उसमें से लगभग तीन हज़ार कैदी निकल भागे। इन लोगों ने सिविल स्टेशन, छावनी और शहर को खूब लूटा और फूंका।

अन्त में 11 जून को कर्नल नील बनारस से गोरों की कुछ सेना लेकर आये। 12 जून को उन्होंने दारागंज कब्जे में ले लिया। 13 जून को झूंसी में बलवा मचा जिसके दमन के लिये ज्वाइंट मजिस्ट्रेट मिस्टर क्लिक कुछ सिक्ख और गोरे सिपाही लेकर वहां गये। कीटगंज को भी उसी दिन सिक्ख और वालंदियरों ने अपने अधिकार में कर लिया। 15 जून को कीटगंज एवं मुट्ठीगंज पर पूरा कब्ज़ा हो गया। 17 जून को ज़िलामजिस्ट्रेट मिस्टर कोर्ट ने कोतवाली ले ली और दूसरे दिन सिविल स्टेशन, दरियाबाद, सादियापुर, और हसूमपुर पर अधिकार हो गया। इस प्रकार शहर में जल्दी ही शांति हो गई। परन्तु देहात की आग बुझाने में कुछ दिन लगे।[16]

1857 का विद्रोह बुरी तरह कुचला गया। गिरफ्तारियां होने के बाद तीन घण्टे चालीस मिनट के अन्दर कोतवाली के पास पेड़ों में 634 लोगों को फांसी पर लटका दिया गया।[17]

इस तरह 1857 में इलाहाबाद की सरज़मी पर विद्रोह की जैसी मिसाल

कायम की गई, वह सन् 42 के पहले देखने को नहीं मिली। यह प्रथम भारतीय स्वाधीनता संग्राम था जिसकी पृष्ठभूमि पर शेष राष्ट्रीय आन्दोलन खड़ा हुआ।

भारत की आज़ादी के लिये लड़ा जाने वाला यह प्रथम दुर्धष संग्राम इलाहाबाद में भी अपने उरूज पर पहुंचा तथा हर जगह की तरह यहां भी यह आन्दोलन कुचल दिया गया। बागी लोगों को पेड़ों पर फांसी दी गई। उनकी शहादत का प्रतीक नीम को पेड आज भी चौक क्षेत्र में है। संघर्ष की इसी मजबूत नींव पर खड़ी हुयी इलाहाबाद में मुक्ति सघर्ष की इमारत। सन् 1857 का साल भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के सबसे महत्वपूर्ण सालों में से एक था। उस संग्राम काल में दबी हुयी चेतना ने आवाज़ उठाई थी और पूरे देश को संगठित करने के महान अभिजन का सूत्रपात इस क्षेत्र में बहुत जल्दी हो गया।[18]

1858 में ब्रिटिश ताज के अधीन होने के बाद इलाहाबाद का समूचा प्रशासन अग्रेजी तर्ज पर लगने लगा। पुराने प्रशासनिक क्षेत्रों में नये सरकारी मुहल्ले बनने लगे। रेलों द्वारा सामानों के आवागमन के आधार पर पुराने व्यापारिक ढांचे के स्थान पर नया बाज़ार विकसित हुआ।[19] उत्तरी भारत में अपनी महत्वपूर्ण भौगोलिक स्थिति के कारण इलाहाबाद न केवल धार्मिक, सांस्कृतिक बल्कि आर्थिक गतिविधियों का भी प्रमुख केन्द्र बन रहा था। अंग्रेजों के अधीनस्थ होने के बाद इलाहाबाद में स्थानीय स्वशासन की स्थापना हुयी। इसके आधार पर एक नया नौकरी पेशा वर्ग विकसित हुआ जिसने आगे चलकर इलाहाबाद के नगरीय चरित्र को निर्धारित किया। उपनिवेशकालीन भारत में समाज के स्तर पर नये सम्बन्ध पनपे तथा एक अलग तरह का शहरी ढांचा विकसित होने लगा। भारत पर ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना के साथ ही इस महाद्वीप की सामाजिक तथा आर्थिक प्रवृत्तियां ब्रिटेन की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की चेरी बना दी गई। उपनिवेशकाल में भारतीय समाज के अन्य क्षेत्रों की तरह उसके नगरों और शहरों में जो परिवर्तन हुए उसे सबसे अच्छी तरह उस सर्वग्राही सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है जिसके माध्यम से ब्रिटेन ने अपने दक्षिणी एशियाई सम्बन्ध को अपनी बढ़ती हुयी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से जोड़ने की कोशिश की।[20] परिवर्तन की इसी पृष्ठभूमि में इलाहाबाद का अपना विशिष्ट चरित्र बन रहा था। यह

परिवर्तन अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में हुए, प्रभुत्वशाली सामाजिक वर्गों के स्वरूप में हुए।[21] अंग्रेजो के हस्तक्षेप के पश्चात् शहर का एक नवीन स्वरूप उभर कर सामने आने लगा। अपने तमाम पौराणिक एवं सांस्कृतिक महत्व के बावजूद इलाहाबाद व्यापार का कोई बड़ा केन्द्र नहीं था।[22] यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक साहूकार, व्यापारी, ठेकेदार प्रमुखता से उभर रहे थे।

सन् 1858 में प्रांतिक सरकार की राजधानी आगरे से उठकर फिर स्थायी रूप से प्रयाग में आ गई। उसी के साथ गवर्नमेंट प्रेस भी वहां से आया। राजधानी होने पर बहुत सी सरकारी संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ।[23]

1858 के बाद ही स्थानीय स्वशासन लागू होने के पश्चात् इलाहाबाद में एक मध्यवर्ग उभर कर सामने आ रहा था। प्रशासन न्यायालय एवं शिक्षा मिलकर इलाहाबाद के नगरीय स्वरूप को प्रमुख बना रहे थे। 1880 तक तहसील स्तर पर कई न्यायालयों की स्थापना हुयी।[24] आज भी इलाहाबाद उच्च न्यायालय शहर की प्रमुख पहचानों में से एक है। बेली के अनुसार इलाहाबाद के निर्माण में यहां की सरकारी सेवा का बड़ा वर्ग इसे उत्तरी पश्चिमी प्रांत में महत्वपूर्ण बना रहा था। तहसील ऑफिस में प्राचीन नौकरी पेशा मुस्लिम एवं कायस्थ परिवार बहुतायत में था। ब्राह्मणों की संख्या भी अधिक थी।[25] दसूरी तरफ नेहरू, टंडन एवं नूरूल्ला जैसे ख़ानदानों के इलाहाबाद में बस जाने के बाद उनके ख़ानदानों का इलाहाबाद के सार्वजनिक एवं राजनीतिक जीवन में महत्वपूर्ण हस्तक्षेप आरम्भ हुआ। इन्हीं तत्वों से मिलकर इलाहाबाद के विभिन्न सामाजिक समूहों का उद्‌भव एवं विकास हुआ। आगे चलकर इन समूहो ने अलग–अलग स्तर पर राष्ट्रीय आन्दोलन में भूमिका निभाई।

1857 के पश्चात् मुसलमानों के प्रति भी अंग्रेजों की नीति में बदलाव आया। अपने शासन में उत्पन्न प्रतिरोध को कम करने के लिये तथा मुसलमानों के प्रति पक्षधरता प्रकट करने के लिये उन्होंने सर सैयद अहमद को अपने पक्ष में किया। प्रांतीय राजधानी होने के कारण महत्वपूर्ण सुझाव पाने के नाम पर उन्होंने उन्हें इलाहाबाद में 20 एकड़ ज़मीन दी। सैयद अहमद ने वहां अपने बेटे के नाम 'महमूद

मंज़िल' नामक कोठी बनवाई। सैयद अहमद के पुत्र महमूद इलाहाबाद हाईकोर्ट में न्यायाधीश थे। सन 1892 में मुरादाबाद के रायबहादुर परमानन्द पाठक ने इसे ख़रीद लिया और इसका नाम 'पाठक निवास' रखा। अन्ततः पंडित मोतीलाल नेहरु ने 1890 में इसे 20,000 रूपये में ख़रीदा और इसका नाम 'आनन्दभवन' रखा। बाद में आनन्द भवन कांग्रेस की गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र बना।[26]

कालांतर में इलाहाबाद शिक्षा के प्रमुख केन्द्र के रूप में उभरा। इलाहाबाद विश्वविद्यालय आज भी शहर के सार्वजनिक जीवन में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। 1886 में अवध के 'इंस्पेक्टर ऑफ स्कूल' ने उत्तरी पश्चिमी प्रांत एवं अवध के लिये एक विश्वविद्यालय की स्थापना का प्रस्ताव रखा। 22 सितम्बर 1887 को इलाहाबाद यूनिवर्सिटी बिल पास हुआ। 15 नवम्बर 1887 को तीन बजे म्योर सेंट्रल कालेज में उदघाटन समारोह हुआ।[27] इसके बाद इलाहाबाद विश्वविद्यालय में सामान्य शैक्षणिक कार्य ही होते रहे। आरम्भिक दौर में कोई राजनीतिक सुगबुगाहट के प्रमाण नहीं मिलते हैं। सम्भवतः इसका कारण स्वयं राष्ट्रीय आन्दोलन में व्याप्त ख़ामोशी ही हैं। बंगभंग के पश्चात् राष्ट्रीय आन्दोलन में व्याप्त उछाल की प्रतिध्वनि इलाहाबाद में अवश्य हुयी किन्तु उसका कोई प्रभाव यहां के जनजीवन तथा विश्वविद्यालय पर नहीं पड़ा।

असहयोग आंदोलन के पूर्व श्रीमती एनी बेसेंट तथा लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में चलने वाले होमरूल आन्दोलन को भी इलाहाबाद में समर्थन मिला। अंग्रेज शासकों के विरूद्ध कड़ी भाषा का प्रयोग करने के कारण श्रीमती एनीबेसेंट को गिरफ्तार कर लिया गया था। उनकी गिरफ्तारी के बाद पूरे देश में आन्दोलन की एक लहर उमड़ पड़ी और इस लहर के चलते बहुत से लोग भी स्वतन्त्रता आन्दोलन की ओर उन्मुख हुए, जो अबतक तटस्थ थे। जेल से छूटने के बाद 5 अक्टूबर 1915 को श्रीमती एनीबेसेंट जब इलाहाबाद आयी तो यहां उनका अद्भुत स्वागत किया गया। रेलवे स्टेशन पर उनके स्थगत के लिये लोकमान्य तिलक, तेजबहादरु सप्रू, मोतीलाल नेहरू, श्रीमती सरोजिनी नायडू एवं जवाहरलाल नेहरू उपस्थित थे।[28] श्रीमती बेसेंट के

इलाहाबाद आगमन के वक्त इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्रों की राजनीतिक जागरूकता का पहला उदाहरण मिलता है। लीडर प्रेस के सम्पादक सी. वाई. चिन्तामणि ने तत्कालीन डी.एम. फ्रीमैण्टल को श्रीमती एनी बेसेंट के इलाहाबाद आने की सूचना दी। उन्होंने श्रीमती बेसेंट द्वारा विश्वविद्यालय के स्नातकों को सम्बोधित करने हेतु मेयोहाल उपलब्ध कराने की प्रार्थना की। फ्रीमैंटल ने कुछ कानूनी दांवपेंच लगा कर जगह देने से इंकार कर दिया। इसके पश्चात् चिन्तामणि ने लीडर द्वारा जनता को सूचना दी कि श्रीमती बेसेंट हार्डिज थिएटर (बहादुरगंज) में शाम पौने छः बजे जनता को सम्बोधित करेंगी। इसमें तेजबहादुर सप्रू, नारायण प्रसाद अस्थाना, एस. सिन्हा सी.वाई. चिन्तामणि, ईश्वरशरण. कृष्णराम मेहता, डी.आर. रणजीत सिंह, संजीव राव ने हस्ताक्षर किये।[29]

श्रीमती एनी बेसेंट प्रयाग स्टेशन पर उतरी थीं। जिस गाड़ी द्वारा श्रीमती बेसेंट आनन्दभवन ले जाई जाने वाली थीं, उसे इलाहाबाद की सड़कों पर खींच कर ले जा रहे थे सौ नये कार्यकर्ता।[30] इस बात की पुष्टि करते हैं श्री विश्वनाथ लाहिरी जो उसवक्त हालैण्ड हाल छात्रावास के अन्तर्वासी थे। 17 अप्रैल 1898 को जन्मे श्री लाहिरी 1922 में 'इन्डियन इम्पीरियल पुलिस' में चुने गये। आगे चलकर सत्ता हस्तांतरण के बाद वह स्वतन्त्र भारत में उत्तर प्रदेश के पहले आई.जी. बने। वह बताते हैं– "एक दफा एनी बेसेंट आई। उस वक्त लड़के दौड़कर गये। हम कटरा में रहते थे हम भी प्रयाग पहुंचे। लड़के 'वन्दे मातरम' गा रहे थे। वह जब स्टेशन पर उतरीं तो लड़कों ने उनकी गाड़ी से घोड़े खोल दिये और खुद खींच कर चलने लगे। लड़के खुद गाड़ी लेकर पूरे शहर में घूमे।"[31]

श्रीमती बेसेंट का आगमन इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्रों के लिये राष्ट्रीय आन्दोलन में हिस्सेदारी का कारण बना। हलांकि इसमें उत्साह अधिक था, फिर भी छात्रों का झुकाव राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर हो रहा था। किंतु बेसेंट की क्रांतिकारी गर्मजोशी बहुत कम दिनों तक रही। इस पर अकबर इलाहाबादी ने लिखा है–

से अगते दो दशकों तक और चलने वाला था। आम जनता के संघर्ष की अनुगूंज अभी इसमें समिलित नहीं हुयी थी। शांत और गम्भीर अधिवेशनों में की जाने वाली कांग्रेस की सौजन्य पूर्ण मांगों में अभी तक राजभक्ति का विशेष पुट रहता है और इनमें अभी तक लाखों किसानो की आवाज़ नहीं सुनाई पड़ती।[35] किसानों और जनसाधारण की आवाज इसमें शामिल होने में अभी 21वीं शताब्दी के दूसरे दशक तक का इंतज़ार करना था। इलाहाबाद में पहला अधिवेशन 1888 में जार्जयल की अध्यक्षता में हुआ, दूसरा अधिवेशन 1892 में उमेश चन्द्र बैनर्जी की अध्यक्षता में हुआ और तीसरा अधिवेशन 1910 में श्री विलियम वेडरबर्न की अध्यक्षता में हुआ।[36] इसके बाद ही साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष को जनाधार मिलना शुरू हो गया था।

बंग–भंग के कारण पूरे देश में जागरण का दृश्य देखने को मिलते लगता है। बंग–भंग से उठी तंरग ने इलाहाबाद में क्रांतिकारी आन्दोलन के बीज बोये। इलाहाबाद में भी बंगाल के युगान्तर दल का असर था। लाहौर की उग्र राजनीति का केन्द्र था। वहां की भारत माता सोसाइटी ने इलाहाबाद के 'स्वराज्य' उर्दू साप्ताहिक को प्रेरित किया था। 1907 से 1910 तक लगभग ढाई वर्ष तक चलने वाले इस पत्र के कुल 75 अंक प्रकाशित हुए। लेकिन इतनी छोटी अवधि में ही इतना त्याग शायद ही किसी पत्र ने कभी किया हो। इस दौरान इसके सारे सम्पादक एक–एक करके पकड़े गये और उन्हें लम्बी–लम्बी सज़ायें दी गई। इस पत्र की स्थापना रायजादा शांतिनारायण भटनागर ने की थी। वह एक कविता लिखने के जुर्म में पकड़े गये और उन्हें साढ़े तीन वर्ष का सपरिश्रम कारावास तथा एक हजार रूपए जुर्माने की सज़ा दी गई। श्री शांतिनरायण के जेल जाने के बाद श्री राम दास जो बाद में प्रकाशानन्द सरस्वती के नाम से जाने गये, इसके सम्पादक हुए। इन्होंने सम्पादन का कार्य शुरू किया ही था कि श्री शांति नरायण के जुर्माने की रकम की वसूली के नाम पर 'स्वराज्यप्रेस' नीलाम कर दिया गया तथा प्रेस स्थापित होने पर इंग्लैण्ड से तुरंत लौटे श्री छोटी लाल वर्मा स्वराज्य के सम्पादक बने। श्री वर्मा भी कुछ अंको का ही सम्पादन कर पाये थे कि गिरफ्तार कर लिये गये और कुल मिलाकर उन्हें दस वर्ष की कैद की

सज़ा दी गई। इसके बाद बाबू राम हरि, केवल 11 अंक अपने सम्पादन में निकाल सके। वह पकड़े गये और उन्हें 21 वर्ष के देशनिकाले की सज़ा दे दी गई। इसके बाद लाहौर से निकलने वाले पत्र 'भारत माता' के सम्पादक मुंशीराम सेवक ने आकर 'स्वराज्य' का सम्पादन संभाला। उनके बाद नन्दलाल चोण्ड़ा सम्पादक बने। 12 अंक के बाद ही उन्हें देश निकाने की सज़ा दे दी गई। अगले सम्पादक लड्ढा राम कपूर को तीस वर्ष की सज़ा हुयी। उन्हें ये वर्ष अण्डमान की अंधेरी कोठरी में काटने पड़े। पडित अमीरचन्द बसवाल इस परम्परा के आखिरी सैनिक सम्पादक थे। 1910 में स्वराज्य के पुनर्प्रकाशन के चार अंक बाद ही उसे सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया। संभवतः संसार के इतिहास में शायद ही कोई दूसरा अखबार होगा जिसके आठ सम्पादकों को कुल मिलकार 125 वर्ष की सज़ायें दी गई। पत्रकारिता की दृष्टि से इलाहाबाद ने इनकी शानदार परम्परा का बराबर निर्वाह किया। 1910 में ही 'कर्मयोगी' को 'प्रेसऐक्ट' का शिकार होना पड़ा और बाद में चलकर 'अभ्युदय' को भी ऐसी लड़ाई लड़नी पड़ी। ऐसे ही 'भविष्य' साप्ताहिक उन दिनों उग्र विचारधारा का प्रमुख पत्र था।[37]

इस तरह हम देखते हैं कि इलाहाबाद में धीरे–धीरे संघर्ष की एक पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। समाचार पत्र जनमानस को संघर्ष के लिये तैयार कर रहे थे। इलाहाबाद में एक साथ कांग्रेस एवं क्रांतिकारी आन्दोलन की आधारभूमि बन रही थी और साथ ही उभर रहा था उसमें जुड़ा बौद्धिक वर्ग।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में देश के राजनीतिक आन्दोलन ने काफी विस्तार पा लिया था। दादाभाई नौरोजी ने देश के स्वराज्य का मंत्र दिया था। देश गरम एवं नरम दो खेमों में बट चुका था। इलाहाबाद ने दोनों में ही अपना योगदान दिया। उग्रपंथी नेता लाजपत राय, तिलक दादासाहेब व खापर्डे विपिनचन्द्र पाल ने इलाहाबाद का भ्रमण किया तथा अपना भाषण दिया। महान क्रांतिकारी सरदार अजित सिंह, रामसबिहारी बोस, सूफी अम्बा प्रसाद एवं राजा महेन्द्र प्रताप ने इलाहाबाद का दौरा किया तथा चौक में पंडित सुन्दरलाल के घर, 'कर्मयोगी' के आफिस में युवाओं

से सलाह मशविरा किया।

इलाहाबाद में पहला बम इलाहाबाद यूरोपियन क्लब पर विद्यार्थी श्री नित्यानन्द चटर्जी ने फेंका। सरकार उन्हें ढूंढ पाने में असफल रही थी। कायस्थ पाठशाला के इण्टरमीडियट के विद्यार्थी परमानन्द अमेरिका गये तथ वह हिन्दुस्तान गदर पार्टी में शामिल हो गये। कामागाटा मारू की घटना के बाद वह और उनमें सभी गिरफ्तार कर लिये गये। उनको उम्र कैद की सज़ा हुयी। वह निरंतर 28 साल जेल मे रहे, जो स्वतन्त्रता आन्दोलन के इतिहास मे एक अप्रतिम उदाहरण है। इलाहाबाद के दो विद्यार्थी बालकृष्ण एव सुगनचन्द को लाहौर षड़यन्त्र केस में मुल्तान एव शोलापुर में जेल की सज़ा हुयी। 1911 में हरीन घोष एवं देवेन्द्र शंकर दारागंज में राजघाट के निकट पुलिस से मुठभेड़ में मारे गये।

बंग–भंग के बाद इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों ने क्रांतिकारी गतिविधियों में हिस्सा लिया। इनमें सुन्दरलाल एवं मंजरअली प्रमुख थे।[38]अपनी अंतिम असफलता के बावजूद 1905–1909 के बीच अतिवादी आन्दोलन इलाहाबाद में अर्थपूर्ण था। इसने इलाहाबाद के साथ संयुक्त प्रांत के अन्य ज़िलों कस्बों के साथ सम्बन्ध बनाये।[39]

इलाहाबाद में आरम्भिक आन्दोलन से जो नेतृत्व उभर कर आ रहा था, उसमें अयोध्यानाथ, मदनमोहन मालवीय, सुरेन्द्रनाथ सेन, मोतीलाल नेहरू, पुरूषोत्तमदास टंडन एवं जवाहरलाल नेहरू, सर सुन्दर लाल, तेजबहादुर सप्रू, कैलाशनाथ काटजू आदि प्रमुख राष्ट्रवादी नेता थे।[40] भारतेन्दु युग के प्रसिद्ध लेखक पंडित बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी प्रदीप का प्रकाशन आरम्भ करके अपनी भाषा के आन्दोलन को आगे बढ़ाया। आगे चलकर मदनमोहन मालवीय और पुरूषोत्तम दास टंडन ने इस आन्दोलन को एक राष्ट्रव्यापी आंदोलन का रूप दे दिया। 1910 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हुयी। पुरूषोत्तम दास टंडन ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिये आजीवन संघर्ष किया।

1870 और 1923 के बीच संयुक्त प्रांत की राजनीति में एक अभूतपूर्व

सातत्यता है। एक स्थानीय विचारबिन्दु से शुरू कर अधिकांश स्थानीय नेताओं ने गांधी जी के असहयोग आन्दोलन में भाग लिया। स्थानीय दृष्टि से अधिकांश जिसने गांधी जी के असहयोग में भाग लिया, वह 1880 के आरम्भ से ही राजनीतिक रूप से जाग्रत हुए थे।[41] स्वतन्त्रता संग्राम के परिदृश्य में लगातार अन्तर आ रहा था। 1885 के पश्चात् ब्रिटिश सरकार अपना शिकंजा जितना कसती जा रही थी, उतनी ही उसके विरोध में लोगों की चेतना जग रही थी। इसकी एक धारा यह भी थी कि अंग्रेज धर्म विरोधी हैं। लोग इस कारण भी अंग्रेजों के विरोधी हुए। हिन्दुओं के हितों के रक्षार्थ कई नई संस्थायें खुलीं। धर्म हमेशा राजनीति से जुड़ता है अतः अपने स्वरूप में धार्मिक होते हुए भी यह राजनीतिक हो गये और अंग्रेजो के विरोधी हो गये। राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से अंग्रेज विरोधी भावना का एक स्थायी मंच मिला। इलाहाबाद में आरम्भिक कांग्रेसी आन्दोलन में कई प्रकार के तत्व थे। प्रथमतः, पढ़े लिखे व्यवसायिक वर्ग के थोड़े से प्रतिबद्ध राष्ट्रवादी नेता थे। फिर, जिला स्तर एवं क्षेत्रीय स्तर पर अनेकः समूह थे जो विभिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक और शैक्षिक लक्ष्य के लिये काम कर रह थे।[42]

यह राजनीतिक उभार इलाहाबाद में हिन्दू पुनुरूत्थानवाद से भी जुड़ा। हिन्दू पुनुरूत्थान की सरगोशी के साथ ही अपनी सांस्कृतिक एवं राजनीतिक पहचान को सुरक्षित करने के लिये मुस्लिम उद्‌भव भी हुआ। इसने अनेकों सामाजिक धार्मिक एवं राजनीतिक कार्यकर्त्ता दिये। तमाम हिन्दू मुस्लिम संगठनों की बाढ़ आयी जिन्होंने न केवल धर्म एवं संस्कृति की रक्षा बल्कि ब्रिटिश शासन से मुक्ति की ओर भी कदम बढ़ाये।[43] प्रयाग हिन्दू समाज, हिन्दू उद्धारिनी प्रतिनिधि मठ, राधास्वामी, देवसमाज, बेनीमाधव की गौरक्षिणी सभा, आर्य समाज आदि आरम्भिक हिन्दू धर्म पुनुरूत्थानवादी संगठनों ने 1923 में हिन्दू महासभा के गठन के लिये आधार भूमि तैयार की। पंडित मदनमोहन मालवीय, आदित्य राम भट्टाचार्य, रामचरण दास टंडन, बेनीमाधव भट्टाचार्य, राय महावीर प्रसाद, नरायण सिंह, स्वामी श्रीमान आदि इसके प्रमुख नेता थे।[44] स्थानीय राजनीति में म्युनिसिपल बोर्ड के चुनाव में हिन्दू–मुस्लिम समुदायों की

टकराहट नज़र आने लगी। हिन्दू मुस्लिम संस्थाओं ने अपनी जड़ें गहरी करनी शुरू की।[45] सामुदायिक राजनीति के परिणाम दिखाई देते हैं 1917, 1923, 1924 तथा 1926 मे होने वाले साम्प्रदायिक दगों में।[46]

इस तरह 1858 के पश्चात् बदली हुयी उत्पादन प्रणाली एवं उत्पादन सम्बन्ध के अनुरूप इलाहाबाद शहर एक नवीन आर्थिक संरचना के आधार पर विकसित हुआ। अपनी प्राचीन पौराणिक स्थिति के कारण उसका एक विशेष सांस्कृतिक स्वरूप भी निर्मित हुआ। गंगा–यमुना के दोआब में बसे होने के कारण उसकी एक विशिष्ट भौगोलिक स्थिति भी बनी। अंग्रेजों के ज़माने में इलाहाबाद उत्तर एवं पूर्व को जोड़ने वाला एक प्रमुख सधि स्थल था। विभिन्न सार्वजनिक संस्थाओं के विकास से यहां तक ख़ास किस्म का नौकरी पेशा मध्यवर्ग पनपा जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन की गतिविधियों में हस्तक्षेप किया। राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्त तक और आज भी इस शहर का मुख्य चरित्र मध्यवर्गीय ही है। इसी पृष्ठभूमि में इस शहर में एक समन्वित आर्थिक सामाजिक सांस्कृतिक संस्कृति पनपी। राष्ट्रीय राजनीति में भी उसी के अनुरूप इस शहर की शिरकत हुयी तथा 1920 आते–आते यह शहर राष्ट्रीय आन्दोलन के जनोदभव के युग में प्रविष्ट होने को तैयार हो चुका था।

सन्दर्भ सूची

1. उद्धृत, शालिग्राम श्रीवास्तव : प्रयाग प्रदीप – पृष्ठ 3
2. शालिग्राम श्रीवास्वत : पूर्वोक्त, पृष्ठ 17–20
3. उजागर सिंह : इलाहाबाद : ए स्टडी इन अर्बन ज्योग्राफी, पृष्ठ 29
4. पोर्टर एफ. डब्ल्यू. , : फाइनल सेटलमेंट रिपोर्ट ऑफ इलाहाबाद डिस्ट्रिक्ट इलाहाबाद – 1876 पृष्ठ 1–2
5. उजागर सिंह : पूर्वोक्त पृष्ठ 28
6. हरिमोहनदास टंडन : प्रयागराज, लालामनोहरदास का परिवार – 1993 पृष्ठ 31
7. सै. मोहम्मद अकील रिजवी : 'इलाहाबाद की संस्कृति और शायरी', इलाहाबाद संग्रहालय, इलाहाबाद 1996, पृष्ठ 11–12
8. हरिमोहनदास टंडन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 291
9. विशम्भरनाथ पाण्डेय : इलाहाबाद रिट्रास्पेक्ट एण्ड प्रास्पेक्ट; पृष्ठ 53
10. हरिमोहन दास टंडन : पूर्वोक्त पृष्ठ 33
11. शालिग्राम श्रीवास्तव : पूर्वोक्त, पृष्ठ 53
12. हरिमोहन दास टंडन : पूर्वोक्त पृष्ठ 34–36
13. सी. ए. बेली : 'लोकल रूट्स ऑफ इन्डियन पालिटिक्स : इलाहाबाद' पृष्ठ 19
14. पूर्वोक्त
15. बी. एन. पाण्डेय : पूर्वोक्त

16. शालिग्राम श्रीवास्तव : पूर्वोक्त , पृष्ठ 56–58
17. बी. एन. पाण्डेय : पूर्वोक्त पृष्ठ 23
18. एस. पी. भट्टाचार्य : 'स्वतन्त्रता संग्राम के सैनिक', इलाहाबाद डिवीजन भूमिका
19. सी. ए. बेली : पूर्वोक्त पृष्ठ 19
20. रविन्दर कुमार : 'आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास' पृष्ठ 236
21. पूर्वोक्त : पृष्ठ 243
22. सी.ए. बेली : पूर्वोक्त, पृष्ठ 32
23. शालिग्राम श्रीवास्तव : पूर्वोक्त, पृष्ठ 60
24. सी. ए. बेली : पूर्वोक्त पृष्ठ 25
25. पूर्वोक्त : पृष्ठ 25
26. बी. एन. पाण्डेय : पूर्वोक्त पृष्ठ 27
27. एम. एल. भार्गव : हंड्रेड इयर्स ऑफ इलाहाबाद यूनिवर्सिटी पृष्ठ 1–12
28. एस. पी. भट्टाचार्य : पूर्वोक्त
29. एम. एल. भार्गव : पूर्वोक्त पृष्ठ 203
30. एम. पी. भट्टाचार्य : पूर्वोक्त
31. विश्वनाथ लाहिरी : व्यक्तिगत साक्षात्कार, मौखिक इतिहास श्रृंखला कैसेट सं. 15 एवं 16
32. बी. एन. पाण्डेय : पूर्वोक्त, पृष्ठ 29
33. शालिग्राम श्रीवास्तव : पूर्वोक्त, पृष्ठ 61
34. सुमित सरकार : आधुनिक भारत पृष्ठ 88
35. पूर्वोक्त : पृष्ठ 18
36. एस. पी. भट्टाचार्य : पूर्वोक्त

37. पूर्वोक्त

38. बी. एन. पाण्डेय : पूर्वोक्त पृष्ठ 27–29

39. सी. ए. बेली : पूर्वोक्त पृष्ठ 177

40. डिस्ट्रिकट गजेटियर : इलाहाबाद पृष्ठ 62

41. सी. ए. बेली : पूर्वोक्त पृष्ठ 92

42. पूर्वोक्त : पृष्ठ 123

43. अर्बन पालिटिक्स एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन : पृष्ठ 29

44. बेली : पूर्वोक्त पृष्ठ 105–121

45. पूर्वोक्त : पृष्ठ 212–225

46. शालिग्राम श्रीवास्तव : पूर्वोक्त पृष्ठ 63

V

1920 - 30 एवं 40 के दशक में इलाहाबाद

हटो यहां से विदेशी वस्त्रों

न अब तुम्हारी है चाह हमको ।

तुम्ही से भारत हुआ है गारत

किया है तुमने तबाह हमको

उद्योग धंधे सभी हमारे

किये हैं आकर विनष्ट तुमने

मिटा के चरखे हमारे करघे

है दी मुसीबत अथाह हमको

कहाँ यहां की महीन मलमल

पड़ा है ढाका में आज फांका

बने निकम्मे जुलाहे कोरी।

मिलाये तुमसे गुनाह हमको

तजेंगे तुमको सजेंगे इन पर

पवित्र प्यारा स्वदेशी खद्दर

हमारे गांधी महात्मा ने

ये दी है काबिल सलाह हमको

रूई हमारी खरीद सस्ती

उसी के कपड़े मढ़े हैं हम पर

हुए धनी तुम ग़रीब भारत

दिखाई ग़ारत की राह हमको

बढ़ाई तुमने बेरोजगारी

बनाया तुमने बेहाल भारत

पड़े हैं पेटों के आज लाले

दिखलाता मुश्किल तबाह हमको ।[1]

1920–21 आते–आते पूरे देश में अंग्रेजों के ख़िलाफ एक राष्ट्रीय भावना बन चुकी थी। तमाम राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय स्थितियों के कारण साम्राज्यवाद के विरोध में जन मानस खड़ा हो रहा था। जलियांवाला बाग काण्ड के कारण देश भर की जनता एक साथ अंग्रेजों के विरूद्ध हो गई। भारतीय राजनीतिक मंच पर महात्मागांधी का प्रवेश हो चुका था। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के साथ ही एक नये विश्वयुद्ध की नींव पड़ चुकी थी। प्रथम विश्वयुद्ध ने किसी अन्तर्विरोध का निदान नहीं किया। रूसी क्रांति ने अन्य यूरोपीय देशों में क्रांतिकारी हलचल पैदा की। साम्राज्यवाद के आंतरिक संघर्ष तीखे हो गये।[2] 1918–22 के वर्षो के बीच आर्थिक संकट के साथ–साथ राजनीतिक अस्थिरता भी थी। तथा लोक भावना का भी उत्थान हो चुका था। प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप आर्थिक संकट के कारण मूल्यों में तीखी वृद्धि एवं आवश्यक सामानों की कमी के कारण निश्चित आय वाले लोग मुख्यतः सरकारी नौकर विद्यार्थी एवं स्कूल के अध्यापक बेहद दबाव में आ गये।[3] "इसी बरस हम स्वराज लेंगे", असहयोग आन्दोलन में लोगों को ऐसी आशा बन गई थी मालूम होता था स्वराज अब मिला, तब मिला। स्वराज का लोग अपना–अपना अर्थ लगाते थे। महात्मागांधी का दक्षिण अफ्रीका का अनुभव था। उनका असहयोग अन्त में सहयोग के लिये था । पीछे महात्मागांधी ने पूर्ण स्वतन्त्रता वाले प्रस्ताव का लगातार विरोध किया, मानो स्वतन्त्रता और समाज में बहुत अन्तर है। उनका कहना था कि बिना आत्मसम्मान की पूर्ण भावना के, स्वतन्त्रता का प्रस्ताव व्यर्थ है। जब उसे पास किये जाये, तब उसे कार्य रूप लाने के लिये शक्तिशाली भी हो। स्वराज्य शब्द में एक जादू था लोगों ने उसके मनमाने अर्थ लगाये, परन्तु वे महात्मा गांधी के बताये रास्ते पर आगे बढ़े।[4]

समूचे देश की तरह इलाहाबाद में भी तनाव व्याप्त होने लगा था। युद्धोपरांत घटी घटनाओं के परिणाम स्वरूप शहर में सामाजिक आर्थिक विस्थापन की

स्थिति भी आई।[5] वहीं स्थानीय नेताओं ने धीरे–धीरे राजनीतिक विकास के उदाहरण भी मिलते हैं। नेहरू परिवार तथा मालवीय परिवार सक्रिय राजनीति में आने की तैयारी कर चुका था। उधर जलियावाला बाग कांड के बाद पूरा देश हतप्रभ था। कांग्रेस ने ब्रिटिश अत्याचार की जांच के लिये मोतीलाल नेहरू एवं मदन मोहन मालवीय के नेतृत्व में दो कमेटियां नियुक्त कीं।[6]

इसके बाद असहयोग आन्दोलन के साथ ही राष्ट्रीय राजनीति में नया दौर शुरू हुआ। जलियांवाला बाग घटना तथा रौलट ऐक्ट के बाद से 'महात्मागांधी की जय' का नारा भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर प्रभावी होने लगा और राष्ट्रीय आन्दोलन ने नया आकार ग्रहण करना शुरू किया तथा यह नई दिशाओं की ओर विकसित होने लगा।[7]

सन् 20 का आन्दोलन आरम्भ हुआ था, खिलाफत को लेकर । खिलाफत के आन्दोलन का सम्बन्ध धर्म से अधिक था, राजनीति से कम। उनकी जड़े देश में न होकर विदेश में थीं। खिलाफत मुसलमानों का आन्दोलन था परन्तु यदि वह हिन्दुस्तान के मुसलमानों की आर्थिक और राजनीतिक मांगो के लिये होता, तो उसे एक राष्ट्रीय जन आन्दोलन का केन्द्र बनाया जा सकता था। धर्म और विदेश से सम्बन्धित होने के कारण उसकी जडें पहले से ही निर्बल थीं। यह असम्भव था कि वह बहुत दूर तक राष्ट्रीय आन्दोलन में सहायक होता। कुछ समय के लिये अवश्य मालुम होने लगा कि हिन्दू मुस्लिम एकता हो गई परन्तु शीघ्र ही यह भ्रम सिद्ध हुआ। हिन्दू मुस्लिम समस्या वहीं रही जहां सन् 20 के पहले थी। बल्कि पहले से कटु ही हो गईं ।[8] फिर भी अल्पकाल के लिये ही सही, ख़िलाफत आन्दोलन असहयोग आन्दोलन से संयुक्त हुआ और असहयोग को उससे बल मिला। राजनीतिक और ख़िलाफत आन्दोलन साथ–साथ विकसित हुआ और बाद में ख़िलाफत ने गांधी जी के अहिंसा और असहयोग को स्वीकार कर लिया। इस क्रम में इस कार्यक्रम को सुनिश्चित करने के लिये इलाहाबाद में काउंसिल ऑफ मुस्लिम लीग की एक मीटिंग हुयी। यह मीटिंग सैयद रज़ा अली के घर पर हुयी। ख़िलाफत आन्दोलन ने इलाहाबाद में असहयोग को स्थापित किया।

1920 में गांधी जी एवं अली बंधुओं के इलाहाबाद आगमन के बाद स्कूल एवं कालेजों को छोड़ने वाले पहले नौ विद्यार्थियों एवं बच्चों में से पांच मुस्लिम थे। उसी समय नौकरी छोड़ने वाले पांच पुलिस सब इंस्पेक्टरों में से तीन मुसलमान थे। जाफरी, हैदर मेंहदी द्वारा ही विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार का वृहद् स्तर पर प्रचार सबसे पहले किया गया। उन्होंने सीधे कहा कि "सरकार इस्लाम के साथ युद्ध पर है।"[9]

इस तरह मुस्लिम राजनीतिक समुदाय इलाहाबाद में असहयोग के लिये राजनीतिक सरगर्मियां तेज कर रहा था। कांग्रेस ने अपील की कि जिन लोगों को सरकार से उपाधियां आदि मिली हों वे उनको छोड़ दें। ऐसे ही वकील अदालतों में वकालत करना भी छोड़ दें। लड़के अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ना छोड़ दें। महात्मागांधी की अपील उच्च और मध्यवर्ग के लोगों से थी, जिनमें ओहदेदार वकील थे, और वे खाते पीते लोग थे, जो अपने लड़कों को स्कूल कालेजों में भेज सकते थे। लोगों से चर्खा कातने को भी कहा गया ।[10] लोगों ने इन कार्यक्रमों को माना भी।

स्वराज्य तो हमको दिलायेगा चर्खा
विदेशी हुकूमत मिटायेगा चर्खा
यह धू–धू की धुरपद सुनायेगा चर्खा
मेरे हौसले अब बढ़ायेगा चर्खा
अगर हिन्द, अपना चलायेगा चर्खा
तो दुश्मन को चक्कर करायेगा चर्खा
अगर कोई दिल से भुलायेगा चर्खा
तो नीचा उसी को दिखायेगा चर्खा
विदेशी को यहां से भगायेगा चर्खा
स्वदेशी का डंका बजायेगा चर्खा
सदा मेल के गीत गायेगा चर्खा
उदू के जिगर को जलायेगा चर्खा
नहूसरत से पीछा छुड़ायेगा चर्खा

हमें चैन से अब बिठायेगा चर्खा

हमे खीर इतना खिलायेगा चर्खा

हमें चैन से अब बिढायेगा चर्खा

हमे खीर हलवा खिलायेगा चर्खा

हमें दूध क्षीरी पिलायेगा चर्खा

विदेशी तिजारत को खायेगा चर्खा

स्वदेशी की जड़ को जमायेगा चर्खा

जो नित्य अपना जगायेगा चर्खा

तो इंग्लैण्ड को आफत में लायेगा चर्खा ।[11]

महात्मागांधी के हाथ में सबसे बढ़िया अस्त्र विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार था। यदि वह नहीं होता तो सन् 1920 का आन्दोलन नहीं के बराबर होता। सरकार का नुकसान नौकरी छोड़ देने से या वकालत न करने से उतना नहीं हुआ जितना कि विलायत के बने कपड़ों की बिक्री कम हो जाने से।[12] इलाहाबाद में इस आह्वान का प्रत्युत्तर मिला परिषद के बहिष्कार का निर्णय इलाहाबाद में असहयोग का उच्चतम तरीका था। सरकारी स्कूलों से बच्चों का निष्कासन सरकारी अनुदानों की समाप्ति; कांग्रेस का सत्ता के लिये संघर्ष की अखिल भारतीय नीति का हिस्सा थी। असहयोग के दौरान राष्ट्रवादी नेताओं ने सबसे पहले मुहल्ले के स्तर पर प्रचार किया।[13] सन् 1908 में जन्मे इलाहाबाद की प्रसिद्ध लोकनाथ गली (चौक) के निवासी श्री बेनीमाधव गुप्तां बताते हैं–

"सन् 1921 में पूज्य महात्मागांधी ने असहयोग आन्दोलन शुरू किया। इस आन्दोलन में सुबह प्रभात फेरी निकलती और शाम को जुलूस निकलता था। शहर की जनता में काफी उमंग व उत्साह था शहर में कोतवाली कायम हुयी। जगह–जगह तलाशियां शुरू हुयी और काफी संख्या में लोगों को पुलिस ने गिरफ्तार कर जेल भेज दिया। उस वक्त मेरी उम्र 12–13 वर्ष की थी।[14]

आन्दोलन में उक्त तरीकों तथा उसमें लोगों की हिस्सेदारी के प्रमाण अन्य

साक्ष्यों से भी मिलते हैं। इलाहाबाद में राष्ट्रीय–विद्यालयों की स्थापना की गई। एक स्कूल दारागंज में भी स्थापित किया गया। 80 वर्षीय स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी सीता राम निषाद बताते हैं–

"1921 में अमेठी से प्रयाग आकर शिवराम अग्निहोत्री ने दारागंज में 'गांधी विद्यालय' की स्थापना की और मुझे भी मेरे पिता ने इसी गांधी विद्यालय में प्रवेश दिला दिया।"[15] असहयोग आन्दोलन के दौरान ही सरकारी कोतवालियों के समानान्तर राष्ट्रवादियों ने अपनी कोतवालियां बनाई एक कोतवाली मदरसे सुबहानिया में बनाई थी उसमे बहुत से मुसलमान साथ थे।[16]

असहयोग आन्दोलन के युग में संयुक्त प्रांत कांग्रेस का एक बहुत मजबूत आधार बन गया था और इसी समय से संयुक्त प्रांत ने राष्ट्रीय राजनीति में अग्रणी स्थान प्राप्त कर लिया था जो आज तक बना हुआ है। 1920–21 का समय अनेक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय नेताओं के निरंतर चलने वाले राजनीतिक जीवन के आरम्भ का समय था, जैसे जवाहर लाल नेहरू, पुरूषोत्तमदास टंडन, गणेशशंकर विद्यार्थी, गोविन्द बल्लभ पंत तथा लालबहादुर शास्त्री। संयुक्त प्रांत में असहयोग आन्दोलन मुख्यतः शहरों कस्बों तक ही सीमित रहा।[17]

पंडित मोतीलाल नेहरू और पंडित जवाहरलाल नेहरू भी इसी दौर में राजनीतिक आन्दोलन में शामिल हुए और गिरफ्तार हुए। समूची प्रांतीय कांग्रेस कमेटी हीवेट रोड पर स्थित अपने कार्यालय में मीटिंग करते हुए गिरफ्तार हो गई। देशभर में गिरफ्तार 52000 लोगों में से 1179 इलाहाबाद के थे। नये 'लेजिस्लेचर' के चुनाव का बहिष्कार उल्लेखनीय रूप से सफल हुआ। अधिकांश मतदाताओं ने चुनाव का बहिष्कार किया। सर वैलेन्टाइन चिरोल ने भारत पर लिखी अपनी किताबों में अपने अनुभवों में लिखा है कि वह एक चुनाव के दिन इलाहाबाद में थे। उन्होंने मतदान केन्द्रों का भ्रमण किया वह वहिष्कार के सामर्थ्य पर आश्चर्यचकित थे। इलाहाबाद से 15 मील दूर एक मतदान केन्द्र पर उन्होंने देखा कि एक भी मतदाता नहीं आया था।[18]

इलाहाबाद शहर के जीवन में बहुत बड़ा हस्तक्षेप है इलाहाबाद विश्वविद्यालय। असहयोग आन्दोलन के दौरान विश्वविद्यालय के छात्रों की राजनीतिक चेतना भी जागृत हुयी। इसी क्रम में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना घटी यह घटना थी जबकि प्रिंस ऑफ वेल्स के भारत आगमन पर सामूहिक बहिष्कार किया गया था। 1895 में पैदा हुए श्री विश्वनाथ लाहिरी जो इलाहाबाद विश्वविद्यलाय के छात्र रह चुके थे। वह बताते हैं–

"जब प्रिंस ऑफ वेल्स यहां आये तो सरकार को पता चल गया था कि लडके उनका बायकॉट कर रहे हैं। सीनेट हाल के पीछे उनके स्वागत का समारोह बायकॉट किया गया। उस वक्त मैं यूनिवर्सिटी पास कर चुका था और 'फर्स्ट इयर' को पढा रहा था। प्रिंसपल ने मुझसे कहा कि तुम भी आ जाना और लड़कों के साथ बैठना। मुश्किल से पचास लड़के रहे होंगे। वह भी घर से चुपके से आये थे। वो हॉस्टल वाले नहीं थे और जो हॉस्टल के थे उनकी वापस जाने पर खाना नहीं मिला था। लोगों ने हॉस्टल में कहा कि तुम्हारा खाना नहीं पका । इलाहाबाद भर में सन्नाटा था सड़कों पर एक आदमी नहीं दिखाई पड़ रहा था।"[19]

इस घटना की पुष्टि लिखित साक्ष्य भी करते हैं। हरकोर्ट बटलर ने अपने गुप्त नोट में वेल्स के बायकॉट के बारे में लिखा है । इस पूर्ण बायकाट के बारे में ड्यूक ने 1951 में प्रकाशित 'किंग्स स्टोरी' में भी लिखा है– "निश्चित दिन में यूनीफार्म में ट्रेन से निकला और रेलवे स्टेशन में एक राजकीय बध्ध में चला शहर में खिड़कियां एवं दरवाजे बन्द थे। सड़कें खाली और चारों ओर सन्नाटा था। यह एक अनुभव था। बघ्घी में मैंने अपनी दृढ़ और राजसी मुद्रा बनाये रखने का अभिनय किया जैसे कि मैं अपमान से ऊपर उठ गया हूँ।" ड्यूक के अनुसार केवल इलाहाबाद एवं बनारस में हड़ताल का असर दृश्य था।

इलाहाबाद में सीनेट हाल में स्वागत समारोह किया गया। समारोह बेहद संक्षिप्त तथा फीका था। जो समारोह में भाग लेने गये उन्हें हिकारत की नज़रों से देखा गया यहां तक कि रसोइये एवं कहार ने उस दिन हास्टल में खाना देने से इंकार

कर दिया। प्रतिरोध इतना सशक्त था कि कालेज खेलों को जिसकी अध्यक्षता प्रिंस को करनी थी, स्थगित कर दिया गया।

ड्यूक के अपने लेखन के अतिरिक्त इंग्लैण्ड में समकालीन समाचारपत्रों में भी इलाहाबाद के बायकाट की खबर सनसनीखेज वक्तव्य छपी।[20]

इस तरह राष्ट्रीय चेतना के उभार के साथ ही इलाहाबाद विश्वविद्यालय में छिटपुट घटनायें होती रही किन्तु सन 42 की घटनाओं को छोड़कर विश्वविद्यालय परिसर में या छात्रों के घर पर कुछ ख़ास नहीं घटा। आगे चलकर वामपंथी राजनीति के प्रभाव में कुछ छात्र आये और कुछ गतिविधियां उनके माध्यम से होती रहीं। किन्तु 42 के बाद वह भी बिखर गया।[21] किन्तु 1887 में म्योर सेन्ट्रल कालेज में उद्घाटन के बाद से ही इलाहाबाद विश्वविद्यालय मुख्यतः नौकरशाह की नियुक्तियों का प्रमुख केन्द्र रहा। विश्वनाथ लाहिरी सहित तमाम साक्षात्कार इस बात की पुष्टि करते है। आनन्द भवन विश्वविद्यालय के एकदम नज़दीक है। यह कांग्रेस की गतिविधियों का अड्डा था वहां पर बड़े–बड़े ऐतिहासिक फैसले लिये गये थे। परन्तु उन गतिविधियों का असर विश्वविद्यालय के छात्रों पर बहुत कम पड़ता था। समूचे उत्तरप्रदेश और समीपवर्ती क्षेत्रों से मध्यवर्गीय एक जमींदार वर्ग के विद्यार्थी यहां बहुतायत में पढ़ने आते थे। आम छात्रों के साथ–साथ विश्वविद्यालय के छात्रों का एक विशिष्ट प्रकार का अभिजात्य चेहरा भी बनने लगा था जिसकी अभिव्यक्ति आगे चलकर 'फ्राइडे क्लब' में हुयी । अपने इसी कैरियरवादी चरित्र के कारण इलाहाबाद विश्वविद्यालय आज़ादी के पहले तथा बाद में कोई छात्र आन्दोलन नहीं खड़ा कर पाया। सन् 42 के अपवाद को छोड़ कर इलाहाबाद के अधिकांश छात्रों ने राष्ट्रीय आन्दोलन की राजनीति में रूचि नहीं ली। समय–समय पर स्वाभिमान अवश्य जागता था परन्तु उतना पर्याप्त नहीं था। क्रांतिकारी शचीन्द्र नाथ सान्याल अपनी आत्मकथा में लिखते हैं–

"सन् 1921 में जमशेद पुर के काम को छोड़कर मैं इलाहाबाद चला गया। ..... इलाहाबाद पहुंचकर मैंने कांग्रेस के प्रमुख नेताओं से मुलाकात की। कांग्रेस के विभिन्न कार्यकर्ताओं से भी परिचय प्राप्त करने लगा। इलाहाबाद के विभिन्न होस्टलों में जाकर

मैं नौजवानों से परिचित होने की चेष्टा भी करने लगा। कांग्रेस के नेताओं में से एकाध ने मेरे साथ सहानुभूति तो अवश्य दिखलाई लेकिन कार्यक्षेत्र में वे लोग एक कदम आगे नहीं बढ़े। बनारस षड़यन्त्र केस के बाद मैनपुरी षड़यन्त्र केस चला था। ...... इलाहाबाद आकर मैने चाहा कि मैनपुरी षड़यन्त्र केस के बचे हुए व्यक्तियों से मेरा परिचय हो जाये। इस प्रकार खोजबीन करते–करते मैनपुरी दल के एक नेता श्री देवनरायण जी का पता चला। इलाहाबाद में ही उनसे मुलाकात हुयी है। मैं स्वयं छात्र न था, एव पहले कभी इलाहाबाद में नहीं रहा था। इसलिये भी इलाहाबाद के युवकगणों से मेरा कुछ परिचय न था। क्रांतिकारी आन्दोलन की सफलता युवकमण्डली पर ही निर्भर रखता है ऐसी मेरी समझ थी। ... मेरे लिये इलाहाबाद के युवक वृन्दों से परिचित होने के लिये कोई सहज और सरल उपाय नहीं था। इसलिये मैने प्रतिदिन इलाहाबाद के विभिन्न होस्टलों में जाना प्रारम्भ कर दिया। जान पहचान तो किसी से थी ही नहीं। जहां देखता दो–तीन नौजवान बरामदे में खड़े होकर बातचीत कर रहे हैं; उनके पास थोड़ी दूर जा कर मैं भी खड़ा हो जाता था। उनकी बातें सुनता था। ख़याल यह रहता था कि यदि मैं युवकगण राजनीति के बारे में कुछ बात करने लगें तो मैं भी अवसर देखकर उसमें शामिल हो जाऊं। लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि इलाहाबाद में जितने दिन ऐसी टोलियों के पास खड़े होकर इन लोगों का वार्तालाप सुना, उनमें से एक भी दिन इन लोगों को किसी भी राजनीतिक सामाजिक या साहित्यिक प्रश्नों पर बातचीत करते हुए नहीं पाया। इन लोगों की बातचीत इतनी दुर्नीतिपूर्ण और मलीन होती थी उनके पास खड़े रहना भी अपमानजनक अधोगति–कारी मालूम होता था। इलाहाबाद के बड़े–बड़े हॉस्टलों में मैंने शायद ही किसी कमरे में कोई मासिक पत्र देखा हो। जो दो चार अच्छे लड़के होते थे वे अपने पढ़ने लिखने में ही मगन रहते थे और कुछ छात्र खेल कूद में लगे रहते थे। सन् 1920–21 में कितना बड़ा आन्दोलन हमारे देश में होता रहा लेकिन हमारे युवक वृन्द के मन को इस आन्दोलन ने कितना थोड़ा स्पर्श किया। मैं एक प्रकार से हताश हो गया।[22]
कमोबेश रूप से इलाहाबाद विश्वविद्यालय का आज भी यही प्रमुख चरित्र बना हुआ

है। मुख्यधारा की राजनीति का प्रभाव इसके लिये ज़िम्मेदार होता है।

इस तरह असहयोग आन्दोलन के दौरान साम्राज्यवाद के खिलाफ प्रतिशोध की लहर उठ रही थी और व्याप्त हो रही थी। वह लहर अभी रवानी प्राप्त कर ही रही थी और उसमें जनता की हिस्सेदारी तीव्र हो रही थी कि चौरी–चौरा की घटना के बाद गांधी जी ने पूरा आन्दोलन वापस ले लिया सभी हतप्रभ रह गये थे। नेहरू लिखते हैं–

"हम सभी क्रुद्ध थे, जब हमने जाना कि हमारा संघर्ष उस वक्त रोक दिया गया है जबकि हमारी स्थिति हर तरफ से मजबूत हो रही थी।"[23]

गांधी जी के इस अप्रत्याशित और एक तरफा फैसले से सभी विवशता की स्थिति में आ गये। ऐसे ही दौर में जब जनता तेजी से आन्दोलन से जुड़ रही थी, नेतृत्व के आह्वान का प्रत्युत्तर दे रही थी, ऐसे में उसकी ऊर्जा को सही–आन्दोलन में बदलने की जगह उसे वहीं का वहीं रोक दिया। स्पष्ट है इस अचानक बांध से प्रवाह बिखरना ही था। असहयोग आन्दोलन के साथ ही जब देश की जनता एक–जुट होने लगी थी, तभी अचानक पूरे आन्दोलन के रोक देने से राष्ट्रीय आन्दोलन में विकृतियां पैदा हुयी। स्तब्ध आन्दोलन की सहज प्रतिक्रिया हुयी। अखिलभारतीय स्तर पर जो सहमति बन रही थी उसमें असहमति के स्वर जुड़े। असहयोग से जनान्दोलन की एक विकराल लहर निर्मित होती, जिससे राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप ही सम्भवतः दूसरा होता। किन्तु ऐसा नहीं, हुआ। सैकड़ों छोटी बड़ी धारायें राष्ट्रीय आन्दोलन में बह निकली। असहयोग से पैदा हुए शून्य में साम्प्रदायिकता की धारा को भी जगह मिली। इलाहाबाद में सन 1923, 24 तथा 27 में साम्प्रदायिक दगे हुये।[24]

असहयोग आन्दोलन के प्रति गांधीजी का एकतरफा फैसला देखते हुए यह लगता है कि निश्चिततः गांधी जी भी एक विशिष्ट प्रकार के और नियंत्रित जन आन्दोलन का नेतृत्व करने के लिये ही तैयार थे और वर्ग संघर्ष तथा सामाजिक क्रांति में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी।[25] सम्भवतः ऐसे जन उभार से वह भयभीत थे। अतः रचनात्मक कार्य करने का आह्वान करके आन्दोलन स्थगित कर दिया।

यह ठीक है कि असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के साथ जन उफान को छींटे डालकर शांत कर दिया गया था, फिर भी इलाहाबाद एवं आसपास के क्षेत्रों में साम्राज्यवाद विरोधी भावना व्याप्ति हो चुकी थी। कांग्रेस का आधार भी में व्यापक होने लगा। अपेक्षाकृत सुविधाजनक होने के कारण गांधीवादी कांग्रेस की राजनीति में लोगों की शिरकत बनने लगी। बढते हुए कष्टों के साथ ही आशा एवं शक्ति की मनोस्थितियों का एक नया संयोग बन रहा था। भारतीय समाज में अन्दरूनी तनाव भी तीव्र हुए।[26] असहयोग आन्दोलन के साथ ही इलाहाबाद में भी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन 'जन राजनीति' में प्रवेश कर गया। लोगों की भावनाओं को एक मच्च एवं नेतृत्व की आवश्यकता थी। कांग्रेस ने मंच पहले ही प्रदान कर दिया था। अनेकों लोग कांग्रेस के चवन्निया मेम्बर बने। गांधी जी ने उन्हें नेतृत्व दिया। अब ढेरों लोग आन्दोलन से जुड़े। 84 वर्षीय गया प्रसाद निगम (वह रोडवेज के कर्मचारी थे) कांग्रेस के पक्षधर थे। वह साईकिल से कांग्रेस के लीफलेट शहर एवं गावों में बांटते थे। उनके अनुसार इससे लोगों में जोश आता था। सिर्फ शहर ही नहीं गांवों में भी कांग्रेस का असर पहुंचने लगा था। इलाहाबाद से ही राष्ट्रीय एवं स्थानीय नेतृत्व उभर कर सामने आने लगा। इनमें से एक थे शिवमूर्ति सिंह । शिवमूर्ति सिंह इलाहाबाद शहर से 15 मील दूर फूलपुर तहसील के कोटवा के ठुकराने के एक छोटे से परिवार में 1896 में पैदा हुए थे। शिवमूर्ति ने हिन्दी मिडिल (कक्षा आठ) की परीक्षा पास की थी। कर्मयोगी पत्रिका के साथ शिवमूर्ति प्रगतिशील एवं राष्ट्रवादी साहित्य पढ़ते थे। बंग–भंग प्रतिरोध के दौरान वह राजनीतिक सभाओं में भी भाग लेते थे। इलाहाबाद आने के अपने पहले साल में शिवमूर्ति 'स्वदेशी' के समर्थक हो गये। 1918 में उन्होंने अपनी पढ़ाई–छोड़ दी और पुरूषोत्तमदास टंडन की सलाह पर वह गांधी साबरमती आश्रम में हिन्दी के अध्यापक हो गये। उसके बाद उन्होंने इलाहाबाद, बनारस एवं बीकानेर में भी अध्यापन किया।

1920 में जब असहयोग शुरू हुआ तो उन्होंने अध्यापन छोड़ दिया और कांग्रेस की गतिविधियों में सक्रिय हो गये। मुख्यतः उन्होंने इलाहाबाद एवं प्रतापगढ़ के

किसानों के बीच काम किया। आन्दोलन के समाप्त हो जाने के बाद वह लाहौर चले गये और कौमी विद्यापीठ से स्नातक हुए। इसके बाद वह कांग्रेस के कार्य के लिये इलाहाबाद लौटे । उन्होंने जवाहरलाल के निर्देशन में काम किया किन्तु उनकी प्राथमिकता किसानों में थी। 1920 के उत्तरार्द्ध में उन्होंने कांग्रेस को जिले के स्तर पर प्रसारित किया। दशक के अन्त में शिवमूर्ति अवज्ञा प्रचार के प्रमुख संगठनकर्ता हुए।

एक अन्य टीकाराम त्रिपाठी भी यमुनापार शिवमूर्ति के गांव कोटवा से थोड़ा दूर स्थित गाव के थे। उनके पास भाई थे और एक छोटी ज़मीन्दारी थी जो उनमें बंट गई थी। वह गांव के स्कूल में गये और फिर हंडिया से हिन्दी मिडिल पास किया। फिर उन्होंने एक जिला बोर्ड विद्यालय में अध्यापन किया। 1910 में छात्रों को 'विकसित विचार' देने के जुर्म में मुअतिल कर दिये गये। उसके बाद वह मदन मोहन मालवीय द्वारा इलाहाबाद शहर में भारती भवन पुस्तकालय में नियुक्त हुए। असहयोग आन्दोलन में वह मालवीय से अलग हो गये तथा पुस्तकालय छोड़ दिया और राष्ट्रवादी संगठन के लिये अपने गांव में पूरे समय काम करने लगे। 1923 में वह इलाहाबाद कांग्रेस कमेटी के सचिव बन गये। उन्होंने अंग्रेजों के विरोध में होने वाले कांग्रेसी प्रतिरोध में मुख्य हिस्सा लिया। उनके पुत्र रूप नारायण त्रिपाठी ने भी कांग्रेस के कार्य में हिस्सा लिया। रूप नरायण की पत्नी एवं दो बहनों ने भी स्थानीय महिलाओं को संगठित करने की जिम्मेदारी ली और सविनय अवज्ञा के दौरान गिरफ्तार हुयी।[27]

इस तरह कांग्रेस की व्याप्ति शहर में गांवों की ओर भी हो रही थी। जो थोड़े से भी चेतनशील थे वह साम्राज्यवाद के विरोध में खड़े हो रहे।

असहयोग के पश्चात काफी दिनों तक इलाहाबाद खामोश रहा। साइमन कमीशन के विरोध में थोडी सुगबुगाहट अवश्य हुयी। किन्तु साइमन कमीशन के बहिष्कार के साथ ही सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू हुआ था। कमीशन आया था देश के शासन तन्त्र की जांच करने और अगले विधान के लिये नये प्रस्ताव रखने। कांग्रेस का 'बाईकाट' सामूहिक जन प्रदर्शन आदि के रूप में हुआ। कांग्रेस धूम–धाम कर

सरकारी सुधारों की ओर ही आई। उसकी विजय यात्रा सुधारों में ही समाप्त हुयी। इन सुधारों के सम्बन्ध में साइमन कमीशन इस देश में आया। इलाहाबाद की जनस्मृतियों में साइमन कमीशन के विरोध से सम्बन्धित कोई भी घटना हमें नहीं प्राप्त हुयी।

सर जान साइमन ने ब्रिटेन के प्रधानमंत्री को एक सभा करने के लिये लिखा जिसमें सुधार के प्रस्तावों के लिये अधिक से अधिक बहुमत मिल सके। वाय़सराय ने भी अपने भाषणों आदि में इस बात का उल्लेख किया था। महात्मागांधी न अब कहा कि वह सरकार की ओर से हृदय परिवर्तन चाहते थे। 16 नवम्बर 1929 को इलाहाबाद में वर्किंग कमेटी की बैठक हुयी और तभी वह सर्वदल सम्मेलन भी हुआ।[28]

औपनिवेशिक स्वराज्य को ध्यान में रखकर ही सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेड़ा गया। पहले की ही तरह आन्दोलन को सफल बनाने के लिये कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं बनाया गया। पहले की भांति विद्यार्थियों वकीलों आदि से फिर अपील की गई। आन्दोलन के लिये चुना गया 'नमक कानून'। नमक सत्याग्रह के दौरान शहर में आम जनता ने इसमें खूब हिस्सेदारी की। इस दौरान इलाहाबाद में 1320 लोग गिरफ्तार हुए।[29] 27 जनवरी 1930 के 'लीडर' के अनुसार छात्रों ने म्योर सेंट्रल कालेज के प्रवेश द्वार पर राष्ट्रीय झण्डा फहराया। जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में छात्रो का एक जुलूस राष्ट्रीय झण्डे के साथ पुरूषोत्तमदास टंडन पार्क तक गया और वहां एक सभा हुयी। 10 अप्रैल को जवाहरलाल नेहरू सादिक अली और कृष्णा नेहरू के नेतृत्व में सत्याग्रह जुलूस निकला जिसकी आगवानी दुकानदारों एवं नागरिकों ने की। मुख्य स्थान पर बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई। नमक बनाया गया तथा 5.. रूपये में बिका। यह गतिविधियां पूरे शहर के मुहल्लों में फैल गई। नगर के सामान्य लोगों ने भी हिस्सेदारी की। इलाहाबाद में महिलाओं ने भी हिंस्सेदारी की। शहर की प्रमुख औरतों के साथ आम औरतें भी नमक बनाने में शामिल हुई। 90 वर्षीया रामादेवी[30] ने 16 साल की उम्र से आन्दोलन की गतिविधियों में हिस्सा ले रही थीं। नमक आन्दोलन में उन्होंने बढ़ चढ़ कर शिरकत की। वह आनन्द भवन के समीप कर्नलगंज मुहल्ले में

रहती हैं। वह बताती हैं–"ओतों रामसिंह दरोगा रहे – बड़ा सख्ती रहे। कढ़इया–बढ़इया निमक का बर्तन सब उठा लै जायें, ऊ जे के पकड़ पावें, वही का बेतै बेत मारै शुरू कर दें – चाहे जे के हो। हम लोग निमक बनावत रहे। देखा जायं कि पुलिस ओहर से आवत है त हम लोगन सामान लैकर के भागी और निमक के पुड़िया बना–बना के शहर घूमी। पूरे शहर में बेचा जाये। कोई से कहा जाये भइया मोल खरीद लो। सब दूकानदार न कोइ एक रूपया कोई दू रूपया ओई में डारत रहे। तो हम लोगन पइसा इकटठा करके कांग्रेस दफ्तर मे लै जा के जमा कर देत रहे।"

मौखिक साक्ष्यों के अनुसार नमक आन्दोलन के दौरान शहर में गतिविधिया तेज़ हुयी थी। स्त्री पुरूष सभी इसमें शामिल हुए थे। मुख्य धारा में जो औरतें भाग ले रहीं थीं उनके पीछें अनेकों सामान्य औरतें घर से बाहर आईं।

"प्रीतम चलूँ तुम्हारे साथ जंग में पकड़ूंगी तलवार
भारत को आज़ाद करूंगी, नहीं जेल से बालम डरूंगी।
मारूंगी और वही मरूंगी, करूं नमक तैयार
प्रीतम चलूं ....
चरखे की मैं तोप बनाऊं, बना सूत के गोले चलाऊं
मानचेस्टर मे किले को ढाऊं, पाऊं फतेह भरतार
प्रीतम चलूं ....
गांधी जी का हुकुम बजाऊं घर–घर में उपदेश सुनाऊ
अपनी बहनों को समझाऊं करूं खूब प्रचार
प्रीतम चलू ....
अपना पहलूं कता स्वदेशी, नहीं खरीदूं माल विदेशी
सुलह करेंगे तब परदे की, हुआ गरम बाज़ार
प्रीतम चलू ......
गाढ़े के सब वस्त्र बनाओं, सारी पब्लिक को पहनाओ
और मैं करूं सूत तैयार ....
प्रीतम चलूं तुम्हारे संग जंग में पकड़ूंगी तलवार "[31]

आगे चलकर नमक सत्याग्रह आसपास के क्षेत्र में भी फैल गया। स्वयं सेवकों के साथ

उमा नेहरू हंडिया गई तथा नमक बनाया। 21 अप्रैल को कृष्णा नेहरू ने नेतृत्व में विश्वविद्यालय क्षेत्र, लारेंसगंज, कर्नलगंज और कटरा क्षेत्र में नमक बनाया गया। बाज़ार में कपड़े की होली भी जलाई गई। 17 दिन तक नमक कानून के विरोध में सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलता रहा। इसी समय अभ्युदय प्रेस के बैजनाथ कपूर के सत्याग्रह सभा निकालना शुरू किया, जो बाद में सज़ाआता हो गया।

उसी दौर में इलाहाबाद में एक प्रमुख घटना घटी जो लोगों की स्मृतियों में बहुत प्रमुखता से अंकित है। यह घटना है 27 फरवरी सन् 1931को अल्फ्रेड पार्क में घटी चन्द्रशेखर आजाद की शहादत। लगभग सारे साक्षात्कार इस घटना को विशेष तौर पर बताते हैं। आज भी लोग इस घटना को श्रद्धा एवं गर्व से याद करते हैं। इस घटना ने लोगों की चेतना को झकझोर और वह तेजी से साम्राज्यवाद के ख़िलाफ खड़े हुए। जियाउल्हक[32] के अनुसार उनके बचपन की वह पहली राजनीतिक घटना है। उत्साही स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी सीताराम निषाद[33] बताते हैं कि रसूलाबाद में जलाने के बाद वह उनकी राख लेकर लौटे थे। 78 वर्षीय सरयू प्रसाद[34] पूरी घटना को बहुत बढ़ाचढ़ा कर बताते हैं। उस घटना का चश्मदीद गवाह होने का गर्व उनकी बातों में एवं चमक उनकी आंखों में स्पष्ट दिखाई देती है। कुछ लोगों की बातों में ऐसा भी अतिरेक होता है मानो उनके देखने और घटने वाली घटना के बीच कोई सम्बन्ध है। सरयू प्रसाद घटना को बताने के क्रम में अतिशयोक्ति भी करते हैं–

"हम उस वक्त 8 क्लास में बैठे पढ़ रहे थे, उसी वक्त वहां गोली चली है और उसी वक्त हम लोग क्लास छोड़ कर वहा गये। हम अपनी आंख से देखा कि सब गोली उनकी खत्म हो गई तो उन्होंने अपने हाथ से गोली मार ली।"[35]

वह बताते हैं कि गोली चली तो जी.आई.सी. (जहां वह पढ़ते थे) अल्फ्रेड पार्क के बगल में ही है, तो वह क्लास छोड़कर भागे। उनका मानना है कि उन्होंने पूरी घटना अकेले ही देखी। हमने पूछा कि क्या वहां भीड़ इकट्ठी हो गई थीं तो वह कहते हैं– "नहीं, वह बाद में हुयी। उस समय तो नहीं थी। हम अकेले वहां थे। हम गोली बारूद से नहीं डरते थे। हम यहां पहुंच गये थे, वहां पर देखा सब। उसके बाद हिन्दू

कालेज के लड़के इकट्ठा हो गये थे फिर उन्हें भगाया गया। लाठी चार्ज हो गया, वहां से लाश ले गये।"[36]

वह चन्द्रशेखर आज़ाद के बारे में इतना जानते हैं वह बनारस के रहने वाले थे और कांग्रेसी थे। इस प्रकार वह एक बड़ी घटना का चश्मदीदी गवाह होने के कारण, बातचीत करते समय अपने–आपको बहुत महत्वपूर्ण मानने लगते हैं और अपनी बहादुरी प्रदर्शित करते हैं। इस तरह से उस घटना के आंखों के सामने घंटने की बात अनेको लोग बताते हैं। जबकि सरयू प्रसाद के स्कूल से चन्द्रशेखर आज़ाद का शहीद स्थल लगभग एक डेढ़–किमी. दूर हैं। अतः यह सम्भव नहीं है कि तुरंत घट रही घटना मे वहां से भाग कर शामिल हुआ जा सके और वह भी अकेले। दूरी के हिसाब से हिन्दू हॉस्टल घटनास्थल से ज्यादा नजदीक है। और, हुआ भी यही था कि हिन्दू हास्टल में लड़के वहां एकत्रित हुए थे। लोग बताते हैं कि यहां ख़बर पूरे शहर में बहुत तेजी से फैल गई थी और लोग वहां पूजा–अर्चना आदि करने लगे थे। बाद में अंग्रेज सरकार ने वह पेड़ कटवा दिया जहां पर घटना घटी थी।

यहीं पर नज़र आती है मौखिक इतिहास की एक विशेष समस्या। वह सूचना देने वाले का घटना के विषय में आत्मगत तरीके से बढ़ा–चढ़ाकर वर्णन करना। किन्तु अक्सर मौखिक इतिहास का उद्देश्य सिर्फ घटनाओं का क्रमवार वर्णन करना नही होता । मुख्य बात है कि उस घटना की सामाजिक अर्थवत्ता क्या है। इतिहास का सरोकार मानव एवं समाज से हैं तो हमारे लिये यह महत्वपूर्ण है कि वह घटना व्यक्ति में किस रूप में घटी थी– और आज भी किस रूप में घट रही है। और यह काम सिर्फ मौखिक इतिहास में ही सम्भव है। हम अन्य साक्ष्यों से उसकी पुष्टि भी कर सकते हैं। चन्द्रशेखर आज़ाद की अल्फ्रेड पार्क में शहादत एक ऐतिहासिक तथ्य है। और आज भी जनता की स्मृतियों में वह बहुत प्रबल तरीके से अकित है। लोग उस घटना से उस वक्त भी प्रेरित हुए थे और आज भी उसकी उष्मा महसूस करते हैं। इस बात से यह स्थापित होता है कि जनता क्रांतिकारिता का सम्मान करती है। और पूरा

संघर्ष और क्रांतिकारी होता तो वह जनता को गढ़ता। आज़ाद की शहादत इलाहाबाद शहर के जीवन की महत्वपूर्ण घटना है। सन् 1942 के पहले आन्दोलन के पहले यही एक मात्र घटना है जिसका विवरण लोग पूरी शिद्दत और उत्साह के साथ करते हैं। इस तरह की अनेकों छोटी बड़ी घटनायें थीं, जो स्थानीय और राष्ट्रीय स्तर पर घट रही थी, उससे जनता उत्प्रेरित हो रही थी। इलाहाबाद शहर में राष्ट्रीय नेताओं का आगमन, उनकी सभायें उनका आह्वान लोगों को राष्ट्रीय आन्दोलन में हिस्सेदारी के लिये प्रेरित कर रहा था। विदेशियों की उपस्थिति तथा उसके ख़िलाफ लगातार चल रहे संघर्ष ने जनता को राष्ट्रीय आन्दोलन में हिस्सेदारी करने को प्रेरित किया।

इसी दौरान 4 जनवरी 1932 को बम्बई में महात्मागांधी की गिरफ्तारी के बाद इलाहाबाद में जबरदस्त हड़ताल रही। नगर कांग्रेस कमेटी ने जान्सटनगंज स्थित दरवेश्वर नाथ मंदिर के पास से शाम को एक जुलूस निकालने का ऐलान किया। तत्कालीन ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा जुलूस पर रोक लगाने के बावजूद जनता बहुत बडी सख्या में एकत्र हुयी। पुलिस ने जोरदार लाठी चार्ज द्वारा जुलूस को तितर बितर करने का प्रयत्न किया। घुड़सवार पुलिस ने जुलूस के ऊपर घोड़े दौड़ा दिये। इसकी वजह से 62 वर्षीय व्यवसायी श्री नियाकतुल्ला 64 वर्षीय पोस्ट आफिस के सेवा निवृत्त कर्मचारी श्री सूर्यनारायण, 30 वर्षीय दर्जी श्री सोहनलाल तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्र 18 वर्षीय श्री हरनारायण कुचल कर मर गये।[37] इलाहाबाद में कुल 1510 सत्याग्रही गिरफ्तार हुए तथा 6893 किसान लगान न देने के कारण अपनी जगहों से हटा दिये गये।[38]

इस तरह हम देखते हैं कि इलाहाबाद शहर में राष्ट्रीय स्तर से लेकर स्थानीय तथा ग्रामीण अन्चलो तक लोग इसमे शामिल हो रहे थे। जनता कांग्रेस एवं गांधी जी के आह्वान का उत्तर दे रही थी। वह घरों से बाहर आ रही थी। सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा नमक आन्दोलन तथा लगानबन्दी आन्दोलन के दौरान इलाहाबाद से भी अनेकों लोग जेल गये या सरकारी दमन के शिकार हुए। अगस्त 1933 में एक बार फिर सामूहिक आन्दोलन बन्द कर दिया गया।[39] स्पष्ट उतार चढ़ावों के बावजूद

भारतीय राष्ट्रवाद ने जो आम प्रगति की थी वह महत्वपूर्ण है। किन्तु प्रगति की यह प्रक्रिया अन्तर्विरोधों से भरी हुयी थी। यह ढर्रा 1919–20 से पहले भी अस्पष्ट रूप से देखा जा सकता था, किन्तु 1930 के दशक तक तो स्पष्ट दिखाई देने लगा था, कांग्रेस संगठन की प्रगति एवं मजबूती का तात्पर्य यह भी था कि अधिक आधारभूत और जुझारूपन की सभावना से भरे निम्नवर्गीय विद्रोहों पर अकुंश लगना और उनका कांग्रेस में ही आत्मसात हो जाना। राज से लड़ने की प्रक्रिया में कांग्रेस स्वयं राज होती जा रही थी और 1947 में होने वाले महान किन्तु अधूरे परिवर्तन का पूर्वाभास दे रही थी।[40]

असहयोग आन्दोलन एवं सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान राष्ट्रीय आन्दोलन मजबूत हुआ। जनता की हिस्सेदारी में आन्दोलन की तीव्रता के अनुरूप उतार चढ़ाव आ रहे थे। अन्य मामलों में 1921–22 की अपेक्षा 1930 में एक निश्चित जुझारूपन दिखाई देता है। अब घोषित लक्ष्य था – पूर्ण स्वाधीनता। न केवल अस्पष्ट सा स्वराज ।[41]

प्रतिरोधों और दमन के दौर में नेतृत्व द्वारा समझौते की अन्तहीन प्रक्रिया भी साथ–साथ चल रही थी। 'गांधी इरविन पैक्ट' पर हस्ताक्षर हो गया था। परन्तु शीघ्र ही इसके प्रावधानों का उल्लंघन होने लगा। गांधी जी द्वितीय गोलमेज सम्मेलन से असफल होकर वापस लौट आये थे। सांविधानिकता के विकास की कोशिशों के क्रम में कांग्रेस ने 'लेजिस्लेचर' में प्रवेश कर निर्णय लिया। उत्तर प्रदेश में प्रथम मंत्रिमण्डल में इलाहाबाद की विजयलक्ष्मी पंडित स्थानीय स्वशासन तथा जनस्वास्थ्य मंत्री, एव के.एन. काटजू विकास मंत्री बने। पुरूषोत्तमदास टंडन विधानसभा के अध्यक्ष चुने गये । किन्तु यह मंत्रिमण्डल बहुत अल्पजीवी हुआ। फिर भी इन चुनावों से भारतीय भविष्य में संसदीय प्रणाली की स्थापना कर जो विकास चल रहा था वह निश्चित हो गया। जनता इसका अर्थ नहीं जानती थी। फिर भी 'वोट से स्वराज' मिलने की अवधारणा इसी समय स्थापित हो गई थी। एकदम निरक्षर किन्तु सजग श्रीमती कांतीदेवी लय एवं भाव के साथ एक लोकगीत सुनाती हैं। उनका कहना है यह

लोकगीत 1937 के चुनाव के दौरान गाया जाता था।

"धाय आवा–धाय आवा भइया ओटरवा
कि देखि ल न अवरी कें हाल हो ओटरवा
बाप दादा तोहरे न रहले ओटरवा कि
तोहसे रहेला धनवान हो ओटरवा
तोहके ओटरवा बनावे बदे गांधी बाबा
तीस बरिस लड़ले लड़ाई हो ओटरवा
राजाबाबू सुखदेव और भगत सिंह
फंसिया में गये लटिकाये हो ओटरवा
गड़िया के आगे–आगे कठवा धरत आये
कबहूं न भईल सहाय हो ओटरवा
पूड़िया मिठइया रूपइया में जिनि भूला
छोरि लेइहैं ओटवा तोहार हो ओटरवा
ओटवे से मिलिहैं सोराज हो ओटरवा"[42]

हलांकि इस बात का साक्ष्य कहीं नहीं मिलता कि यह गीत 1937 के चुनावों के दौरान गाया था। फिर गीत के तथ्य से यह स्पष्ट होता हैं कि यह गीत स्वतन्त्रता के पूर्व का है। 'वोटवे से मिलिहें स्वराज हो ओटरवा'। यद्यपि कांतिदेवी एकदम अनपढ़ हैं फिर 1937 का चुनाव उन्हें विशेष रूप से याद है– यह महत्वपूर्ण है। इस तरह चुनावी प्रक्रिया से 'राज' में प्रतिनिधित्व लेने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी। उस संसदीय प्रणाली की नीवं पुख़्ता हुयी जिसे आज़ादी के बाद भी चलते रहना था।

इसके बाद इलाहाबाद में 'व्यक्तिगत सत्याग्रह का दौर शुरू हो गया। इलाहाबाद से 786 लोगों ने व्यक्तिगत सत्याग्रह के दौरान गिरफ्तारियां दी।[43] इसके बाद ही इलाहाबाद राष्ट्रीय आन्दोलन के संघर्ष में अपने सबसे गौरवशाली अध्याय में प्रविष्ट हो गया। सन् 1942 में भारत छोड़ों आन्दोलन के दौरान इलाहाबाद के दौरान

इलाहाबाद में राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास का सबसे जुझारू और संघर्षशील पृष्ठ जुड़ा।

भारतछोड़ो आन्दोलन अनेक अर्थो में असाधारण था – यह स्वतः स्फूर्त आन्दोलन था, हिंसक भी था, अहिसंक भी, प्रारम्भ में स्वतः स्फूर्त स्थानीय नेतृत्व ही उभरा जिसे बाद में कुछ समाजवादी राष्ट्रीय नेताओं ने नेतृत्व प्रदान करने की असफल चेष्टा की। कुछ क्षेत्रों में आन्दोलन नगरों कस्बों तक केन्द्रित था, कुछ में गावों तक में पहुंच गया था। इसमें युवा तथा छात्र–समुदाय की प्रधान भूमिका थी। अन्त में इस आन्दोलन की विडम्बना यह थी कि गांधी और कांग्रेस का नाम लेते हुए भी दोनों को ही नकार दिया था।

भारत छोड़ो आन्दोलन भारतीय जनता का बेमिसाल संघर्ष था। इस समय तक जनता की साम्राज्यवाद विरोधी घृणा तीखी हो चुकी थी।[44] विभिन्न राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कारणों से संघर्ष अनिवार्य हो गया था। 1942 के ग्रीष्म में गांधी जी एक विचित्र एवं अनोखी संघर्षशील मनः स्थिति में थे। वे बारंबार अंग्रेजों से कह रहे थे कि वे भारत को ईश्वर या अराजकता के भरोसे छोड़ दें।[45] कांग्रेस एवं सरकार दोनों संघर्ष एवं दमन की तैयारी अपने–अपने तरीके से कर रहे थे। मई सन् 1942 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में दिनों में एक गुप्त मीटिंग पंडित शिवचरण लाल शर्मा, एडवोकेट (जार्ज टाउन) के मकान पर तीन दिन तक हुयी। उस मीटिंग में रफी अरमद किदवई, श्री कृष्णदत्त पालीवाल, जगन प्रसाद रावत, द्वारका प्रसाद मिश्र और पंडित श्रीराम शर्मा शामिल हुए। इन गुप्त बैठकों में आन्दोलन की रूपरेखा पर विचार हुआ। संगठन सैनिक संगठन अन्य हथियारों के ध्वसांत्मक कार्य के लिये और आन्दोलन के लिये बजट इत्यादि पर बात चीत हुयी।

दूसरी तरफ ब्रिटिश पुलिस की गुप्त रिपोर्टो में होने वाले जनान्दोलनों के प्रति चिन्ता प्रकट की जा रही थी। सी. आई. डी. का पार्किन उत्तर प्रदेश में जनआन्दोलन के प्रति कांग्रेस की योजनाओं के विषय में संयुक्त प्रांत के पुलिस सुपरिन्टेन्डेटों को लिखे गये गुप्त पत्रों में यहां तक लिखता है कि "महात्मागांधी की

प्रश्रय में कांग्रेस के द्वारा जनान्दोलन की तैयारी हो रही है .... कांग्रेस नेता जान गये हैं कि आन्दोलन के उद्घाटन पर उन्हें गिरफ्तार कर लिया जायेगा अतः प्रत्येक जिले में उत्तराधिकारियों की व्यवस्था कर रहे हैं। इसलिये आप सभी इन उत्तराधिकारियों का पता लगायें।[46]

8 अगस्त 1942 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में अधिवेशन में पारित 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव में 'अहिसंक रूप से जितना सम्भव हो उतने बड़े स्तर पर जनसंघर्ष' का आह्वान किया गया जो अपरिहार्य रूप से गांधी जी के नेतृत्व में होता किन्तु यह भी कहा गया कि यदि कांग्रेस के सभी नेता गिरफ्तार हो जायें तो "स्वाधीनता की इच्छा एवं प्रयास करने वाला प्रत्येक भारतीय अपना मार्गदर्शक बने । प्रत्येक भारतीय अपने आपको स्वाीधन समझें ..... केवल जेल जाने से ही काम नहीं चलेगा।" उसी दिन भावपूर्ण "करो या मरो" का आह्वान करने वाले भाषण में गांधी जी ने यह घोषणा की "यदि आम हड़ताल करनी आवश्यक हो तो मैं उससे पीछे नहीं हटूंगा ।[47]

9 अगस्त की सुबह कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी ने जनाक्रोश की एक अभूतपूर्व और देशव्यापी लहर उत्पन्न कर दी।[48] भारत छोड़ो आन्दोलन ने स्वतः स्फूर्त तरीके से 1857 के बाद चले आ रहे आन्दोलन के तमाम मानदण्डों को तोड़ दिया। 1857 के पश्चात् यह सबसे बड़ा आन्दोलन था जिसने जनता ने अपने प्राणों को न्यौछावर किया। राष्ट्र के नेताओं की गिरफ्तारी के विरूद्ध जनाक्रोश बिल्कुल उचित और स्वाभाविक था ...... जनता गुस्से में सब चीज़ों को नष्ट कर देना चाहती थी जिनका सम्बन्ध ब्रिटिश सम्राजियों से था।[49] भारत छोड़ो आन्दोलन में आम जनता की हिस्सेदारी तथा समर्थन एक नई सीमा तक पहुंचा। पूर्ववर्ती आन्दोलनों की तरह भारत छोड़ो आन्दोलन में भी युवावर्ग काफी सक्रिय रहा।[50] आन्दोलन में काफी हिंसा हुयी विशेषकर बम्बई और इलाहाबाद में ।[51] सन् 42 तक इलाहाबाद में राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुका था। जनमानस देश में घट रही घटनाओं के प्रति जागरूक, उद्वेलित एवं चिन्तित था। विश्वविद्यालय एवं अन्य स्कूल कालेजों में छात्र

उत्तेजित थे, के समय–समय पर होने वाली सभाओं में बड़ी संख्या में पहुचते थे।[52] सन् 42 के दौरान इलाहाबाद में राष्ट्रीय आन्दोलन ने एक नया आयाम प्रस्तुत किया। अधिकाश साक्षात्कारों में सन् 42 में आन्दोलन के उग्र होने के साक्ष्य मिलते हैं। छात्रों ने उत्साह से इसमें हिस्सा लिया। सन् 42 के उन अविस्मरणीय दिनों में जनता ने राष्ट्रीय गतिविधियों में लगभग तन–मन धन से हिस्सा लिया। 11 अगस्त 1942 को ग्रैण्ड ट्रक रोड पर स्थित होने से गांव सैदाबाद के किसानों ने एक जुलूस निकाला। पुलिस ने जुलूस को तितर बितर होने का आदेश दिया। उनके ऐसा न करने पर मजिस्ट्रेट ने गोली चलाने का हुक्म दे दिया। इसके फलस्वरूप निम्नांकित किसानों ने इंकलाब ज़िन्दाबाद के नारे के साथ गोलियों की बौछार का सामना करते हुए अपने प्राण–त्याग दिये।

1. श्री सियम्बर आयु 24 वर्ष – किसान
2. श्री चन्द्रमा प्रसाद आयु 34 वर्ष – ग्रामीण अध्यापक
3. श्री दयाल आयु 28 वर्ष – किसान
4. श्री सुबोध आयु 45 वर्ष – किसान।[53]

इलाहाबाद में मुख्य घटना 12 अगस्त 1942 को हुयी। 9 अगस्त को देश एवं शहर के प्रमुख कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी के पश्चात् विश्वविद्यालय में एक सभा हुयी। विश्वविद्यालय छात्रसंघ से कचहरी तक एक जुलूस निकालने का निर्णय लिया गया। 12 अगस्त को जुलूस कचहरी की ओर चला। जुलूस में हज़ारों की संख्या में लोगों ने हिस्सा लिया। मौखिक स्रोतो के आधार पर यह भी पता चलता है कि जुलूस में औरतों ने भी हिस्सा लिया। बल्कि कुछ लोग तो यह बताते हैं कि जुलूस में महिलायें आगे–आगे चल रही थीं। हचिंस जो सन् 42 के आन्दोलन को स्वतः स्फूर्त मानते हैं, लिखते हैं–"इलाहाबाद में 12 अगस्त को छात्रों ने जिलाधिकारी पर आक्रमण किया . ... छात्रों को जुलूस में सामने खड़ किया गया था।"[54] उस समय इलाहाबाद का कलक्टर डिकसन था। जुलूस जब कचहरी पर पहुंचा तो पुलिस ने उन्हें तितर बतिर होने का आदेश दिया। जुलूस में अपार उत्साह था। आदेश नैं मानने पर फायरिंग का

आदेश हुआ। इस घटना मे लाल पद्मधर सिंह सहित 13 वर्षीय श्री रंगदत्त मालवीय जो सी.ए.वी. कालेज के विद्यार्थी थे, श्री बैजनाथ गुप्त और तीस वर्षीय ननका जी आदि शहीद हुए।[55] इसके बाद जुलूस में भगदड़ मच गई। अनेक लोग घायल हुए। जिसको जहां जगह मिली वहीं भागा।

साक्षात्कारों में सन् 42 की उक्त घटना का विवरण अत्यन्त उत्साह के साथ मिलता है। उस वक्त के अधिकांश छात्रों पर इसका असर मिलता है। इस जुलूस में जिन लोगों न हिस्सा लिया था उनके विवरण लगभग समान हैं।

मौखिक स्रोतों से यह भी पता चलता है कि इस जुलूस में इण्टर कालेज के छात्र भी इकटठे हुए थे। 4 जून, सन् 1925 को पैदा हुए श्री उमाशंकर श्रीवास्तव उस वक्त के.पी. इण्टर कालेज में पढ़ते थे। वह बताते हैं कि "12 अगस्त, सन् 42 को 'क्विट इण्डिया' का आन्दोलन बढ़ गया। उसी में मैं भी शामिल था। बड़ा भारी जुलूस के.पी. इण्टर कालेज से निकलवा करके यूनिवर्सिटी होता हुआ कचहरी पहुंचा। [illegible] वहा थ। पहले वहा लाठी चार्ज किया गया। बहुत आदमी घायल हुए फिर गोली का आर्डर हुआ तो सब आदमी वहां पर लेट गये। गोली चलने लगी। 'अन्थनी–अथनी' करने सिटी मजिस्ट्रेट था उसने गोली चलाई। एक कालीप्रसाद था वह आगे खड़ा हो गया। उसके (मजिस्ट्रेट) रिवाल्वर में सात गोली थी सातों उसको लगी। वह घायल होकर गिर गया। हमारे भी गोली बांये पैर के घुटने पर लगी खून बहने लगा। हमारे बगल में एक आदमी था उसका अंगौछा लेकर के घुटने में दोनों तरफ टाइट करके बांध लिया। फिर उसके बाद जब फायरिंग हो गई दो–तीन राउण्ड। फिर यह होने लगा कि कौन–कौन कहा–कहां घायल हुआ, फिर लोग मुझे उठा कर ले आये और हास्पिटल में दाखिल किया।"[56]

उमाशंकर श्रीवास्तव के बाये घुटने से गोली आरपार हो गई थी – उन्होंने हमें घुटना दिखाया। वहां लगभग 5 इंच का एक गहरा निशान है। अभी भी वह अपना घुटना पूरी तरह से नहीं मोड़ पाते। उस घटना के बाद वह तीन चार महीने तक अस्पताल में पड़े रहे थे उनके घुटने का दो बार आपरेशन किया गया, ज़ब वह ठीक

होकर गांव पहुंचे तो घरवालों ने कांग्रेसी होने के 'जुर्म' में उन्हें घर से निकाल दिया। फिर उन्होंने इलाहाबाद कचहरी में नौकरी की। उनके पैर में लगातार तकलीफ बनी रही।

इस घटना में लाल पद्म घर को शहीद होना एक ऐतिहासिक तथ्य है किन्तु मौखिक साक्ष्य बताते हैं कि वह पहले से स्थापित नेता नहीं थे। 42 के जुलूस में लेने वाले अधिकांश साक्षात्कार यही बताते हैं कि लोग उन्हें पहले से नहीं जानते थे। यद्यपि कुछ लोग यह बताते हैं कि वह उन्हें पहले से जानते थे।

इस घटना के बाद ही पूरे शहर में स्वतः स्फूर्त तरीके से हिंसक घटनायें शुरू हो गई। जगह-जगह रेल की पटरियां उखाड़ी गई। टेलीफोन के तार काटे गये, डाकखाने फूंके गये।

"कठिन सइंया बदलल बा जमनवा
तार काट कै रेल उखाड़ै बन में फूंके टेसनवा
कठिन गुइंया बदलल बा जमनवा
गली-गली कुहराम मचा है, आय गये जवनवा
कठिन गुइंया बदलल बा जमनवा
सारी चीज़ लूट के लै गये, हित हो गये दुश्मनवा
कठिन गुइंया बदलल बा जमनवा।"[57]

सन् 42 का भारत छोड़ों आन्दोलन स्वतः स्फूर्त हो कर अराजक हो गया था। शहर में मार्शल ला लगा दिया गया। इस आन्दोलन में शहर से हज़ारों लोगों ने हिस्सा लिया। विशेष तौर पर छात्रों ने हिस्सेदारी की। पहली बार विश्वविद्यालय एवं अन्य कालेजों के छात्रों ने इतनी बड़ी संख्या में राष्ट्रीय आन्दोलन में हिस्सेदारी की। 65 वर्षीय श्री विपिन बिहारी श्रीवास्तव उस समय 12-13 वर्ष के थे और इस जुलूस में शामिल हुए थे। वह भावातिरेक में कहते हैं "सन् 42 का फरमान आया। उस समय देश भर में जो लहर पैदा हुयी उसमें यह मानना बहुत मुश्किल होगा कि किसने सबसे पहले 'ज्याइन' किया। बच्चे बूढ़े जवान सभी उसमें आये। हिन्दुस्तान के दरियाओं में,

पहाडी में, हवाओं में जानवरों में, इंसानों में सबसे एक साथ यह जज़्बा आया कि हिन्दुस्तान को आज़ाद होना है।"[58] 87 वर्षीय श्री जगदीश नारायण दूबे जो कांग्रेस के उत्साही कार्यकर्ता थे, कहते हैं– "42 का आन्दोलन बड़ा ही भयानक था, उसके मुकाबले में कोई आन्दोलन नही भया ।"[59] 13 अगस्त सन् 1942 को भारत छोड़ो आन्दोलन पूरी तेजी के साथ चल रहा था। इसमें 40 वर्षीय श्री मुरारी मोहन भट्टाचार्य, 24 वर्षीय भगवती प्रसाद और अब्दुल मजीद शहीद हो गये।[60] इन दिनों आन्दोलन और दमन चक्र दोनो पूरे जोर शोर से चल रहे थे। जिले और शहर दोनों जगह पुलिस ने गोली चलाई। 14 अगस्त सन् 1942 को 22 वर्षीय विद्यार्थी द्वारका प्रसाद तथा करछना तहसील के करमागाव के किसान तथा समाजसेवी लल्लन मिश्र शहीद हो गये।[61] इसी दौर में 17 अगस्त 1942 को कीटगंज के महावीर धोबी गांधी टोपी लगाकर घर जा रहे थे। पुलिस ने उसे टोपी उतारने की आज्ञा दी परन्तु वह नहीं माना। फलतः उसे गोली मार दी गई।[62]

पूरे शहर में जहां–तहां, बिजली के टेलीफोन के तार कार दिये गये। डाकखाने फूकें गये तथा रेलवे लाइन उखाड़ी गई। इस तरह आन्दोलन बड़े नेताओं की गिरफ्तारी से शुरू होकर अपने स्वरूप में अनियमित, अनियोजित तथा अराजक हो गया। इसके अतिरिक्त एक अन्य घटना सन् 42 के आन्दोलन के समय घटी थी जो मौखिक स्रोतों से ही पता चलती है। यह घटना लिखित स्रोतों के अप्राप्य हैं। किन्तु घटना की पुष्टि अनेकों साक्षात्कारों में होती हैं। झूंसी में रहने वाले विख्यात लोकगीत गायक श्री राम अधार यादव इस घटना को सस्वर गा कर सुनाते हैं। इस लोकगीत में सन् 42 का पूरा इतिहास दर्ज है। 72 वर्षीय श्री राम अधार यादव 42 के आन्दोलन को '42 की लूट' की संज्ञा देते हैं।–

"तारीख तेरह सन् 42 की और सुनो बयान है
बिगड़ गये सोराजी ले ले झण्डा और निसान है
घेर लिया जब किला के फाटक तब साहब घबड़ान है
लै के फाटक निकल गया वो, अपने मकान है

कौनो भागे उत्तर–दक्खिन, किलह चढ़ गये बान है
बीच सड़क पर खड़ा रहे दारागंज दीवान है
धाट रहा बन्द, पुल को किये रहे पैनाम हैं
तीन मिनट के अन्दर पहुंचे झूंसी के दरम्यान हैं
हल्ला मारके लूटे लागे बनियन के दूकान हैं
बनिया तो टट्टर खसकावै अब न बची परान है
डाकखाना को तोड़ दिया टेसन के दरम्यान है
धरी रही कपड़ा के गठिया लूटै थान के थान हैं
लै के कपड़ा भाग चले सब बुढ्वा और जवान है
खाई खावा एक न माने जस आंधी तूफान हैं
पहुच गई द्वारे पे दुल्हिन घूंघट में मुस्क्यान है।"[63]

इस तरह सन् 42 में अराजक होकर आन्दोलन लूटपाट में भी बदल गया था। जो लोग इनमें शामिल थे वह नेतृत्व के अनुशासन में नहीं थे। अनियंत्रित भीड़ ने लूटपाट शुरू कर दी। हमने श्री राम अधार यादव से पूछा कि लूटपाट करने वाले कौन लोग थे तो वह बताते हैं – "वह जो किला में काम करते थे। महात्मागांधी का जो नारा दिया गया था उसके कारण किला में थोड़ी लेट पहुंचे। ठीक आठ बजे किला का फाटक बन्द कर दिया गया। यहां हिन्दुस्तान में लेट पहुंचो तो कौनों बात नहीं लेकिन अंग्रेज एकदम सही टाइम से गेट बन्द करते थे। जब वो फाटक बन्द कर दिया, नहीं जाने दिया तो उन्होंने उधम शुरू कर दिया। महात्मागांधी की जै–जैकारी बोलकर के लौट–पड़े जो रास्ते में दुकान पड़ी वही लूटना फूंकना। एक –डेढ़ हजार आदमी थे । फिर उसमें संख्या बढ़ती चली गई। दो तीन हज़ार हो गये। और संख्या बढ़ी, और यहां आये तो लूटने लगे।"

आगे हमने उनसे पूछा कि वह बनियों की दुकान ही क्यों लूट रहे थे – क्या उनके प्रति कोई विशेष गुस्सा था तो वह बताते हैं– "अब उनको लूटमार करना था कि पुलिस हमको भी कुछ करे, तो हम तो आज़ादी मांग रहे हैं न । यानि कि घूम

कर कांग्रेस तक ही जा रहे थे। इसलिये अंग्रेजी शासन को भगाने के लिये वह बनियो को लूट रहे थे। बीड़ी–माचिस लै के भाग गये। जो तनी ऐंठबाज रहा ओकर दुकानों–उकानो लूटकर भाग जात रहे। लूटते–लूटते जब डाकखाने पर आये तो यहां कागज–पत्तर सब आग लगा दिये। खजाना तोड़कर लूट लिये। वहां से झूसी स्टेशन पर आ गये। यहां स्टेशन पर चार छः गांठ कपड़ा आया था। कपड़ा को फाड़कर लै गये। उसकी खुशहाली त्योहार में मनाया गया।"

राम अधार यादव का कहना है बनियों से उनकी कोई दुश्मनी नहीं थी जोश मे वह आये और लूटपाट करते चले गये। उनके अनुसार यह लूट कलकत्ता बम्बई तक फैल गई धीरे–धीरे पूरे 'इण्डिया' में फैल गई।

इस घटना की पुष्टि झूंसी निवासी बंसीलाल[64] सहित अनेकों मौखिक साक्ष्य करते हैं। लोककवि राम अधार ने इसे तिथिवार कलमबद्ध किया है। यहां पर बनियों की दुकान लूटे जाने का एक सांकेतिक महत्व है। अवचेतन में ही भीड़ का यह मनोविज्ञान हो सकता है कि शोषण वे तन्त्र बनिये अंग्रेजों के सहभागी थे। अंग्रेजों के स्वयं बनिया होने की छवि भी इसमें काम करती है। इस पूरी 'लूट' में ढेर सारे लोग ऐसे होंगे जो 'करो या मरो' तथा 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' जैसे सशक्त नारों से प्ररित हुए होंगे। किन्तु ऐसी भी संभावना है कि इसमें बहुत से लोग ऐसे भी शामिल हुए होंगे जो महज लूट के लिये ही शामिल हुए हों। लेकिन आम तौर पर जनता में इस घटना का स्वागत हुआ क्योंकि यह ख़ास साम्राज्यवाद विरोधी भावना से जुड़ी हुयी थी। जैसा कि राम अधार बतात हैं कि इस घटना की खुशी में त्यौहार मनाया गया था। वह बहुत रोचक तरीके से एक लोकगीत सुनाते हैं जिसमें यह बताया गया है कि जब कपड़ा लूट कर लोग घर पहुंचे तो औरतो ने उनका स्वागत किया।

"दुलहा भले लियैला कपड़ा के पोटरिया न
दुलहा भले लियैला चटकी चुनरिया न
कल है गुड़िया त्यौहार, करबे सोलहो सिंगार
चलके दुर्बासा पर खेलब हम कजरिया न

जब तो खबर दरोगा पाइन,

लै ले कर के तब गारद धाइन

किलहन में घर–घर के बा मोहरिया न

कौनो भागे अगवार कौनो भागे मेड़ै–दाड़

कौनो भागत बाटै जोन्हरी बजरिया न

कौनों बैठे पेड़ पे रोवै, कौनो पेड़ के ऊपर सोवै

कौनों गंगा जी से मांगत है अरजिया न

जब तो सबही का मन डोला

भागे कुंआडीह से भोला

छाये बा सावन के अंधियरिया न

चकबुद्धि बच गै रघुनाथ

कटका फंस गै भोलानाथ

सीधे जेहले के थामयीं डगरिया न

जैसे सूखे धामे ओस वैसे सूख गये भरोस

उनके बेटवा के भै जबसे गिरफ्तरिया न

जैसे चुचके लुकहा आम, वैसे चुचक गये जयराम

नाही छोड़त बाटै दारागंज कोठरिया न

सन् बयालिस का इजहार, कहते इसको राम अधार

जेके शहर–शहर में बहत है सयरिया न ।"[65]

राम अधार बताते हैं कि यह गीत सन् 42 में उन्होंने स्वयं लिखा था। निश्चित रूप से इसमें कवि की कल्पना भी शामिल है किन्तु जिस खूबसूरती से उन्होंने इसे देशकाल में स्थापित किया है इससे इसे ऐतिहासिक यथार्थ मिलता है। इससे सन् 42 के आन्दोलन की जनता में व्याप्ति का पता चलता है। और यह भी कि अब अंग्रेजों का यहां टिका रहना नामुमकिन है।

इस तरह सन् 42 में इलाहाबाद में राष्ट्रीय आन्दोलन अपने उरूज पर

पहुंचा। इसमें जनता की उग्र हिस्सेदारी ने आने वाले समय में अपनी संभावनाओं को उजागर किया। यह नेतृत्वविहीन स्वतः स्फूर्त आन्दोलन था जिसमें जनता की सहभागिता एक नव आयाम लेकर प्रस्तुत हुयी। पर इतना ही काफी नहीं था। अगर आन्दोलन को सही दिशा मिली होती तो यह बहुत आगे जाता ऐसा मानना है 70 वर्षीय पंडित मारूति[66] का । पंडित मारूति हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी से जुड़े और बाद में फारवर्ड ब्लॉक की ओर से आन्दोलन में हिस्सा लिया। सुभाषचन्द्र बोस के अनन्य अनुयायी और क्रांतिकारी विचारधारा के समर्थक पंडित मारूति नारायण राव को आज भी इस बात का अफसोस है कि 42 के आन्दोलन में इलाहाबाद बलिया से पीछे रह गया। पंडित मारूति के अनुसार वह स्वयं तार काटने, लाइन उखाड़ने और सरकारी वाहन आदि जलाने में सक्रिय थे। वह क्षोभ से बताते हैं कि तब ज़वाहरलाल नेहरू छूटकर इलाहाबाद पहुंचे तो उन्होंने वक्तव्य दिया कि "हमें यह बड़ी खुशी है कि इलाहाबाद रक्तरंजित नहीं हुआ।" उनकी शिकायत है कि नेहरू जी ने हम लोगों को लड़ने का ढंग नही बताया। बस हमें हवाई हमले से बचने की ट्रेनिंग दे गये थे।" वह कहते हैं कि "नेहरू जी से हमारी बहुत बातचीत होती थी। हमने उनसे कहा कि चाचा जी आपने इलाहाबाद की इज्ज़त बलिया के आगे गंवा दी। ..... बलिया की यह औकात कि इलाहाबाद निष्क्रिय रहे और बलिया शेरे बलिया हो जाये।"

यद्यपि यह उनका अतिउत्साह बोल रहा था। फिर भी सुभाष चन्द्रबोस के समर्थक होने के कारण वह इलाहाबाद एवं बलिया में प्रतिद्वन्द्विता कर रहे थे। वह आगे कहते हैं – "सुभाष बाबू ने हमें कांग्रेस का साथ देने का आदेश दिया था। अगर हमें आर्डर दिया होता तो हम लोग सशस्त्र क्राति कर सकते थे। यह बहुत ग़लत हुआ देश के लिये। अगर सशस्त्र क्रांति हुयी होती तो आज बड़ा सुख होता। हमको विरासत में बची ब्रिटिश हुकूमत की वाली सारी चीज़ें मिलीं।" पंडित मारूति का मानना है कि "इलाहाबाद में कुछ हुआ नहीं बस लालपद्मधर मारे गये। जगह–जगह तार काटे गये और चुपचाप लोग बन्द हो गये।"[67]

यह तो थी एक धारा विशेष से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति की शिकायत।

किन्तु पुन्नूखां जो एकदम निरक्षर हैं और कर्नलगंज में रहते हैं। आज़ाद भारत में आजीवन बेरोजगार रहे पुन्नूखां को राष्ट्रीय आन्दोलन से बहुत शिकायत है। अंग्रेजो के समय ग्यारहसाल उन्होंने बैरे की नौकरी की। किन्तु आज़ादी के बाद उन्हें कोई नौकरी नहीं मिली – इस पर वह ख़फा है । सन् 42 के आन्दोलन की चर्चा करते हुए वह एकदम लापरवाही से कहते हैं– "अरे यही सौ–दो सौ आदमी का जुलूस रहा होगा और क्या। सौ पचास तड़के उधम चौकड़ी ज़्यादा करते थे। कहीं रास्ता बन्द कर रहे हैं, कहीं आग लगा रहे हैं कहीं कुछ कर रहे हैं यही सब होता था। और क्या, यही आन्दोलन था। ...... और उस वक्त समझ में यही आता था कि कुछ होय हवायगा नहीं और न ही हुआ था, ये तो एक बैग ऐसी चीज़ पैदा हो गई कि वो लोग हटकर खुद चले गये । न जंग किया न कुछ किया, खुद ही चले गये।[68] जबकि लोग बताते हैं कि कटरा बाज़ार में जनता के दोनों तरफ से रास्ता बन्द कर दिया था जिससे उसके कोई अंग्रेज न घुस सके।

इस तरह 42 के आन्दोलन कांग्रेस के फरमान के साथ शुरू होकर '42 की लूट' में तब्दील हो गया। जनता की हिस्सेदारी इस आन्दोलन में सर्वाधिक हुयी। जनता ने यह साबित कर दिया था कि अब अंग्रेजों का रहना नामुमकिन है। 1854 के विद्रोह के पश्चात् सन 1942 में ही साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष इतनी तीव्रता को प्राप्त कर पाया। सन 42 का आन्दोलन ब्रिटिश विरोधी जुझारूपन की दृष्टि से कांग्रेस के नेतृत्व वाले सभी पिछले आन्दोलन को पीछे छोड़ गया था। वहीं 1857 की भांति ब्रिटिश विरोधी भावनाओं ने कदाचित आतरिक वर्गीय तनावों और सामाजिक जुझारूपन को भी कम कर दिया था।[69]

आन्दोलन की तेजी के साथ दमनचक्र भी तीव्र हुआ। सन् 1942–44 के मध्य इलाहाबाद में लगभग 2,179 व्यक्ति गिरफ्तार हुए।[70] आन्दोलन के अन्त तक अंग्रेज निश्चित रूप से भारतीय राष्ट्रवाद के विरूद्ध अपने तात्कालिक सम्पूर्ण टकराव में सफल रहे थे और युद्ध के शेष ढाई वर्ष देश के भीतर बिना किसी गम्भीर राजनीतिक चुनौती के गुजर गये। तथापि यह 'विजय' अस्पष्ट थी और इसकी गम्भीर

सीमाये थीं। यह तभी सम्भव हुआ जब युद्धकालीन स्थितियों के कारण निर्मम बलप्रयोग किया जा सका था। अंग्रेज पुनः ऐसे संघर्ष का खतरा उठाने के लिये तैयार नहीं थे और 1945 में उनकी ओर से समझौते का प्रयास नई लेबर सरकार का उपहार नहीं था– यह बात वेवल के रवैये से स्पष्ट लक्षित होती है।[71]

भारत छोड़ो आन्दोलन के पश्चात् ही अंग्रेज सत्ता हस्तांतरण के लिये तैयारी करने लगे थे। जेल से छूटने के बाद कांग्रेसी नेता भी समझौते के लिये आगे बढ़े और सत्ता संभालने की तैयारी करने लगे थे। 42 के आन्दोलन की तीव्रता ने जनता की ममता को सिद्ध किया था। अंग्रेज तथा कांग्रेस दोनों ही किसी व्यापक जनान्दोलन को झेलने की स्थिति में नहीं थे। जनान्दोलनों ने भारत में ब्रिटिश राज का चलते रहना असम्भव कर दिया था। जनान्दोलनों में होने वाली ज़्यादतियों के भय ने कांग्रेसी नेताओं को बातचीत और समझौते की नीति पर ही चिपके रहने और अन्ततः स्वतन्त्रता की अनिवार्य कीमत के रूप में विभाजन को स्वीकार करने के लिये बाध्य कर दिया। इसी साम्राज्यवाद विरोधी जनआन्दोलन की सीमाओं के कारण ही सन् 1947 में विभाजित भारत का समझौता सम्भव हुआ।[72]

42 के आन्दोलन के बाद इलाहाबाद लगभग खामोश रहा। यद्यपि जनता की आवाज पूरी तरह खामोश नहीं हुयी थी। मैन्सर्ग ने ट्रांसफर द्वारा पावर में यह लिखा है कि फरवरी (1946) के मध्य में इलाहाबाद में 80000 लोगों ने प्रदर्शन किया और राशनकेन्द्रों पर आक्रमण किया।[73] हलांकि मौखिक साक्ष्यों में इस घटना का जिक्र एक बार भी नहीं हुआ। फिर भी यह तय था कि अब जनता की आवाज़ को दबाया नहीं जा सकता। यह बात अब निश्चित हो गई थी कि जनता जब आज़ादी से कम कुछ भी नहीं चाहती थी। अभी दो साल पहले जो शासक दमनास्त्र का प्रयोग कर रहा था, अब जाने की तैयारी करने लगा। अंग्रेजों की देश के दक्षिणपंथी नेतृत्व से सत्ताहस्तांतरण के लिये समझौता वार्तायें चलने लगीं। अब जनता की भूमिका समाप्त हो चुकी थी। अब वह आने वाली घटनाओं की मूकदर्शक बनी देखती रही। सत्ता हस्तांतरण गोरे साहबों से काले साहबों के हाथ हो गया। प्रशासन फौज पुलिस सब

कुछ पूर्ववत् रहा। अब स्वराज्य 'राज' करने लगा।

इस तरह 20 –30 एवं 40 के दशकों का अगर मूल्यांकन किया जाये तो यह उभरकर सामने आता है कि 20 से 47 तक समय में इलाहाबाद में राष्ट्रीय आन्दोलन उतर चढ़ाव की ढेरों मंजिले तय करता हुआ आज़ादी तक पहुंचा। इस दौर का अगर इस ग्राफ बनायें तो ऐसा कभी नहीं हुआ कि वह ग्राफ लगातार ऊंचा उठता जाये। उबाल का बिन्दु हर बार ऊपर चढ़ता और फिर एक दम नीचे चला जाता। कभी एसा नहीं हुआ कि उफान लगातार बढ़ता गया हो और एक दिन बांध पार कर गया हो। यही पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन की हकीकत भी है। समूचा राष्ट्रीय आन्दोलन जन आन्दोलनो की छोटी बड़ी उताल तरंगो का ही परिणाम था। जिसके कारण अंग्रेजों का यहां टिकना नामुमकिन हो गया था। फिर 15 अगस्त सन् 1947 को भारत को स्वाधीनता मिली। लोगों के लिये आज़ादी का वह दिन बहुत बड़ा और अविस्मरणीय है। पूरे शहर में लोगों ने आज़ादी की खुशी मनाई घर–घर में तिरंगे लगाने गये प्रभात फेरी व जुलूस निकाला गया। लोगों ने एक दूसरे को मिठाई बाटीं। जिसकी जितनी हैसियत थी उस हिसाब से आज़ादी का जश्न मनाया गया। तिरंगी बरफियां बनाई गई थी।[74] 16 या 17 अगस्त को इलाहाबाद के पुरुषोत्तम दास टंडन पार्क में एक बड़ी मीटिंग हुयी जिसमें पंडित नेहरू, तारा पंडित (नयनतारा सहगल) और कैप्टन शहनवाज़ ने तकरीरे की।[75] फिर भी विभाजन की कसक लोगों के मन में थी। आज़ादी के वक्त शहर का एक पूरा समुदाय दहशत मे जी रहा था। विभाजन की त्रासदी लोगों के घरों एव मनो को विस्थापित कर रही थी। इलाहाबाद के सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि यहा विभाजन के समय कोई दंगा नहीं हुआ था। किन्तु उस वक्त "आम मुसलमानों के होश गुम थे। वो किसी और बिन्दु पर सोच ही नहीं पाते थे। उनके सामने दो ही बातें थीं कि वह हिन्दुस्तान में रहें या पाकिस्तान चला जाये। यहां पर गलिबन आम मुसलमानों को यह अन्दाजा ही नहीं था कि इतनी बड़ी उठापठक हो जायेगी।"[76] 76 वर्षीय ज़ियाउलहक के लिये भी आज़ादी एक विखण्डित खुशी लेकर आयी थी। उनका कहना है – "एक मुसलमान परिवार में पैदा होने के कारण मेरे सभी रिश्तेदार

माता–पिता मेरी बहन और एकमात्र भाई वह सभी पाकिस्तान में हैं। इसलिये हमारे लिये 15 अगस्त 1947 एक अविभाज्य खुशी का कारण नहीं है।"[77]

अब्दुल वाहिद साहब[78] बताते हैं कि उस वक्त मुसमानों के लिये बड़ा कठिन समय था। पूरे चौक में उनका सामान बिखरा पड़ा रहता था बेचने के लिये । वाहिद साबह बताते हैं उस वक्त जब दशहरा हुआ तो उस 'सीन' की चौकी निकाली गई । (इलाहाबाद में दशहरे में चौकियां निकालने का प्रचलन है। जिसमें धार्मिक दृश्यों के साथ–साथ सम–सामयिक विषयों पर आधारित दृश्यों का भी अंकन होता है। डॉ. चन्द्र पंत[79] बताती है कि राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में उससे सम्बन्धित चौकियां भी निकाली जाती थीं। वाहिद साहब बेहद अफसोस के साथ बताते हैं कि उस समय ज़रा सा कुछ होय तो लोग 'पाकिस्तानी है पाकिस्तानी है' कहके आफत मचा देते थे। अकील रिजवी[80] बताते हैं –

" हिन्दुस्तान–पाकिस्तान का स्थानान्तरण शुरू हो चुका था। बहुत से लोग जो पहले से ज़ेहन (मन) बना चुके थे कि पाकिस्तान चले जायेंगे वह पहले ही हफ्ते में पाकिस्तान रवाना हो गये, जब गाडियां एक हफ्ते के लिये पाकिस्तान और हिन्दुस्तान देखने के लिये मुफ्त में चल रही थी उस वक्त किसी के दिमाग में मारकाट का तसव्वुर नहीं था। लोगो का जाना शुरू हो गया था। रोज़ मालूम होता कि आज फलां खानदान पाकिस्तान जा रहा है कल फलां। लोग रोज़ अपने अज़ीज़ों को गाडियों में रूख़सत करने जाते। कुछ ही दिनों में पंजाब, सरहद और बिहार से कत्ले आम की खबरें आनी शुरू हुई। और तकसीम ए हिन्द धीरे–धीरे एक भयानक ख़्वाब बनने लगी।

इलाहाबाद के स्टेशन पर पाकिस्तान जाने वालों का एक हुजूम रहता । पहले तो कोई पाबन्दी न थी, फिर पाकिस्तान जाने वालों की तलाशियां ली जाने लगी। बहाना यह था कि यह लोग असलहे लेकर जाते हैं और रास्तें में फसाद करके असलहे इस्तेमाल करते हैं। तलाशी की शुरूआत कांग्रेसी वालेन्टियरों ने की। जाने वालों को जली कटी बातें भी सुनाते और झगड़ा भी करते। जाने वाले भी जवाब देते। फिर यह कि जाने वाले सब तरह का गृहस्थी का सामान ले जाते, चिमटा–तवा के

साथ बावर्ची खाने में इस्तेमाल होने वाली छुरी चाकू भी उनके पास होते, जिसे कांग्रेस के वालंटियर असलहे और हथियार कह कर, उनसे पहले तो छीन लेते फिर कुछ दिनों बाद यही छुरी चाकू गिरफ्तारी के लिये असलहे बन गये। ग़रज़ कि इलाहाबाद रात में एक मैदाने हश्र (कयामत का मैदान) होता। एक ख़ानदान अपना राशनकार्ड और कुछ आरा, दाल–चावल एक थैले में रखवा कर लिये जा रहा था, शायद रास्ते के लिये। वालेटियरों ने उसे भी छीनना शुरू किया कि हमारे मुल्क का आटा–दाल–चावल पाकिस्तान क्यों लिये जा रहे हो ? उन्होंने कहा कि रास्ते में खाने के लिये, नगर वालंटियर्स ने एक न सुनी और सब छीन लिया। मगर अभी तक रूपया पैसा नहीं छीनते थे। वालन्टियरों की ज्यादतियों से लोग परीशान हो गये। आये दिन स्टेशन पर झगड़ा होता, अब हुकूमत ने वालेन्टियर हटा कर पुलिस लगा दी। पुलिस ने सामान तो नहीं छीना मगर एक दूसरी सूरत कुछ दिनों बाद रूनुमा हुयी। पुलिस के सिपाही जाने वालों के सामान में अपने कारतूस रख देते और फिर जाने वालों को पकड़ कर उनसे रूपये वसूल करते। आखिर मजिस्ट्रेट तैनात किये गये तब जाकर स्टेशन से यह सूरतें खत्म हुयी। रास्ते में गाड़ियों में झगड़े और झड़पें होने लगी। मुस्लिम मुसाफिरों को चलती गाड़ी में डब्बों से फेंक दिया जाता। जब यह सूरतें बहुत बढ़ी तो हुकूमत ने एक नई सूरत अख़्तियार की। हर ट्रेन में आखिर में दो तीन डिब्बे अलग से लगा दिये जाते जिस पर लिखा होता "सिर्फ मुसलमानों के लिये" और यह एबारत अंग्रेजी में हुआ करती। इस सूरत को देखकर इलाहाबाद के एक शायर 'मुजफ़्फर शाहजहां पुरी' ने एक नज़्म 'शऊरे आजादी' लिखी जिसमें एक मिसरा था–

अब रेल भी हिन्दू होती है, डिब्बे भी मुसलमा होते है

ऐ दोस्त अभी आराम न कर है ख़ाम शऊरे आज़ादी ।"[81]

भारत पाकिस्तान का बंटवारा भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की सबसे बड़ी असफलता है। हज़ारों लोग आज भी उस खण्डित आज़ादी की खुशी और दुःख लेकर जी रहे हैं। जिनके परिवार पाकिस्तान चले गये हैं। देश बटा, परिवार बटा, मन बटा आज़ादी भी बंट गयी। अपना अतीत–अपनी जड़ें छोड़ कर जाने वाले कैसे जी रहे होंगे

यह तो मौखिक इतिहास के अध्ययन का अलग से विषय है। मशूद आग़ा[82] बताते हैं कि आज भी जब पाकिस्तान से उनके रिश्तेदार आते हैं तो एक-एक पुरानी चीज़ों को छू-छू कर देखते हैं। बाव की तरह एक-एक गली में घमूते हैं – मानो अपने अतीत का हर वह हिस्सा स्पर्श करके समेटना चाहते हैं जो उन्होंने जिया था।

यही सब चीज़ें हैं जो भावनात्मक स्तर पर राष्ट्रीय आन्दोलन प्राप्त हुयी आज़ादी पर प्रश्न उठाती हैं। फिर भी जियाउल्हक[83] किसी भी कीमत पर यह मानने को तैयार नहीं हैं कि देश आज़ाद नहीं हुआ। उनका कहना है कि मुल्क की आज़ादी एक हकीकत है तथा जहां तक व्यक्ति की आज़ादी का सवाल है उसके लिये बहुत संघर्ष करना अभी बाकी है। अंग्रेजों की उपस्थिति गुलामी के दौर का बहुत बड़ा यथार्थ है। इसलिये वह 15 अगस्त को बहुत बड़ा दिन मानते हैं।

साक्षात्कारों से यह स्पष्ट होता है कि तकरीबन सारे आम लोगों के पास आज़ाद भारत का कोई तसव्वुर नहीं था। न ही उनके मन में आज़ादी की कोई अवधारणा थी। सामान्य लोगों के लिये सुराज तथा आज़ादी का मतलब था जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति। यानी रोटी कपड़ा और मकान की बुनियादी आवश्यकता पूरी हो।

बतावा का-का बतिया होइहें
जब सुरजिया होइहैं हो
रुपया के मन भर गेंहू
चाऊर आना बिकाई
लड़के माखन-मिस्री खइहें
जब सुरजिया होइहै न।"[84]

साथ ही 1947 के पहले आज़ादी का मतलब यही था कि अंग्रेज़ों का राज खत्म हो। उर्दू के विख्यात आलोचक शम्सुर्रहमान फारूकी 1947 में 12 वर्ष के थे। उनके अनुसार प्यासे को पानी चाहिये भूखे को भोजन, इसके बाद ही और चीज़े। उस वक्त राजनीतिक आज़ादी चाहिये। फारूकी का मानना है कि इस देश में किसी को भी

सांस्कृतिक आज़ादी नहीं मिली। कांग्रेस के कार्यकर्त्ता रह चुके गया प्रसाद निगम[85] का मानना हैं कि आज़ादी कुछ निश्चित लोगों को ही मिली। आम जनता बेवकूफ बनी। बेनी माधव गुप्ता[86] के अनुसार आज़ादी के नशे में हम चूर हो गये हैं। आज़ादी का सही मतलब तभी हे जब सही मायनों में हम दरिद्र नारायण को उनके कष्टों से मुक्ति दिला सकें। वरना हमारी यह आज़ादी अधूरी होगी। इस अधूरी आज़ादी का अहसास आज हर वह व्यक्ति कर रहा है जो आज़ादी की लड़ाई में संलग्न रहा है। सारे साक्षात्कार दुःखी स्वर से यह बताते हैं कि जिस आज़ादी की कल्पना उन्होंने की भी वह उन्हें नहीं मिली। जिस देश के लिये वह लड़े भी आज उसकी दुर्गति देखकर वह खुश नही है। आज़ादी की पचासवीं वर्षगांठ पर हमने लोगों से व्यापक साक्षात्कार लिये जिससे भी यह तथ्य पुष्ट होता है कि सन् 1947 में देश तो आज़ाद हुआ पर समाज नहीं। बहुत सचेत तौर पर आज़ादी की चाह करने वाले शायर फैज़ हम फैज़ को उसी वक्त आज़ादी में कमी लगी थी। तभी तो सुबहे आज़ादी वह कहते हैं–

ये दाग़–दाग़ उजाला, ये शब गजीदा सहर
वो इन्तिज़ार था जिसका, ये वो सहर तो नहीं
ये वो सहर तो नहीं जिसको आरजू लेकर
चले थे पार के मिल जायेगी कहीं न कहीं
फलक के दश्त में तारों की आखिरी मंज़िल
कहीं तो होगा शबे सुस्त मौज का साहिल
कहीं तो जाके रूकेगा सफीनए ग़म–ए–दिल
जवां लहू की पुर असरार शाहशरों से
चले जो यार तो दामन पे कितने हाथ पड़े
दयारे हुस्न की बे–सब्र ख़्वाबगाहों से
पुकारती रही बाहें बदन बुलाते रहे
बहुत अजीज़ थी लेकिन रूखे़ सहर की लगन
बहुत करीं था हसीनाने नूर का दामन

सुबुक–सुबुक थी तमन्ना दबी–दबी थी थकन

सुना है हो भी चुका है विसारये मंजिलो गाम

बदल चुका है बहुत अहले दर्द का दस्तूर

निशाते–वहल हलालो अज़ाबेहिज्रे–हराम

जिगर की आग, नजा की उमग, दिल की जलन

किसी पे चारः ए हिज्रा का कुछ असर ही नहीं

कहां से आयी निगारे सबा किधर को गई

अभी चरागे–सरे रह को कुछ ख़बर ही नहीं

अभी गरानी–ए–शब मे कमी नहीं आयी

चले चलो कि वह मंज़िल अभी नहीं आई।[87]

सन्दर्भ सूची

1. उत्तिष्ठ, जागृत, प्राप्य व राज्य बोधत : प्रभात फेरी, ग्राम सेवा संघ का तृतीय पत्रक –प्रतिबन्धित साहित्य माइक्रोफिल्म ACC No- 1848 नेहरू मेमोरियल संग्रहालय एवं पुस्तकालय, दिल्ली
2. सुनीति कुमार घोष 'इन्डिया एण्ड द राज' 1919–47 पृष्ठ 1
3. सी. ए. बेली. 'लोकल रूट्स ऑफ इन्डियन पॉलिटिक्स इलाहाबाद' पृष्ठ 225
4. राम विलासशर्मा 'स्वतन्त्रता संग्राम के बदलते परिप्रेक्ष्य – हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय पृष्ठ 19
5. बेली : पूर्वोक्त
6. विशम्भरनाथ पाण्डेय : 'रिट्रासपेक्ट एण्ड प्रास्पेक्ट' पृष्ठ 70
7. जवाहर लाल नेहरू : एन आटोबायोग्राफी पृष्ठ 45
8. राम विलास शर्मा : पूर्वोक्त, पृष्ठ 19
9. जवाहरलाल नेहरू : पूर्वोक्त, पृष्ठ 46
10. रामविलास शर्मा : पूर्वोक्त, 20
11. प्रतिबन्धित साहित्य : माइक्रोफिल्म ACC No 1848 NMML
12. रामविलास शर्मा : पूर्वोक्त
13. बेली : पूर्वोक्त पृष्ठ 269–70
14. बेनीमाधव गुप्ता : व्यक्तिगत साक्षात्कार, मौखिक इतिहास श्रृंखला कैसेट सं. 19 तथा उनके द्वारा हस्तलिखित अप्रकाशित संस्मरण द्वारा,

15. सीताराम निषाद : साक्षात्कार मौखिक इतिहास श्रृंखला कैसेट सं. M12 तथा उनकी जीवन कथा 'सीताराम की रामकहानी' प्रकाशक जनसेवा आश्रम पृष्ठ 21

16. जुल्फेकारूल्लाह : साक्षात्कार कैसेट सं. 15

17. विशम्भरनाथ पाण्डेय : पूर्वोक्त, पृष्ठ 30

18. जवाहरलाल नेहरू : पूर्वोक्त पृष्ठ 67

19. विश्वनाथ लाहिरी : साक्षात्कार कैसेट सं. 15 एव 16

20. एम. एल. भार्गव : 'हंड्रेड इयर्स ऑफ इलाहाबाद यूनिवर्सिटी' पृष्ठ 205–207

21. ज़ियाउल्हक, हरिश्चन्द्र सक्सेना और प्रोफेसर आशाराम के साक्षात्कारों के आधार पर । यह लोग इलाहाबाद में गुप्त कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे। हरिश्चन्द्र सक्सेना तथा आशाराम ने मुख्यतः छात्रों के बीच में काम किया था।

22. शचीन्द्र नाथ सान्याल : 'बन्दी जीवन' पृष्ठ 25.–53

23. जवाहर लाल नेहरू : पूर्वोक्त पृष्ठ 81

24. शालिग्राम श्रीवास्तव : प्रयाग प्रदीप पृष्ठ 63

25. सुमित सरकार : 'आधुनिक भारत' पृष्ठ 262

26. पूर्वोक्त, : पृष्ठ 200

27. ज्ञानेन्द्र पाण्डेय : 'एसेंडेन्सी ऑफ कांग्रेस इन यू.पी. पृष्ठ 53–54

28. रामविलास शर्मा : पूर्वोक्त, पृष्ठ 26

29. विशम्भर नाथ पाण्डेय : पूर्वोक्त, पृष्ठ 31

30. रामादेवी, : साक्षात्कार, मौखिक इतिहास श्रृंखला, कैसेट सें 17

31. प्रतिबन्धित साहित्य : पूर्वोक्त

32. ज़ियाउल्हक : साक्षात्कार, कैसेट सं. M 13 एवं M14

33. सीताराम निषाद . साक्षात्कार कैसेट सं. M12

34. सरयू प्रसाद . साक्षात्कार, कैसेट सं. 18

35. पूर्वोक्त

36. पूर्वोक्त

37. ठाकुर प्रसाद सिंह . स्वतन्त्रता सग्राम के सैनिक, पृष्ठ 12

38. बी. एन. पाण्डेय . पूर्वोक्त, पृष्ठ 31

39 रामविलास शर्मा . पूर्वोक्त, पृष्ठ 29

4.. सुमित सरकार . पूर्वोक्त पृष्ठ 293

41. पूर्वोक्त : पृष्ठ 330

42. श्रीमती कांतिदेवी . साक्षात्कार कैसेट सं. 13. कांतिदेवी से बातचीत हमने इलाहाबाद में माघमेला में लगने वाले स्वतन्त्रता संग्राम शिविर में कार्य करने के दौरान की।

43. बी.एन. पाण्डेय . पूर्वोक्त पृष्ठ 32

44. सुनीति कुमार घोष : पूर्वोक्त पृष्ठ 216

45. सुमित सरकार : पूर्वोक्त पृष्ठ 435

46. पी. एन. चोपड़ा . 'क्विट इण्डिया मूवमेंट', ब्रिटिश सीक्रेट डाक्यूमेंट पृष्ठ 3

47. सुमित सरकार . पूर्वोक्त, पृष्ठ 435

48. पूर्वोक्त . पृष्ठ 441

49. अयोध्या सिंह . भारत का मुक्तिसंग्राम – पृष्ठ 716

50. विपिनचन्द्र : भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष – पृष्ठ 430

51. आर. एल. शुक्ल (सं.) . आधुनिक भारत का इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृष्ठ 587

52. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर इलाहाबाद 1966, और विभिन्न लोगों से लिये गये साक्षात्कार के आधार पर

53. ठाकुर प्रसाद सिंह : पूर्वोक्त पृष्ठ 129–30

54. हचिंस : 'स्पान्टेनियस रिवाल्यूशन' पृष्ठ 278

55. ठाकुरप्रसाद सिंह पूर्वोक्त पृष्ठ 130 एवं साक्षात्कारों के आधार पर

56. उमाशंकर सिंह : साक्षात्कार कैसेट स. M4

57. कांति देवी : पूर्वोक्त कैसेट सं. M13

58. विपिन बिहारी : साक्षात्कार, कैसेट सं. 15

59. जगदीशनारायण दूबे : साक्षात्कार – कैसेट सं 14

60. ठाकुर प्रसाद सिंह : पूर्वोक्त पृष्ठ 13.–31

61. पूर्वोक्त

62. जगदीश नारायण दूबे : पूर्वोक्त तथा ठाकुर प्रसाद सिंह पूर्वोक्त

63. राम अधार कवि : साक्षात्कार कैसेट सं. M2

64. बंसीलाल : साक्षात्कार कैसेट सं. M10

65. राम अधार कवि : पूर्वोक्त

66. पं. मारूति नरायण राव : साक्षात्कार – कैसेट सं0 8 एवं 9

67. पूर्वोक्त

68. पुन्नू खा : साक्षात्कार – कैसेट सं. M11

69 सुमित सरकार : पूर्वोक्त पृष्ठ 445

70. डिस्टिक्ट गजेटियर : इलाहाबाद 1966 पृष्ठ 65 .

71. सुमित सरकार : पूर्वोक्त पृष्ठ 951–52

72. पूर्वोक्त : पृष्ठ 464

73. मैन्सर्ग : ट्रासंफर ऑफ पॉवर, खण्ड 6, पृष्ठ 1000

74. साक्षात्कारों के आधार पर

75 सै मो. अकील रिजवी : 'इलाहाबाद की संस्कृति और शायरी' पृष्ठ 59

76. सुहैल अहमद ज़ैदी : साक्षात्कार कैसेट सं. M4

77. जियाउल्हक : पूर्वोक्त

78. अब्दुल वाहिद : व्यक्तिगत बातचीत के आधार पर। 68 वर्षीय श्री अब्दुल वाहिद की पैदाइश 1930 की है। वह इलाहाबाद विश्वविद्यालय में सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष थे। सम्प्रति वे इलाहाबाद संग्रहालय के पुस्तकालय में कार्यरत हैं।

79. डा. चन्द्रापंत से बातचीत के आधार पर डां पंत इलाहाबाद विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग की प्राचार्या थीं (अब अवकाश प्राप्त)

80. प्रो. अकील रिजवी : इ.वि.वि. के उर्दू विभाग के पूर्व अध्यक्ष, साक्षात्कार कैसेट सं. 23

81. अकीलरिजवी : इलाहाबाद की संस्कृति एवं शायरी पृष्ठ 59–62

82. मशूद आग़ा : साक्षात्कार कैसेट सं. 7

83. ज़ियाउल्हक : पूर्वोक्त

84. बेनीमाधव गुप्त : पूर्वोक्त

85. गया प्रसाद निगम : साक्षात्कार कैसेट संख्या M11

86. बेनीमाधव गुप्ता : पूर्वोक्त

87. फैज़अहमद फैज : सारे सुखन हमारे राजकमल प्रकाशन, 1997 पृष्ठ 164–64

VI

मौखिक साक्ष्यों में परिलक्षित जनभूमिका का स्वरूप : एक मूल्यांकन

भारत के नौजवानों चलो खोलकर सीना
अंग्रेजी शासन जायेगा, भारत का दिन फिर आयेगा
यह राष्ट्र स्वशासन अंग्रेजी का होगा मुश्किल जीना
भारत के नौजवानों चलो खोलकर सीना
यह देश गुलाम हमारा है, यह भारत वर्ष मम प्यारा है
जहां विन्ध्य हिमालय द्राविड़ गंगा, उत्कल देश हमारा है
इन मार भगा लो अंग्रेजन का, कर लो काम नवीना
भारत के नौजवानों चलो खोल कर सीना
ऐ कारागार हमारे तुम उठ जाओं भिनसारै तुम
जितने कैदी आ जाओ, भारत का प्यारा बन जाओ
यह भारत मां पुकार रही तुमको तो सदा जुहार रही
अंग्रेजी शासन भागेगा, दिन भारत वाला जागेगा
यह चम–चम चमके देश हमारा जैसे यार नगीना
भारत के नौजवानों चलो खोल कर सीना [1]

एक आज़ाद सुबह के लिये अपना सब कुछ छोड़कर शामिल हुए थे लोग। एक लम्बे संघर्ष के बाद मिली थी आज़ादी। राष्ट्रीय आन्दोलन में जनोद्भव के युग के आगमन के साथ ही इलाहाबाद की आम जनता भी इसमें शामिल हुयी। उन्हें न सिर्फ गुलामी का अहसास था बल्कि आज़ादी उनकी भावनात्मक ज़रूरत भी बन गई थी। असंख्य लोग इस ज़रूरत के अहसास के साथ स्वतन्त्रता संघर्ष के रणक्षेत्र में उतरे। आज़ादी का ख़्वाब लोकगीतों में उतर चुका था।

" सब सखिय मिलि दीवाली मनावई
हम त दीवाली तबै मनाइब जब मिलि जइहैं सुराज।"[2]

जन–मानस मे राष्ट्रीय आन्दोलन एवं उसके नेताओ के प्रति एक सम्मान की भावना जागरित हो चुकी थी। तभी लोकगीतों की चाहत बनी –

"सइया खद्दर की चुनरिया एक रगवाई हो देतै न
ऐसा रंग लगाना जिससे कभी न हो बरबाद
समलिया कभी न हो बरबाद
अचरै में सुखदेव भगतसिंह, राजगुरू आज़ाद
उन्हें लटकाई हो देतै न
वामैं मदन लाल गोपाल जूझि–जुझवाई हो देतै न
करते है आजाद देश को वीर जवाहर लाल
समलिया वीर जवाहर लाल
सुभाष बोस भी होवैं, दिखाते हुए कमाल
गुम्म करवाई हो देतै न
सइया खद्दर के चुनरिया एक रंगवाई हो देतै न
जिसकी कड़ी हुकूमत की हो बहै रक्त की धार
जलियां वाला बाग छपाना, डायर साहब हत्यार
गोली–चलवाय हो देतै न " [3]

इस तरह अपने आंचल मे इतिहास अंकित करवाने की जनता की यह चाहत महत्वपूर्ण संकेत करती है। कोई भी आकांक्षा जब लोकगीतों में उतर आती है तो वह जनता की सामूहिक जनाकांक्षा बन जाती है। आज़ादी की भावना भी लोकगीतों में उतर चुकी थी। खद्दर देशभक्ति का प्रतीक बन चुका था भगत सिंह सुखदेव तथा राजगुरू तथा आजाद जैसे क्रांतिकारी उनके लिये प्रेरणा के स्रोत थे। जवाहर लाल से लेकर सुभाषचन्द्र बोस तक उनके आदर्श नेता थे।

जनता की यह सामूहिक आकांक्षा चन्द दिनो के संघर्ष का परिणाम नहीं था। यह प्रतिफल है उस पहले प्रतिरोध का जो अंग्रेजों के हिन्दुस्तान पर कदम रखते हुए हुआ था। उस प्रतिरोध की उसी सातत्यता की प्रचण्ड अभिव्यक्ति हुयी थी 1857

के विद्रोह में और फिर धीरे–धीरे यह व्याप्ति अखिल भारतीय स्तर पर जनमानस में हो गई। अर्थात् जो आज़ादी 1947 मे मिली वह इतनी आसान नही थी। उसके पीछे दो सौ साल के अनवरत प्रतिरोध का इतिहास था। 1858 के पश्चात् पूरे देश में गुलामी समान रूप से तारी हो गई। गुलामी की इस व्याप्ति की अनिवार्य परिणति मुक्ति की आकांक्षा में होनी थी। गुलामी की वस्तुगतता ने आर्थिक एवं आत्मिक दोनो स्तर पर लोगो को प्रभावित किया। विदेशी शासन के ख़िलाफ उठता स्वर– अंग्रेजो की निर्मम उपस्थिति एवं राष्ट्रीय–अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति ने मुक्ति की चाह लोगों में जगाई। मुक्ति का यह अहसास व्यक्तियो से होता हुआ संगठनों में प्रस्फुटित हुआ और फिर समाज के स्तर पर जनता में व्याप्त हो गया। प्रतिरोधों की अनवरत श्रृंखलाओं में कोई केन्द्रीय सम्पर्क नहीं था फिर भी इन प्रतिरोधों ने एक अन्तर्श्रृंखला स्थापित की। इन स्थितियों में धीरे–धीरे स्वतन्त्रता की अनिवार्यता लोगों को महसूस होने लगी। विभिन्न तरीकों से लोगों ने गुलामी का अहसास किया तथा उससे मुक्ति के संघर्ष में चेतन एवं अचेतन स्तर पर हिस्सा लिया। जैसा कि राम अधार कवि गाकर सुनाते हैं।

"प्रथम यहां अंग्रेज तिजारत करने के हित आये थे

मौका पाकर भारत में फिर अपना रंग जमाये थे।

धन बल से परिपूर्ण हुए धोखे का वार चलाये थे

सारे भारत वासिन पर कठिन बाण बरसाये थे।[4]

यानी गुलामी का आर्थिक आधार लोगों के आत्म सम्मान से जुड़ने लगा। स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान, स्वतन्त्रता के विभिन्न आयाम कभी, लोकगीतो कभी कविता, कभी लेख कभी किसी आन्दोलन में अभिव्यक्त होते रहते थे। कभी गांधी कभी भगत सिंह, कभी निराला, कभी सुब्रमणियम भारती, नज़रूल इस्लाम, जोश, फिराक, प्रेमचन्द की रचनाओं, कभी बिरसा मुण्डा, कभी मणिपुर में ईश्वर सिंह के विद्रोहों में स्वतन्त्रता की व्यापक एवं स्थानीय चाहतों का आवेग उमड़ता था परन्तु सर्वव्यापी, शक्तिशाली और धूर्त विदेशी शासन के विरूद्ध राष्ट्रव्यापी एकजुटता की आवश्यकता के कारण अन्य अन्तर्विरोध या तो टाले जाते रहे या निहित स्वार्थों के कारण दबाये

जाते रहे। इसलिये 1947 तक स्वतन्त्रता के सभी आयामों को लेकर समझदारी विकसित नहीं हो पायी।

गांधी जी ने 1917 में स्वराज्य को गल्ती करने और उसे सुधारने की आज़ादी कहा था। 1930 में उन्होंने स्पष्ट किया था कि जब तक राष्ट्र के नाम पर काम करने वाले लोग स्वतन्त्रता की लालसा के पीछे उद्देश्य क्या है इसे सामने नहीं रखेंगे तो खतरा बना रहेगा कि लाखों लाख बेजुबान मेहनतकशों के किसी कामकाज की न रहे जिनके लिये इसकी मांग है और जिनको इसकी ज़रूरत है। परन्तु उनकी सबसे अधिक उद्धृत उक्ति है– अगस्त 1947 में आज़ाद देश में नीतिनिर्धारण और उसके कार्यान्वयन के सम्बन्ध में दिया गया गुरूमंत्र जिसे कभी नहीं स्वीकारा या माना गया "जब कभी संशय हो, अहम भारी पड़े तो मैं एक मंत्र देता हूं इसका प्रयोग करो – उस सबसे कमज़ोर व्यक्ति को याद करो जिसे कभी देखा हो और सोचो कि जो कदम उठाने जा रहे हो, वह उसके किसी काम का है या नहीं ? उससे उसे अपने जीवन और भाग्य पर नियंत्रण मिल जायेगा ? दूसरे शब्दों में क्या यह कदम भूखे और आत्मिक संन्दर्भ में तड़प रहे लाखों लाख लोगों के लिये स्वराज है या नहीं ।[5]

इस कसौटी पर रख कर देखें तो हम रेखांकित कर सकते हैं श्री राम अवतार माली[6] की ज़िन्दगी को। 80 वर्षीय श्री राम अवतार ने आज़ादी के पहले एवं बाद में आनन्द भवन में माली की नौकरी की। आनन्द भवन से रिटायर होने के बाद वह अपने पूरे सामान के साथ सड़क पर आ गये। अब वह आनन्द भवन से थोड़ी दूर स्थित कृष्णा कोचिग में दोनों वक्त की रोटी के लिये नौकरी कर रहे हैं। नौकरों के लिये बनी एक छोटी सी अंधेरी कोठरी में रहते हुए वह दोनों वक्त का खाना स्वयं बनाते हैं। कमरे के अधियारे से लड़ना एक 40 वाट का बल्व दिन के उजाले में भी ज़लता रहता है। अपनी झुर्रियों में इतिहास समेटे बेहद वृद्ध राम अवतार दुःख से कहते हैं– "कोई पूछने वाला नहीं है ग़रीब आदमी को। दुनिया में पेंशन मिल रही है लेकिन हम लोगों में से किसी को पेंशन नहीं मिल रही।"

नेहरू की कोट में लगने वाली गुलाब की कली (जो आज भी नेहरू की

तमाम पहचानों में से एक है) को बड़े जतन से खाद पानी देकर पोसते थे राम अवतार। वह बताते हैं

"हमारा काम यह था कि जब पंडित जी सुबह यहां आयें तो पांच कली हम रखे रहे। एक कली तो वो कोट में लगा लें और बाकी ग्लास में रखा रहे। जब कहीं से आवें पंडित जी तो लगा लें। गुलाब के और नरगिस के पंडित जी बड़े शौकीन थे।"

आज़ादी के बाद नेहरू को मिली दिल्ली की गद्दी और नेहरू के 'शौक' को पूरा करने में अहम भूमिका निभाने वाले राम अवतार माली को मिली पहले से भी अधिक अंधेरी कोठरी। आम आदमी और विशिष्ट आदमी के बीच का जो अन्तराल था उसे भरने का काम राष्ट्रीय आन्दोलन का संघर्ष और उसका परिणाम नहीं कर सका।

एक अन्य उदाहरण हैं इलाहाबाद के निकट झूंसी के रहने वाले लगभग 70 वर्षीय बंसीलाल। वह हरिजन हैं और एक–दम निरक्षर हैं। उन्होंने अपनी पूरी ज़िन्दगी मजदूरी करके काटी है। उनके पिता सुमेसर भी दैनिक भत्ते पर मज़दूरी करते थे। बंसीलाल कहते हैं मुल्क आज़ाद हुआ तो हरेक के लिये आज़ाद हुआ। ई तो ठेकेदारी चल रहा है। हरेक आदमी अगर एक काम पकड़े तो कोई किसी को रोटी की परेशानी नहीं है। जब कोई एक आदमी नौकरी भी कर रहा है कलक्टर भी हैं, वकालत भी कर रहा है– उसके यहां दुकान भी है– तमाम दुनिया के अनेक प्रकार के काम हैं तो मुल्क में कैसे ग़रीबों को हिस्सा मिलेगा। आप पढ़े–लिखे हैं तो आप पढ़ाई का काम करिये, जो अनपढ़ आदमी है वह बोझा ढोने का काम करे। एक आदमी एक काम करे तो ग़रीब आदमी को भी मौका मिलेगा।"[7]

बंसीलाल मानते हैं कि आज़ाद होना एक बड़ी बात है लेकिन इन नेताओं के चलते देश में ग़रीबों को बोझा ढोने तक का मौका नहीं मिलता। 80 वर्षीया राजिया बीबी कहती हैं–

"पहले लोग खुश थे, खुशहाल नही – आज लोग खुशहाल हैं खुश नहीं।"[8]

80 वर्षीया बी एक ऐसे परिवार से हैं जिसे सहेजना आता है – चीज़ें हो या यादें। वह अपने इस कथन का विश्लेषण करने में सक्षम नहीं। हमने समझा कि उनके ख्याल से

खुशी मन की चीज़ है और खुशहाली शरीर की, ख़ुशी मनः स्थिति की ओर इशारा करती हैं खुशहाली स्थितियों परिस्थितियों की ओर। पहले लोगों को आज जैसी सुख–सुविधायें नहीं थीं पर लोगों को चैन था। आज लोगों को आराम है पर लोग तनावग्रस्त हैं।[9]

इतिहास को परखने का एक तरीका यह भी हो सकता है कि हम यह देखें कि एक विशेष काल के सन्दर्भ में इतिहास व्यक्ति को कैसे गढ़ रहा था और व्यक्ति इतिहास को कैसे गति दे रहा था। साक्षात्कारों के आधार पर हम यह जान सकते हैं कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन ने भारत के अन्तिम व्यक्ति को कैसे विकसित किया। व्यक्ति, व्यक्तियों एवं समाज में राष्ट्रीय आन्दोलन की गतिविधियों के कारण कितना गुणात्मक परिवर्तन आया।

इतिहास का सरोकार अतीत में मानव समाज की पुनर्रचना करने और समय के साथ समाज में आने वाले बदलावों का निर्देश करने से होता है। मनुष्य जिस परिवेश में जीता है उसके सन्दर्भ में उसके इतिहास की पुनर्रचना करने के लिये इतिहासकार विगत सदियों से उपलब्ध साक्ष्यों का उपयोग करता है। .... मानव समाज के इतिहास का अध्ययन करने में इतिहासकार न केवल अतीत की पुनर्रचना करता है बल्कि वह समकालीन मानव की अवस्था की भी समीक्षा करता है। इनके अलावा कुछ इतिहास ऐसे भी है जो अतीत और वर्तमान के पारस्परिक सम्बन्ध पर ही नहीं रूक जाते बल्कि इससे बहुत आगे जाकर द्रष्टा की गम्भीर भूमिका अपनाने को तैयार रहते हैं।[10] उत्तर वैदिक काल मे पशुपालक पद्धति के गौण होने के साथ ही कृषि सामाजिक राजनीतिक अर्थव्यवस्था का प्रधान पहलू बनी। कृषि की नई पद्धति के फलस्वरूप अधिशेष का उत्पादन होना सम्भव हुआ जो ऐसे सामाजिक जीवन को सहारा दे सकता था जो प्रत्यक्ष रूप से खेतीबारी का काम नहीं करते थे। इसलिये स्वभावतः इसकाल में ब्राह्मण या राजन्य या क्षत्रिय इन दो वर्गो का वर्चस्व स्थापित हुआ। इन वर्गो ने समाज का बौद्धिक तथा राजनीतिक नेतृत्व अपने हाथों में ले लिया।[11] यह वर्चस्व न्यूनाधिक रूप से आज तक बना हुआ है। इस वर्चस्व ने राष्ट्रीय

आन्दोलन में भी अपनी प्रधान भूमिका निभाई। भारतीय समाज में स्थापित हुए इस वर्चस्व को आधार प्रदान कर रहा था हिन्दूवादी दर्शन। यह हिन्दूवादी दर्शन कालान्तर में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रतीकों में घुलमिल गया। हिन्दू दर्शन की आधारभूत परिकल्पना धर्म की थी। हिन्दू धर्म के समस्त प्राचीन साहित्य में यह मान्यता दिखाई देती है कि पारम्परिक तथा वैधानिक नियम के अर्थ में धर्म किसी अधिक मूलभूत तत्व का प्रतिबिम्ब मात्र है।

वह मूलभूत तत्व है वह चिरन्तन नियम जिससे समस्त मानवीय एवं मानवेतर अस्तित्व का आरोपण राष्ट्रीय आन्दोलन के तरीकों एवं नायकों में अन्त तक होता रहा। बिरसा मुण्डा, बाबा रामचन्द्र से लेकर गांधी जी तक में जनता में ईश्वर की छाया देखी और साथ हो लिये। स्वदेशी आन्दोलन में काली पूजा के साथ जिस जनान्दोलन का प्रारम्भ हुआ, उसकी कमज़ोरी अंग्रेजों ने पकड़ी और वहीं से शुरू हो गई धर्माधारित विभाजन की साजिश जिसकी अन्तिम परिणति बटंवारे में हुयी। हिन्दू धर्माधारित समाज व्यवस्था में आर्थिक राजनीतिक सामाजिक एवं बौद्धिक वर्चस्व जो सवर्णो के पास रहा वह मुग़लों के आने के बाद भी बना रहा। उस वर्चस्व पर सबसे पहले कुठाराघात अंग्रेजों के आने पर ही हुआ। अंग्रेजों द्वारा अर्थव्यवस्था अपने अधीन करने के बाद उनका राजनीतिक वर्चस्व भी जाता रहा। पूरे समाज पर एक तरह की औपनिवेशिक गुलामी तारी हो गई। ऐसे में हिन्दुस्तान में जो नया बौद्धिक वर्ग सामने आया उसका चरित्र दूसरा था। तथाकथित नवजागरण की जो सुगबुगाहट सुनाई दी उसकी भूमि दूसरी ही थी। मध्यकाल में इस देश की सामाजिक संरचना और बौद्धिक विश्वास पर सामंती समाज की वास्तविकता छायी रही। इस मध्यकालीन कलेवर में आमूल परिवर्तन की तलाश में हमें अंग्रेजों की भारत विजय की ओर ध्यान देना होगा, जिसके फलस्वरूप भारतीय समाज की औपनिवेशिक समाज के रूप में पुनर्गठित किया गया और जिसके साथ ही इस देश पर उन विचारों का प्रभाव पड़ने लगा जिनका प्रस्फुटन एक सर्वथा भिन्न वातावरण में अर्थात् यूरोप में हुआ था। 'भारतीय इतिहास में मनुष्य की अवधारणा' की चर्चा करते हुए इतिहासकार रविन्दर कुमार कहते हैं –

"विद्वानों की दृष्टि यह रही है कि बंगाली समाज सुधारक और धर्म सुधारक राजा राम मोहन राय के साथ भारत में मनुष्य की पारम्परिक परिकल्पना उभरने लगती है।"[12]

गुलामी के दौरान जो प्रबुद्ध वर्ग तैयार हो रहा था, वह एक नई चेतन भूमि की उपज था। उस पर प्रभाव था अग्रेजों द्वारा परिवर्तित आर्थिक राजनैतिक सांस्कृतिक आधार पर भारतीय इतिहास का नया बुद्धिजीवी मनुष्य तैयार हो रहा था। यह वही वर्ग था जिसने पुश्तनी रूप से भारतीय समाज का बौद्धिक नेतृत्व किया था। यह सुविधा सम्पन्न वर्ग पश्चिमी विचारों के सान्निध्य मे आया और एक नई तरह का बुद्धिजीविता पनपी। यद्यपि भारत के सन्दर्भ में उनकी यह बुद्धिजीविता पुनुरूत्थानवाद से ही जुड़ी और इसी क्रम मे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पनप रहा था। स्वतन्त्र भारत का वचा स्वरूप क्या होगा यह इस बात पर निर्भर था कि स्वतन्त्रता के ये जो संघर्ष खड़ा हो रहा था उसका चरित्र क्या था। वह कौन लोग थे जिन्होने इस भविष्य का नेतृत्व किया।

राष्ट्रीय आन्दोलन की इसी पृष्ठभूमि में आकार ले रहा था यहा के सामान्य जन का मन–मस्तिष्क। संघर्ष का दौर हमेशा जनता की चेतना को संवारता हैं। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में जनता की इस चेतना के संवरने का काम अनेक स्तरों पर हुआ। गुलामी की परिस्थितियां व्यक्ति को संघर्ष के लिये तैयार कर रही थीं। इसने नेतृत्व का भी योगदान है। एक अखिल भारतीय स्तर पर नेतृत्व की गतिविधिया भी जनता को चेतना से लैस कर रही थीं। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन जो जनता की स्मृतियो में है वह परिचायक है इस बात का कि यह इतिहास जिसमे व्यक्ति उपस्थित था, उससे वह कितना प्रभावित हुआ। उसने अवधारणा के स्तर पर मुक्ति आन्दोलन को कितना आत्मसात किया तथा मुक्ति आन्दोलन ने उसे कैसे प्रभावित किया। राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष के दौरान यहां का व्यक्ति कैसे निर्मित हो रहा था। इसकी तलाश के क्रम में हम विशिष्ट से सामान्य की ओर जाने की पद्धति अपनायेंगे। मानक के तौर पर हमने चुना है श्री बंसीलाल [13] और राजिया बीबी[14] एवं श्रीमती रामादेवी[15] के साक्षात्कार को। लगभग 70 वर्षीय बंसीलाल जो अनुमान के

आधार पर अपनी पैदाइश 1928–29 बताते हैं, जाति से हरिजन है। झूंसी में एमदम गंगा के तट पर बने अपने झोपड़ीनुमा मकान में रहते हैं। तट पर ही ऊंचाई पर सटे–सटै मकानों एवं झोपड़ियों की बस्ती है। उन्होंने हमसे अपने एक रिश्तेदार के घर बातचीत की। यह घर उनकी मड़ैया के सामने था। यह एक छोटा सा पक्का कमरा था, जिसकी खिड़की से पूरा गंगा का पार और अकबर का किला नज़र आ रहा था। कमरे मे एक पलंगनुमा चारपाई थी। कमरा एकदम छोटा और सादा सा था। यह कमरा उनके भतीजे का था, जो बैक मे कैशियर है। बसीलाल स्वस्थ शरीर के सांवले रंग के बेहद खुशमिज़ाज, दृढ़ एव स्पष्ट बात करने वाले व्यक्ति हैं। बंसीलाल के पिता सुमेसर भी मजदूर थे। बसीलाल के तीन भाई और दो बहने थीं । उनके पिता को रोज़ चार आने मजूरी मिलती थी। बंसीलाल के अनुसार उतेन में उन सबको ठीक से भोजन भी नहीं मिल पाता था।

बंसीलाल जी का बचपन ऐसे ही गुजर गया जैसे कि आज भी भारत के गरीब परिवार के बच्चों का बीतता है - बग़ैर शिक्षा के बगैर बचपन के।

"बहुत लड़कपन में खाली डेढ़ साल स्कूल में पढत रहें।"

इसके बाद सन् 45 में COD (Civil Ordinece Department) छिंवकी में भरती हुए जहां बीमार हो जाने के बाद उन्हें नौकरी छोड़नी पड़ी। फिर उन्होंने राशनिंग में नौकरी की और वह भी छोड़ दी। जी.आर.पी. पुलिस में नौकरी मिली पर उन्होंने नहीं की। उनका कहना है कि "लोग कहते है कि पुलिस की नौकरी बड़ी नमकहरामी की होती है सिवाय बदतमीजी के कोई शराफत नहीं। इस कारण से छोड़ दिया।"

इसके बाद उन्होंने सारी ज़िन्दगी मजदूरी करके या गंगा के किनारे थोड़ी खेती–बारी करके बिता दी। बंसीलाल को बचपन में ही सिक्कों के माध्यम से तथा बड़ों–बूढ़ों से ही यह पता चल गया था कि हमारा देश गुलाम है। "यह शासन तो आप समझें कि सिक्का से पता चलता था। सिक्का चलता था ब्रिटिश गवर्नमेंट का।" बहुतायत में अंग्रेजों की उपस्थिति भी उनको गुलामी का अहसास कराती थी। खिड़की से दूर गंगा उस पार दिखाई देते अकबर के किले को दिखाते हुए वह बताते हैं कि–

"जितना बार्जा बना हुआ है वहां केवल अंग्रेज ही नज़र आते थे। हिन्दुस्तानी कोई किले पर न नज़र आवै। सब अंग्रेज नज़र आवै। ..... उनका शासन गुलाम लगता था न । जितने अफसरान बड़े–बड़े थे जज, कलक्टर, एस.एस. पी, सी.ओ. सब अंग्रेजन थे। खाली मजिस्ट्रेट, तहसीलदार, नायब तहसीलदार–दरोगा हिन्दुस्तानी थे। नीचे वाले जितने थे वह हिन्दुस्तानी थे और जितना बड़ा पोस्ट था सब अंग्रेजों का था।"

इस तरह बंसीलाल यद्यपि इस बात को बहुत स्पष्ट तरीके से नहीं समझा पा रहे थे कि उन्हें इस बात का अहसास कैसे हुआ कि वह गुलाम थे। फिर भी जो बातें उन्होंने रखीं वह महत्वपूर्ण हैं। इस तरफ तो सिक्कों पर अंग्रेजों की उपस्थिति तथा दूसरी तरफ निर्णायक या प्रमुख जगहों पर संख्या में उनकी व्याप्ति उन्हें गुलामी का अहसास कराती थी। यानी उनके जैसे लोग यह अहसास कर पाते थे कि 'सिक्का' गुलामी और स्वतन्त्रता का द्योतक है। सिक्के पर जिसका आधिपत्य होगा वह शासन करेगा। दूसरी तरफ चन्द अंग्रेजों का बहुतायत में दिखना वह भी शासक की भूमिका में। एक तरफ विशाल जनता तो दूसरी तरफ यहां के अर्थ राजनीति एवं सभी महत्वपूर्ण पदों पर छाये हुए अंग्रेज। चन्द विदेशी इतने बड़े देश के नियामक हों। यह सबकुछ बंसीलाल जैसों को गुलामी का अहसास कराते थे। बंसीलाल के अनुसार उन्हें आठ दस साल की उम्र से ऐसा अहसास होने लगा था। बंसीलाल अंग्रेजों का विरोध कर रहे सारे लोगों ने कांग्रेसी समझते थे।

"कांग्रेसी होने का मतलब जो इहां थे मास्टर ऊ आवैं उनका पुलिस सब ढूढ़त रहे, जो उनका पावै तो हथकड़ी लगा दें।" उनके गांव में एक चतुर्भुज नाम के मास्टर थे वह राष्ट्रीय आन्दोलन की गतिविधियों मे हिस्सा लेते थे। वह पुलिस से छिपते हुए गांव आते थे तो गांव के लोग उन्हें खाना खिलाते थे। वह बताते हैं–"जब हम पढ़ते थे तो एक चतुर्भुज मास्टर थे तो जितने हमारे देश के कांग्रेसी थे, वो चार ओर इसी कछार में भागे–भागे फिरैं तो हम लोग उनके लिये आटा, दाल चावल लेकर के वहां पाठशाला है – यहां से करिबन डेढ़ कि.मी. जंगलात का एरिया पड़ता है तो दस बजे, ग्यारह बजे रात आवैं उनका खाना पीना लेकर जाते थे।"

बंसीलाल के अनुसार पूरे गांव के लोग कांग्रेसी होने के कारण उनको बहुत मानते थे। लोग कहीं न कहीं से उनको भोजन दे देते थे। इतिहास की किताबों में कहीं भी चतुर्भुज मास्टर एवं बंसीलाल जैसों का जिक्र नहीं मिलेगा परन्तु यह तय है कि स्थानीय स्तर के ऐसे छोटे नेता न सिर्फ गुलामी का अहसास, बल्कि आज़ादी के लिये आवश्यक अहसास को भी जगा रहे थे और ढेरों ढेर जनता उनके प्रति सहानुभूति रखती थी। इन्हीं रूपों में अंग्रेजों के विरोधी होने को कांग्रेसी होना समझ रही थी। ऐसे गुमनाम स्थानीय नेता पूरे–पूरे गांव के लिये प्रेरणा के स्रोत बन जाते थे। जैसा कि बंसीलाल जी कहते हैं–"हां छिटपुट वही जो हमारे मास्टर नेता थे चतुर्भुज पंडित बाबा वह भी कांग्रेसी नेता थे। यही सब बात बताते थे कि देश के लिये तमाम परेशानी उठाय रहे हैं।"

इस तरह चतुर्भुज मास्टर जो जिनका नाम इतिहास में कहीं नहीं है, वह गांव की जनता और राष्ट्रीय आन्दोलन के एक मात्र सम्पर्क सूत्र थे। बंसीलाल ने उस वक्त के प्रमुख नेताओं में गांधी जी और जवाहरलाल नेहरू का नाम सुना था पर उन्हें देखा कभी नहीं था। उनके अनुसार वे देश की खातिर लड़ रहे थे। इन्हीं माध्यमों से बंसीलाल के रूप में देश का सबसे ग़रीब आदमी इस बात को समझ रहा था कि हम गुलाम देश के बाशिन्दे हैं और उनकी आज़ादी की लड़ाई चल रही है। परन्तु आज़ादी की लड़ाई में ठीक से हिस्सा न लेने का कारण बंसीलाल अपनी अज्ञानता को बताते हैं। जबकि उनको यह पता ही नहीं कि रात के 10–11 बजे डेढ़ कि.मी. का जंगल पार करके चतुर्भुज मास्टर व अन्य कांग्रेसियों को भोजन पहुंचाने का काम करके वह इतिहास में अपनी भूमिका निभा रहे थे। वह सचेत तौर पर अपनी इस भूमिका के प्रति अन्जान हैं। अचेतन रूप से उन्होंने अपनी भूमिका अदा की।

'सुराज' और 'आज़ादी' का मतलब अन्य लोगों की तरह वह भी नहीं समझते थे। "ई तो कौनो समझ में न आवत रहा। सुराज का मतलब है कि हमारा मुल्क आज़ाद होई। अब अनपढ़ आदमी सबै रहे। बस ई समझ आये कि हमारा देश गुलाम है।" यद्यपि वह अवधारणा के स्तर पर आज़ादी का मतलब नहीं समझते थे। न

ही नेतृत्ववर्ग ने उनके सम्मुख आज़ादी का कोई सपना प्रस्तुत किया था, फिर भी अपने स्तर पर वह आज़ादी का सम्मान करते हैं।

"तो ऐसा है न कि कोई आदमी कहने को चाहे जो बात कहे, रोटी मिलना आफत था ग़रीब आदमी को । 100 में से दस आदमी को ऐश आराम मिले तो कोई सुख की बात नहीं है। अब तो ऐसा है कि आदमी कमाय के बच्चों का पालन–पोषण कर लेता है। तो ज़मीन आसमान का अन्तर है। ग़रीब आदमी को सेर आध सेर आटा मिलना मुश्किल था।"

बंसीलाल की आज़ादी का फायदा यह लगता है कि ज़मीन्दारी खत्म हो गई। बदस्तूर जारी गरीबी का दोषी वह आज के नेताओं को मानते है। इसके अतिरिक्त समाज की असमान व्यवस्था को भी वह दोषयुक्त मानते हैं। वह कहते हैं–"मुल्क आज़ाद हुआ तो सबके लिये, ज़मीन कोई स्वर्ग से बांध कर नहीं लाया। इ तो ठेकेदारी चल रहा है। हरेक आदमी अगर एक काम पकड़े तो किसी को रोटी पर कोई परेशानी नहीं है। जब कोई एक आदमी नौकरी कर रहा है– कलक्टर भी है वकालत भी कर रहा है, उसके चाह दुकान भी है। उनके यहां तमाम दुनिया के अनेक प्रकार के काम हैं, तो मुल्क में ग़रीबों को हिस्सा कैसे मिलेगा। अगर आप पढे लिखे है तो आप पढाई का काम करिये। जो अनपढ़ आदमी है वह बोझा ढोने का काम करे।" बंसीलाल इस तरह से अपनी समझ के अनुसार विश्लेषण करते है उनके अनुसार मुल्क में सबको बराबर हिस्सा मिलना चाहिये तभी आज़ादी का कोई मतलब है। वह विकल्प बताते हैं–

"अपने विचार स सबको हिस्सा बराबर मिलना चाहिये। मुल्क आज़ाद हुआ किसी के पास एक इंच जमीन नहीं है– खटिया बिछाने की जगह नहीं यह कैसा इंसाफ है। अगर हमको जगह मिल जाये (प्रधानमंत्री की)तो हम कभी इसको बर्दाश्त नहीं कर सकते। एक आदमी को अट्ठारह काम पकड़ने नहीं दे सकते। आपके पास गइया भी है तो आप दूध से अपना जीवन बसर करिये। खेती है तो खेती से। कपड़े की दुकान है तो उससे जीवन बसर करिये। .... जो ग़रीब है बेअकल आदमी है उसे बोझा ढोने

का भी अवसर नहीं मिलता। आज़ादी का मतलब यह है कि हिस्सा सबको बराबर मिले।"

बंसीलाल अनपढ़ होते हुए भी अपने वर्ग के अनुरूप व्यवहार करते हैं। अचेतन रूप से वह जो वर्ग विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं वह साक्षर लोगों के लिये भी असंभव है। अनजाने में ही वह समाजवाद का विकल्प भी प्रस्तुत करते हैं। सबको बराबर हिस्सा देने की बात राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व भी अपने अजेण्डे में कभी नहीं रख पाया। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व जो कि घोषित रूप से बूर्जुआ नेतृत्व था – अपनी वर्ग स्थिति के अनुसार असल आज़ादी की बात नहीं कर सकता था। बंसीलाल जैसे लोगों ने प्रच्छन्न रूप से अपनी भूमिका अवश्य निभाई परन्तु सचेत तौर पर राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व जनता के पास कभी नहीं गया। वरना जब–जब आन्दोलन की कमान जनता ने अपने हाथों में ली कहर बरप पड़ता था। जनता भी इस शक्ति से न सिर्फ अंग्रेज बल्कि यहां का नेतृत्व वर्ग भी भयभीत रहता था। वह अनपढ़ थे और आन्दोलन में हिस्सा न लेने के बावजूद वह एक खुद्दार–ईमानदार और जागरूक व्यक्ति थे। राष्ट्रीय आन्दोलन ऐसी हज़ारों–हजार जनता की ऊर्जा का सही प्रयोग नहीं कर पाया। फिर भी राष्ट्रीय आन्दोलन के बाद मिली आज़ादी और आजादी के बाद हुयी प्रगति एवं विभिन्न सामाजिक आन्दोलनों ने उनके स्वाभिमान को और सुदृढ ही किया। उनकी यात्रा यहां तक पहुंची कि वह कहते है–"जुर्म अब बर्दाश्त नहीं होता। जुर्म करने वाला कम पापी होता है। जुर्म सहने वाला ज़्यादा पापी होता है।"

इस तरह अंग्रेजों की भौतिक उपस्थिति तथा हुकूमत पर उनका कब्जा बंसीलाल को इस बात का बोध करा रहे थे कि उनका देश गुलाम है। झूंसी (जहां के वह निवासी है) इलाहाबाद शहर से गंगापार करते ही शहर से सटा हुआ क्षेत्र है। किन्तु किसी भी बड़े आन्दोलन की लहर गंगा को पार करके झूंसी के आसपास गांवों को नहीं छू सकी। सन् 42 में एक झोंका अवश्य आया था, परन्तु वह किसी व्यवस्थित योजना के तहत नहीं था। राष्ट्रीय आन्दोलन से उनका न्यूनतम सम्पर्क चतुर्भुज भारद्वाज

द्वारा हुआ था। अतः उन्होंने, मास्टर जी को खाना पहुंचाने तक की न्यूनतम भूमिका भी अदा की। बहुत सम्भव था कि किसी बड़े आन्दोलन की बड़ी लहर उन्हें भी संघर्ष में उतार लायी। परन्तु चतुर्भुज मास्टर के माध्यम से वह आज़ादी की लड़ाई से अचेतन रूप से जितना जुड़े उसमें उनकी उतनी ही भूमिका संभव थी। वरना उनके बात करने का तेवर काफी दृढ और निर्णायक था। साक्षात्कार खत्म होने के पश्चात् वह हंसकर हमसे कहते हैं–"हमका पकड़वाय त न देबो" फिर स्वयं जबाब देते हैं -- "हमका ओकर परवाहो नहीं है।"

इस तरह गुलामी की परिस्थिति के कारण अचेतन स्तर पर आज़ादी की लड़ाई की अवधारणा उनके मन में विकसित हुयी। यद्यपि उनकी कोई व्यापक भूमिका स्वतन्त्रता आन्दोलन में नहीं बन पाई परंतु एक व्यक्ति जो आन्दोलन में हिस्सेदारी कर रहा था (चतुर्भुज मास्टर) वह उनके लिये आदर का पात्र था। न सिर्फ उनके लिये वरन समूचे गांव के लिये। उनके जीने की परिस्थितियों ने, उनके जैसे व्यक्ति [illegible] किया था, उसके तहत वह एक ईमानदार, खुद्दार व्यक्ति तो बने, परंतु वह अपने आप किसी आन्दोलन में कूद पडने के लिये सक्षम नहीं थें। इसके लिये राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रबल वेग ही उन्हें रणक्षेत्र में उतार सकता था। अपनी भूमिका के अनुरूप ही चतुर्भुज मास्टर ने अचेतन रूप से उन्हें उनकी न्यूनतम भूमिका के लिये तैयार किया। वहीं उन्होंने गांधी जी का नाम तो सुना था परन्तु गांधी या नेतृत्व वर्ग उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन मे संलग्न नही कर पाया। यह स्वयं राष्ट्रीय आन्दोलन की तीव्रता में कमी तथा उसकी सीमाओं के कारण हुआ था।

अब आते हैं राजिया बीबी पर। तकरीबन 80 वर्षीया राजिया बीबी को अपनी असली उम्र का अन्दाजा नहीं है. फिर भी अनुमानतः उनकी पैदाइश 1910 के आसपास की है क्योंकि उनके अनुसार उनकी मां की मृत्यु 1917 में हुयी तो उस वक्त उनकी उम्र सात साल की थी। उनके पिता चौधरी उबैदुर्रहमान इलाहाबाद के निकट बम्हरौली नामक गांव के ज़मींदार थे। पढ़ने के नाम पर उन्होंने दीन की कुछ किताबें तथा कलामे पाक पढा है और थोड़ी बहुत तालीन भी घर में हुयी। छः भाई

बहनों में पांच की मौत हो जाने के कारण राज़िया बीबी अपने पिता की बहुत दुलारी संतान थीं। मुस्लिम परिवार में जन्म लेने के बावजूद, उस ज़माने में भी पिता ने उनका विवाह 20 वर्ष की आयु में किया। घर समाज में दबाव पड़ने पर उनके वालिद कहा करते थे –"लड़की को ज़रा खड़ा हो जाने दो" राज़िया बीबी अपने वालिद के प्रति बहुत इज़्ज़त का भाव रखती हैं। उनके अनुसार उनके नेकदिल वालिद ने उन्हें हर तरीके से तैयार किया। 20 साल की उमर में उनका ब्याह करने के बाद ही उनके वालिद दुनिया में रूखसत हो गये। उनके घर में बहुत पर्दा था। आन्दोलन की खबरें उन पर्दों को चीर कर नहीं पहुच पाती थीं। इत्तेफाकन उनकी शादी एक कम्युनिस्ट परिवार में हो गई। अपने सुसराल लखनऊ में उन्हें पूरी तरह से 'आज़ाद' माहौल मिला। उनके मिंया सैयद सईद अहमद और उनके भांजे–भतीजे सब इंकलाबी थे।मायके के सात पर्दों से अचानक ससुराल में उन्हें पूरी आज़ादी दे दी गई। पर ग़ुलामी की गांठ बहुत पुरज़ोर होती है। मुक्ति का स्वाद भी गुलाम लोगों को कसैला लगता है। फिर उन्हें आज़ादी की आदत भी नहीं होती, गुलामी ही आदत बन जाती है। वह कहते हैं–

"शादी के बाद हम लखनऊ पहुंचे। बमरौली से उठे तो लखनऊ पहुंचे–बड़ा ख़ानदान था। वहा औरतन पढ़ी–लिखी थी। हमारे यहां तो कोई मर्द भी पढ़े लिखे नहीं थे। बी.ए. नहीं था कोई। वहां हम बहुत आजाद थे। यही था कि जैसे चिड़िया को आप पालिये पिजरे मे, उसके बाद आप उसे ले जाकर जगल में छोड़ दीजिये कि जाओ उड़ो अब ! निकल जाओ ! पूरी आज़ादी ! न मिंया की कोई रोक न [illegible] की कोई टोक। अब सोचो कहां से कहां पहुंच गये।"

राज़िया बीबी से बात करने पर औरतों की गुलामी की ऐतिहासिकता समझ में आती है। सदियों से एक बन्द माहौल कैसे पूरी ज़िन्दगी को कुंद कर देता है। औरतों के विशेष मामले सहित राष्ट्रीय आन्दोलन ने भी इसी 'बन्द माहौल' की ही परम्परा दी। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान एक बार में भी घर में और बाहर दोनों जगह लोगो को मुक्ति का माहौल नहीं मिला। इसीलिये लोगों को मुक्ति का स्वाद भी नहीं

पता। आज भी बहुत से लोग कहते हुए पाये जाते हैं कि इससे तो अच्छा अंग्रेजों का राज था। राष्ट्रीय आन्दोलन की तमाम सीमाओं में से यह भी एक सीमा है। वामपंथी आन्दोलन अपनी विचारधारा की प्रगतिशीलता के कारण लोगों को एक खुला माहौल तो दे रहा था, परन्तु वह भी राजनीतिक पेंचो में उलझा रहा और एक मुकम्मिल भूमिका नहीं अदा कर सका।

एक इंकलाबी परिवार में ब्याहे जाने के कारण राजिया बीबी को एक दूसरा ही माहौल मिला। परन्तु गुलामी कैसे जकड़ती है इसका उदारहण है कि उनके अनुसार वह बिना पर्दे के चल ही नहीं पाती थीं और इंतहा इस बात में उन्हें स्वयं बिना पर्दे के चलना अच्छा नहीं लगता था। उनके अनुसाार 20 साल की उम्र दिमाग बनने के लिये अच्छी खासी होती हैं। उन्हें गुलामी की आदत पड़ चुकी थी। इस आधार पर औपनिवेशिक गुलामी की भयावहता की कल्पना भी की जा सकती है। जिसने दो सौ सालों में आज़ाद रहने की भावना ही छीन ली है। अनेकानेक परतों की गुलाम मानसिकता में समाज को जकड़ दिया हैं– उसमें भी औरतों की ग़ुलामी की जड़ें तो हज़ारों साल पीछे जाती है।

रज़ियाबी एक इन्कलाबी परिवार में ब्याही गई थी। उनके घर के पास कम्युनिस्ट पार्टी का दफ्तर था शफीक अहमद, जेड.ए. अहमद तथा हाज़रा बेगम तथा रशीद जहा उनके यहां दिनरात उठने बैठने वालों में से थे। अपने पति के कहने पर वह तकरीरें सुनने जाया करती थीं।

"यही आज़ादी की बातें बताते थे, मर्दो को इस तरह करना चाहिये। औरतो का अपने हक मांगने चाहिये। वह गरीबों के लिये ऐसी तकरारे करते थे कि लोग अपने अपने ज़ेवर उतार कर दे देती थी। हम भी जुलूस मे जाती थीं–जायरा बेगम ले जाती थी। वहां सब चाहते थे कि पांचो उंगली बराबर हो जाये, गुरबत खत्म हो जाये। जितने गरीब हैं सब बराबर हो जायें।"

राज़ियाबी को कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े सभी लोग अच्छे इंसान लगते थे पर उनमें एक ही कमी थी कि वह अल्लामियां को नहीं मानते थे। फिर भी उनके पति ने

उनकी इबादत पर कभी पाबंदी नहीं लगाई। वह उस वक्त भी पांचो पहर नमाज़ पढ़ती थीं और आज भी। (बातचीत के बीच में भी नमाज़ के वक्त वह उठकर नमाज़ पढ़ने गई) उनके पति सैयद सईद मिर्ज़ा अहमद लखनऊ सचिवालय में काम करते थे। इंकलाबी गतिविधियों के कारण उन्हें नौकरी से वर्खास्त कर दिया गया था। बाद में वह लंदन चले गये और वहीं नौकरी करने लगे। उनके बेटे खुर्शीद नकवी इंजीनियर हैं। वह उन्हीं के साथ रहती हैं। उनकी तीन बेटियां हैं। एक लड़की लखनऊ में डाक्टर हैं। दूसरी म्युनिसिपल बोर्ड में तथा तीसरी आई.टी.आई. में नौकरी करती हैं। राजिबाबी कहती हैं "हमने कोई को मोहताज नहीं रहने दिया। मिंया क्या करता है बाप क्या करता है वह अलग चीज़ हैं लेकिन हम क्या हैं। हमने अपनी लड़कियों को बनाया। हमने खुद भी किया हमने पढ़ा इम्तहान दिया फिर स्कूल चलाया पच्चीस वर्ष।"

उन्होंने अपने घर में लड़कियों के लिये सिलाई स्कूल खोला था और गरीब लड़कियों को मुफ्त में सिखाती थीं। इस तरह राजिया बीबी एक ज़मींदार परिवार के सामंती माहौल से उठकर एक इंकलाबी विचारधारा के परिवार से जुड़ीं और उस पूरी धारा ने अचेतन रूप से ही सही, उनकी सोच को बदल दिया। स्पष्ट है कि एक सही धारा ही सही तरह से इंसान को गढ़ती है। अर्थात् राष्ट्रीय आन्दोलन अगर भारत के भविष्य को ठीक तरीके से नहीं गढ़ पाया तो कहीं न कहीं खामी पूरी धारा में है। राष्ट्रीय आन्दोलन व्यक्ति को और समाज को इस लिये नहीं गढ़ पाया क्योंकि वह एक समझौता परस्त नेतृत्व मे चला गया था। सत्ता हस्तांतरण द्वारा पाई गई आज़ादी लड़कर पाई गई आज़ादी से कितनी भिन्न है। बहुत छोटे स्तर पर इसका प्रतीक हैं राज़िया बीबी की अपनी ज़िन्दगी। सिर्फ ऐसे परिवार की संगत ने उनकी समूची ज़िन्दगी को दूसरी तरह गढ़ दिया और उनका असर दूसरी पीढ़ी पर भी पड़ा।

राज़िया बीबी आज की कम्युनिस्टों के प्रति बहुत इज़्ज़त का भाव रखती हैं। अन्य लोगों की तरह आज़ाद हिन्दुस्तान का कोई तसव्वुर उनके पास भी नहीं था। बटंवारे को वह अंग्रेजों की साजिश मानते हैं। उनके अनुसार अच्छे बुरे लोग हिन्दू

–मुसलमान दोनों में होते हैं। विभाजन के समय उनका सारा परिवार पाकिस्तान चला गया। उनके पति की बूढ़ी मां किसी कीमत पर जाने को तैयार नहीं थीं वह दूसरी तरफ उनका छोटा बेटा जाने की जिद कर रहा था, और वह स्वयं असमंजस में था। तीनों पीढ़ियों का बंटवारे के प्रति रूख दिखई पड़ता है। सबसे बड़ी पीढ़ी अपनी जड़ों से किसी कीमत पर नहीं जाना चाहती थीं। दूसरी पीढ़ी द्वन्द्व में थी, विस्थापन से डरती थी और तीसरी पीढ़ी का अलगाव स्पष्ट था। इससे उजागर होती है राष्ट्रीय आन्दोलन की एक और खामी। अपने अन्तिम चरण के आते–आते पूरे के पूरे समुदाय में अलगाव की भावना भर चुका था। राष्ट्रीय आन्दोलन मुसलमानों को आनेवाली नई पीढ़ी को अपनत्व नहीं दे पाया। इस देश के लिये 'निजता का बोध' नहीं दे पाया।

अंत में हमने राजिया बी से पूछा कि मान लीजिये कि अभी कोई इंकलाब की बातें करे तो आज के दौर में आप उनका साथ देंगी ? राजिया बीबी देर सोचते हुए बोलीं "हम नहीं सोच सकते – एक बार इंकलाब आया तो क्या मिला ?" यही प्रश्न चिन्ह शेष बचता है–आज समूचे राष्ट्रीय आन्दोलन पर। आन्दोलन से तकरीबन अछूते से रहे बंसीलाल और इंकलाबी आन्दोलन को करीब से देखती हुयी राजिया बीबी दोनों ही इस प्रश्न के उत्तर के हकदार हैं कि 'हमें, क्या मिला ? दोनों ने ही अपने–अपने तरीके से कांग्रेसियों और इंकलाबियों को भोजन मुहैय्या कराके इतिहास में अपनी भूमिका अदा की। पर सवाल दोनों के ही पास शेष रह गया।

इन दोनों से एक दम अलग उदाहरण है 82 वर्षीया श्रीमती रामा देवी का। निरक्षर श्रीमती रामा देवी लगभग 5 फीट की दुबली पतली व गोरी सीधी–सरल और अपार स्नेह लिये हुए महिला हैं। वह स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी हैं और उनको पेंशन मिल रही है। बहुत प्यार, अपनेपन और अतीत के संघर्ष में अपनी हिस्सेदारी को वह बहुत गर्व के साथ बताती हैं। उनके पति श्री जवाहरलाल भी सेनानी थे। उनकी मृत्यु बहुत पहले हो गई थी। उनके कोई बच्चे नहीं थे। उन्होंने अपनी बहन के बच्चों को अपने यहां रखा हुआ है। बहन की विधवा लड़की उनके साथ रहती है तथा वहीं चाय की दुकान चलाती हैं। उनका (लड़की का) लड़का पान की दुकान चलाता है। इस

आय के अतिरिक्त पूरे परिवार का खर्चा उनकी पेंशन पर चलता है। श्रीमती रामादेवी को अपनी पैदाइश तिथि तथा वर्ष नहीं पता है। वह बताती है कि जिस साल भगतसिंह को फांसी हुयी उस साल उन्हें सज़ा हुयी । उस वक्त उनकी उम्र सोलह साल की थी। इस हिसाब से साक्षात्कार लेते समय उनकी उम्र 82 वर्ष की थी। शादी होने के बाद अपने पति के साथ वह आन्दोलन में हिस्सा लेने लगीं। उस वक्त वह बनारस में थी वह बताती हैं –"बनारस दशाश्वमेध घाट पर हम लोगन ओलंटियर (वालंरियर) का खाना बनावत रहे। पिकेटिग करी। पुलिस आये त हम लोग भाग जाई। जे कोई पकड़ा जात रहा, मार भी खात रहा।" वहीं पर सन् 1931 में जेल हुयी। शिवपुरा जेल में उन्हें 8 दिन की काल कोठरी में रखा गया। उनके पति उनका पूरा सहयोग करते थें। यहां तक कि जब जेल से आयीं तो घर वालों ने उन्हें घर में रखने से इंकार कर दिया । तब वह पति के साथ घर छोड़कर इलाहाबाद चली आयीं। "घर वाले तो हमका नहीं रखे। पहले के आदमी ज़रा दूसर विचार के रहे। हम सोलह साल के रहे। ऊ कहें कि जब जेल हो आई छुआ–छूत खा आयी तो अब उनके घर में नाही रखना है। तब हम बनारस रामापुरा नई बस्ती छोड़ दिया और इलाहाबाद आ गये।" यहां आकर वह और उनके पति किराये के घर में रहते थे उनके पति पान बेचते थे। स्वयं रामा देवी दूसरों के घर पर काम करती थीं। साथ ही दोनों लोग आन्दोलन का काम करते थे। वह स्वय तो बिल्कुल अनपढ़ थीं किन्तु उनके पति उन्हें आन्दोलन के [illegible] में बताते थे–पेपर पढ़कर सुनाते थे। आन्दोलन की गतिविधियों के बारे में वह बताती हैं कि –"जुलूस उठत रहा, लोग चिल्लात रहे। लोग 'लिच्चर' (लेक्चर) दें। बस इही घटत रहा। अब आगे भीड़ के मारे हम सबे पीछे रही। आगे मार आदमी रहे। मार पुलिस–पल्टन लोगन के धौड़ावै। अरे बहुत कठिनाई रही बचवा। ..... अब गांधी जी आयें तो रोज चार बजे उनके पीछे जाई। सांम को मीटिंग होई तो ओमन हम लोग जाई। बहुत कठिन समय रहा। पुलिस के लोग डेरात रहे। कि कहीं दौड़ न आये। मारै न लगै।"

यह कहते–कहते वह रोने लगीं। रामादेवी ने नमक आन्दोलन में हिस्सा

लिया। वह अन्य लोगों के साथ प्रतीत के तौर पर नमक बनाया और पुड़िया बना–बना कर घर–घर बेचा। वह कहती हैं कि –"हम भैया बहुत काम करें अही अब सोई हमार भगवान जानि है।" आगे वह कहती है "हम अबहूं जौन कुछ होत है हम करै के लिये तैयार रहित है। लेकिन अब पैर नहीं उठत। अब ढेर रोज के होई गै।"

इस तरह एकदम निरक्षर रामादेवी ने अपने पति का साथ पाकर राष्ट्रीय आन्दोलन में शिरकत की। नेतृत्व के स्तर पर वह गांधी से बेहद प्रभावित थीं। राष्ट्रीय आन्दोलन की व्याप्ति, नेताओं के भाषण एवं गतिविधियों से वह इस बात को समझती थीं कि गुलामी मूल कारण क्या है–"अंग्रेज यहां से पैसा त लेत जात रहे। हम लोग कंगाल रहे। मुख्यकारण यही रहा कि हमारे देश का हरेक चीज़ आपन किया लिआ के, इहां विलाती चीज़ बेचत रहे। इहां के समान, कोई चीज़ न बेचने दें अंग्रेज । हर चीज़ विलाती। त हम लोगन कोई कारबार (कारोबार) करै न पाई। जौन दुखिया रहे उनकर और किसान रहे उनकर पेट न भेरें। आदमी बड़ा दुःखी रहा ।"

गुलामी की स्थितियों ने साम्राज्यवाद के खिलाफ रामादेवी की चेतना बढ़ाई। वह पूरे मन से इसमे लगीं। उन्हें इस बात का बोध है कि आज़ादी की लड़ाई में उन्होंने हिस्सेदारी की और इसके लिये वह गौरवान्वित भी महसूस करती है। राष्ट्रीय आन्दोलन में उनकी भूमिका तय करने में स्वयं उनका व्यक्ति, आन्दोलन का नेतृत्व तथा परिस्थितियो इन सभी का योगदान है। वह इतिहास में अपनी भूमिका से संतुष्ट भी हैं। पर भविष्य के प्रति, चिन्तित है कि उनकी मृत्यु के बाद उनका घर, जो उनके खर्चे से चल रहा है, उसका क्या होगा। वह हमसे अपेक्षा करती हैं कि हम उनके लिये ऐसा कुछ करें कि उनकी पेशन उनके बाद परिवार के किसी सदस्य को मिल जाये। सुराज का मतलब वह समझती हैं कि–

"हम लोगन को सुराज मिलें। अपना देश ही जाये। हम लोगन के आराम मिले और ई अंग्रेजन सब देश छोड़ैं। हमार देश हमार देशे है।"

इस तरह बंसीलाल राजिया बीबी तथा रामादेवी तीनो ने कांग्रेसियों और इंकलाबियों को भोजन मुहैय्या कराके इतिहास में अपनी न्यूनतम भूमिका अदा की।

उन तीनों की इस भूमिका के लिये अलग–अलग परिस्थितियां एवं प्रेरक तत्व थे। बंसीलाल तथा राजिया बीबी ने अचेतन स्तर पर तथा रामादेवी ने सचेत तौर पर राष्ट्रीय आन्दोलन में हिस्सेदारी की। परिस्थितियों ने तीनों के व्यक्ति को तैयार किया था। इसमें उनसे जुड़े व्यक्तियों एवं स्वयं उनके व्यक्तित्व का भी योगदान है। इतिहास का वह दौर जो संघर्ष कर रहा था, अपनी–अपनी धारा की तीव्रता के अनुसार उससे जुडे व्यक्ति को गढ रहा था। बंसीलाल, राजिया बीबी तथा रामादेवी तीनों ने ही साम्राज्यवादी गुलामी का वह दौर देखा था। तीनों ने ही गुलामी का अहसास किया तथा तीनों ने ही आजादी के आन्दोलन से जुड़ाव महसूस किया। संघर्ष का वह दौर लोगों को न्यूनतम भूमिका के लिये तो स्वतः स्फूर्त तरीके से तैयार कर रहा था किन्तु अपनी तमाम सीमाओं के चलते वह देश की आम जनता की संभावनाओं का व्यापक प्रयोग नहीं कर पाया।

इस न्यून्तम भूमिका से लेकर इलाहाबाद में जनभूमिका का आधार विस्तृत होता गया। विभिन्न आन्दोलनों के दौरान जनता ने नेतृत्व के अह्वान का प्रत्युत्तर दिया। नेताओं की जनसभाओं से लेकर हिंसक गतिविधियों तक में जनता शामिल हुयी। समय–समय पर घटने वाली घटनाओं ने अंग्रेजों के ख़िलाफ आम जनता की राजनैतिक चेतना जगाई। इस तरह की घटनाओं ने जनता को आन्दोलन में हिस्सेदारी के लिये प्रेरित किया। मसलन 27 फरवरी 1931 को चन्द्रशेखर आजाद की शहादत, इसने इलाहाबाद के जनमानस को बहुत उद्वेलित किया तथा लोगों को आन्दोलन में हिस्सेदारी के लिये प्रेरित किया। तमाम मौखिक साक्ष्यों के अध्ययन के उपरांत यही नज़र आता है कि स्वतन्त्रता आन्दोलन में जन भूमिका की मुख्य रूप से दो ही प्रवृत्तियां उभर कर सामने आयीं। पहला तो आन्दोलन के दक्षिणपंथी संघर्ष में जनता की व्यापक भूमिका बनी जिसका नेतृत्व कांग्रेस के तत्वावधान में गांधी ने किया तथा दूसरा है वामपंथी संघर्ष में लोगों की भूमिका जिसका आधार वैचारिक प्रतिबद्वता थी। किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ उपभूमिकायें भी बनी। यह वह लोग थे जिन्होंने स्वतन्त्रता आन्दोलन में भरपूर हिस्सेदारी तो की परन्तु वह राष्ट्रीय आन्दोलन की त्रासदी के

शिकार हो गये। इलाहाबाद शहर का एक प्रमुख हिस्सा है मुस्लिम समुदाय का। इस समुदाय की स्वतन्त्रता आन्दोलन में भरपूर भागीदारी बनी। बहुत सारे लोग जो आरम्भ में कांग्रेस के तत्वावधान में हिस्सेदारी कर रहे थे मुस्लिम लीग मे शामिल हो गये। उसमें से कुछ लोग तो पाकिस्तान चले गये और जो बचे वह किसके प्रति अपनी आस्था बनाये, यह प्रश्न आज भी उनके सामने है। साक्षात्कारों से यह स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीय आन्दोलन ने मुसलमानों को कहां से कहां तक पहुंचाया। पूरी ज़िन्दगी जी लेने के बावजूद दोयम दर्जे की ज़िन्दगी जीने की कसक हमेशा उन्हें सालती रहती है। मुसलमानों से लिये गये साक्षात्कारों का एक अलग ही स्वर होता है साक्षात्कारों के दौरान हमने यह महसूस किया कि अच्छी हैसियत वाले शहरी मुसलमान तथा ग़रीब मुसलमानों के स्वरों में अलग खासियत थी। शहरी मध्यवर्गीय मुसलमान साक्षात्कार देते समय ज़्यादा सचेत रहता था। उनकी यह कोशिश चेतन अवचेतन रूप में स्वयं को एक अच्छे हिन्दुस्तानी के रूप में पेश करने की होती हैं। दूसरी तरफ कुछ मुसलमान (जो अपेक्षाकृत ग़रीब हैं) अविश्वास से अपनी बात शुरू करते हैं। आज़ादी के पचास साल उन्हे वह विश्वास नहीं दे पाया जो एक स्वतन्त्र देश के नागरिकों में परस्पर होता है। अतीत की गलितियों की वजह से छोटे–बड़े हर मुसलमान का वर्तमान आहत हैं। वह चाहे निहायत मामूली और ग़रीब पुन्नू खां हों या राष्ट्रीय नेता मौलाना अबुल कलाम आज़ाद।

लगभग 76 वर्षीय पुन्नू खां[16] आजादी की लड़ाई की बात करते हुए पूरे समय रूखे–रूखे से रहे। संभवतः हमारे हिन्दू होने के कारण वह हम पर पूरी तरह विश्वास नही कर पा रहे थे। पुन्नू खां एकदम निरक्षर हैं। अंग्रेजों के ज़माने में वह बैरागिरी करते थे। उनका मानना है कि हिन्दुस्तान सोने की चिड़िया माना जाता था. इसीलिये अंग्रेजों ने इसे गुलाम बनाया। अंग्रेजों के घर में मुलाजमत करने के कारण भी उन्हें गुलाम होने का अहसास होता था। उस समय उनका घर आनन्द भवन के ठीक सामने कर्नलगंज मुहल्ले में था। परन्तु उनके अनुसार आनन्द भवन की गतिविधियों का असर लोगों पर नहीं पड़ता था। पून्नू खां का आज़ादी की लड़ाई का

अहसास बिल्कुल अलग हैं।

"हमें उस वक्त समझ में यही आता था कि ये कुछ होय हवायगा नही, और न ही कुछ हुआ था। यह तो एकबैग ऐसी चीज़ पैदा हुयी कि वह लोग हट के खुद ही चले गये। न जग किया न कुछ खुद ही चले गये।"

पुन्नू खा यह मानने को तैयार ही नहीं हैं कि इलाहाबाद में बहुत आन्दोलन होता था। वह कहते हैं –"आन्दोलन नहीं जरा छुट–पुट हुआ उसी को चाहे आन्दोलन कह लीजिये चाहे जो कुछ कहिये, हा लड़ाई–झगड़ा, हिन्दू मुसलमान का जरूर होता था। अब खत्म हो गया है।"

पुन्नू खा आजादी की लड़ाई और उसके बाद मिली आजादी के परिणामों दोनों से बेहद क्षुब्ध हैं। उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन से बेहद शिकायत है। वह पूरी कडुवाहट से कहते हैं "आजादी की जो लड़ाई थी उसमें कोई आजाद--वाज़ाद हुआ नहीं । अगर कोई समझे कि उस बखत की चीज़ो से आज़ादी हुयी तो कोई आज़ादी नहीं हुयी।" वह मानते हैं कि आज स्थिति पहले से भी बदतर है। आज़ादी के बाद पून्नू खां की नौकरी (बेयरेगिरी) छूट गयी। उन्हें फिर कोई नौकरी नहीं मिली। उसके बाद उन्होंने बहुत कठिनाई में दिन बिताये। अब उनके पास लकड़ी के फर्नीचर की छोटी सी दुकान है। पुन्नू खां के मन में अपनी तकलीफों की कडुवाहट इतनी अधिक हैं कि पूरी बातचीत के दौरान वह एक बार भी खुश नही हुए। वह उमसे दुबारा मिलने को भी तैयार नहीं हुए। अतीत की बहुत कडवी यादें हैं उनके पास। उन्हें एक ही चीज याद है कि उनके वक्त मे अच्छे थे जब कम से कम ग्यारह बरस नौकरी किये। उसके बाद वह भी नहीं मिली। आज के वक्त को वह बहुत बुरा मानते है। कहीं न कही उनके मन मे अपने मुसलमान होने की ग्रन्थि भी हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन के हिन्दूवादी होने के कारण वह उस पर अविश्वास करते हैं। इस आज़ादी से वह कतई खुश नहीं।

यह तो थी एक सामान्य मुसलमान की मनः स्थिति किन्तु ताउम्र कांग्रेस के साथ आज़ादी के लिये संघर्षरत रहने वाले ख्यातिलब्ध नेता मौलाना अबुलकलाम आज़ाद अपनी आत्मकथा में बटंवारे पर अत्यन्त दुखी मन से लिखते हैं– "मेरे लिये यह

कहना असम्भव था कि कांग्रेस ने यह हीन समर्पण किया है। मैंने अपने भाषण में स्पष्ट रूप से कहा कि कार्य समिति जिस निर्णय पर पहुंची है वह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण घटनाचक्र का परिणाम है। हिन्दुस्तान का विभाजन बड़ी दुःखद घटना है और उसके पक्ष में सिर्फ यही कहा जा सकता है कि हमने इस विभाजन को टालने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु हमे सफलता नहीं मिली। अब कोई विकल्प नहीं है और यदि अब स्वतन्त्रता चाहते हैं तो हमें हिन्दुस्तान की मांग को स्वीकार करना चाहिये। परन्तु हमें यह नही भूलना चाहिये कि राष्ट्र एक है और उसका सांस्कृतिक जीवन एक है और सदैव एक रहेगा। राजनीतिक रूप से हम असफल हो गये और इसलिये हम देश का विभाजन कर रहे हैं। हमें अपनी हार स्वीकार करनी चाहिये।"[17]

बचपन में रूढ़िग्रस्त पारिवारिक मान्यताओं से मुक्ति के लिये विद्रोह किया और उपनाम 'आज़ाद' रखने वाले अबुलकलाम अपने देश में मुकम्मिल आज़ादी न मिलने को अन्त तक महसूस करते रहे। सारी ज़िन्दगी कांग्रेस के तत्वावधान में लड़ाई लड़ने वाले आज़ाद एकमात्र ऐसे शख्स थे जो गांधी के बाद भी अंत तक विभाजन के खिलाफ लड़ते रहे।

"मैंने जवाहर लाल को चेतावनी दी कि यदि हमने विभाजन को स्वीकार किया तो इतिहास हमें कभी क्षमा नहीं करेगा ।"[18]

14 मई सन् 1930 में जन्मे सुहैल अहमद ज़ैदी चौक में रहते हैं। वह धार्मिक उसूलों वाले मौलाना किस्म के एक निहायत शरीफ तबीयत के इंसान हैं। जब उनका जन्म हुआ तो उनके वालिद श्री अब्दुल वईद जेल में थे। वह कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ता थे। उनके घर में लोगों का आना जाना लगा रहता था अतः वह बहुत छुटपन से आन्दोलन से परिचति हो गये थे। 1947 में उन्होंने हाईस्कूल पास किया था। मुसलमानों में अलगाव की भावना आने का कारण उन्हें एक तो धार्मिक लगता है। दूसरे मंत्रिमण्डल बनने के बाद मुसलमानों को यह अहसास होने लगा कि उन्हें दूसरे दर्ज़े के शहरी की तरह 'ट्रीट' करेंगे। धीरे–धीरे यह सामान्य मनोवैज्ञानिक यथार्थ बन गया। वह कहते हैं कि "यह बात भी आई कि "इस्लाम खतरे में है। ऐसा कुछ था नहीं।

मैंने ऐसी कोई बात नहीं देखी। मुस्लिम लोग कहते थे कि अंग्रेजों के बाद तुम हिन्दुओं के गुलाम बन जाओगे। दूसरा यह कि यह तुम्हारा दिमाग, तुम्हारा 'कल्चर' खत्म कर देंगे। मतलब यह कि तुम्हारी शिनाख़्त को खत्म कर देंगे। मुसलमानों में यह बात फैल गई। यह बात नहीं थी कि इस्लाम खतरे में है। जिन्ना साहब न तो नमाज़ अदा करते थे, शराब पीते थे। उनके साथियों में शायद ही कोई ऐसा हो जो नमाज़ पढ़ता रहा हो। तो वह मसला नहीं था कि इस्लाम खतरे में है। यह बात नहीं थी। दूसरी तरफ उलमा का सारा ग्रुप देवबन्द का मौलाना हुसैन अहमद बरनी और उनके तमाम साथी कांग्रेस के साथ थे, तो यह बात कोई नहीं निकल सकता था कि इस्लाम खतरे में है। यह तो बिना हर्रे फिटकरी के जिन्ना साहब का रंग चोखा हो गया था कांग्रेस की कुछ गल्तियों की बजह से। यह सारे मुसलमान कांग्रेस में थे। 'ख़िलाफत मूवमेंट' में सब एक थे। कम्युनल फीलिंग आम लोगों में नहीं थी। इतनी–इतनी कोशिशें की हैं संघ परिवार ने सन् 47 के बाद में लेकिन सूरते हाल यह है कि मेरा घर है मीरापुर में। बहुत थोड़े से मुसलमान हैं वहां। लेकिन जब 'रायट' होता है तो सारे पड़ोसी हमारे दूध सब्ज़ी सामान लाकर देते हैं। कहते हैं घर से न निकलना लाख कोशिश के बाद आम जनता में दरार नहीं पड़ती। जहां लाठी पड़ी वहां फट जाती है लेकिन लाठी हटते ही फिर बराबर हो जाती है कोई असर नहीं। यह तब भी सच था आज भी सच है।"

1 जनवरी 1902 में पैदा हुए जुल्फेकारूल्लाह के वालिद नूरूल्लाह 1912 में कारोबार के सिलसिले में इलाहाबाद आये थे और तब से यहीं रह रहे हैं। धीरे– धीरे वह इलाहाबाद के प्रमुख रईसों में से एक हो गये। आज इलाहाबाद शहर की प्रमुख नूरूल्लाह सड़क उन्हीं के नाम पर है। करेली स्थित इसी सड़क पर उनका बड़ा सा नवाबी मकान है। 94 साल के बेहद ज़ईफ जुल्फेकारूल्लाह जी शुरू में तो हमसे बात करते समय एक खास दूरी बना कर बातें कर रहे थे। आरम्भिक दौर में उनकी बातों में बेहद अविश्वास की झलक थी। खिलाफत और असहयोग के दौरान वह राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े। उस समय वह जामिया मिलिया में पढ़ रहे थे।

'ख़िलाफत' में उन्होंने कालेज छोड़ दिया और इलाहाबाद आ गये। 1930 में वह म्युनिसिपिलिटी में मेम्बर बने तथा 1934 में चेयरमैन बन गये। उनका कहना है –"आप यह जानिये कि कोई 'कम्यूनलिज़्म' का किस्सा नहीं था क्योंकि वहां 40 मेम्बरों में ग्यारह–बारह मुसलमान रहते थे।" बाद में वह कारपोरेशन के मेम्बर बने और 1959 में वह इलाहाबाद के मेयर बने।

एक रईस ख़ानदान में पढ़े लिखे और नगर प्रमुख के हैसियत वाले पद पर रह चुकने के बावजूद वह इस देश में मुसलमान होकर जीने की त्रासदी बताते हैं। असहयोग के बारे में वह बताते है – "(उसवक्त) जो आन्दोलन हुआ है, तो हिन्दू मुसलमान का कोई सवाल ही नहीं था। सब मिल जुल कर चल रहे थे। लोगों ने कोतवाली वगैरह बना रखी थी। उसी में से चुन लिया गया था, कोई दरोगा होता था। हलांकि पावर तो नहीं थी लेकिन जो लोग इस किस्म के थे कि गवर्नमेंट से डरते थे या कोई फायदा हासिल करना चाहते थे। वह उधर जाकर बताते थे लेकिन आम तौर पर 'मूवमेंट में काफी 'फोर्स' था ।"

वह बताते हैं कि इलाहाबाद में कोतवालियां नक्खास कोने पर दाहिनी तरफ, कटरे में तथा दारागंज के करीब बनाई गई थी। वह मुहल्ले के नेता थे। मीटिंग वगैरह व्यवस्थित करने का काम वही करते थे। सन् 1943 से वह मुस्लिम लीग के करीब हो गये थे और सन् 45 में खुले आम लीग की राजनीति करने लगे थे। इसके विषय में वह बताते हैं कि कैसे वह लीग के करीब हो गये थे– "देखिये ऐसा है कि जब हवा चलती है तो उसमें क्या वातावरण होता है उससे तय करना होता है कि किसमें रहें।" पाकिस्तान न जाने के अपने निर्णय के बारे में वह कहते हैं–

"देखिये हम लोगों को जाना नहीं था पाकिस्तान। पाकिस्तान के लिये सिवाय पंजाब के और कुछ नहीं था। यू.पी. के लोगों को उससे कुछ ख़ास फायदे की सूरत नहीं नज़र आती थी। लेकिन लोगों के दिलों में वह बिठा दिया गया था कि आज़ादी के बाद हमारी यहां कोई 'पोजीशन' नहीं रहेगी। और जब यह बिठा दिया गयां था तो जाहिर है हमारी भी हमदर्दी उन लोगों के साथ हो गयी।"

यह पूछने पर कि आज आप अपने आपको कहां पाते हैं वह जवाब देते हैं– "देखिये हमारा पहले भी ख्याल था कि आज़ादी ऐसी सूरत में मिलेगी जब हमारी 'पोजीशन' हिन्दुस्तान में कुछ रहेगी नहीं हम लोग दोयम दर्जे के नागरिक होंगे। हम लोग दोयम दर्जे के नागरिक होंगे (उनकी आवाज़ में सहसा बहुत दर्द उमड़ पड़ता है) वही रहा बहुत दिनों तक। अब थोड़ी कमी आयी है। यह बहुत ज़रा सा। मामूली सी आदमी भी आकर कह देता है– "जाओ पाकिस्तान जा कर रहो (एकदम भावुक होकर) तो कितना बुरा लगेगा हमें।" (यह बात कहते–कहते उनका गला एकदम भर आता है)

इस तरह आज़ाद भारत में 94–95 वर्षीय बूढ़ा मुसलमान जो अधुनातन पैमानों मे एक सफल व्यक्ति की हैसियत से जिया– वह अपने जीवन के अन्तिम समय में भी यह पीड़ा लिये हुए है कि इस देश में उसने सारी ज़िन्दगी एक दोयम दर्जे के नागरिक के रूप में बिताई है। कितनी कठिन है यह पीड़ा। व्यक्ति की इस पीड़ा का सामान्यीकरण किया जाये तो एक बड़े समुदाय की अजनबियत का अहसास किया जा सकता है। देश के आम लोगों की तरह इलाहाबाद में भी आम मुसलमानों की भूमिका ताके बनो देश के प्रति परन्तु अन्तिम समय आते–आते आज भी वह विभाजित भावना लेकर जी रहे हैं। बढ़ते हुए राष्ट्रवाद ने देश के सभी सामान्य नागरिकों की तरह यहां का मुसलमान भी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ खड़ा हो रहा था। अन्य सामान्य नागरिकों की तरह उसने भी राष्ट्रीय आन्दोलन में भरपूर भूमिका अदा की सिर्फ पुन्नू लाल सरीखे अपवाद हैं जिन पर राष्ट्रीय आन्दोलन कोई प्रभाव नहीं छोड़ पाया। विभाजन का विष मुस्लिम समुदाय के मनोविज्ञान को एक खास बिन्दु पर पहुंचा चुका था।

इसी तरह राष्ट्रीय आन्दोलन में औरतों ने भी हिस्सा लिया। अनेकों औरतें जेल गई। राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्यधारा में हिस्सेदारी करने वाली ज्यादातर वही औरतें थीं जो पढ़ी लिखी, मध्यवर्गीय या उच्चमध्य वर्गीय थी या फिर जिनके पतियों ने आन्दोलन में सक्रिय हिस्से–दारी की थी। आनन्द भवन से जुड़ी महिलाओं ने राष्ट्रीय आन्दोलन में हिस्सेदारी की। महिलाओं की चेतना बढ़ाने के उद्देश्य से इलाहाबाद से 'स्त्री दर्पण' पत्रिका निकली। उसके सम्पादन संचालन में रामेश्वरी

नेहरू, रूप कुमारी नेहरू, कमला नेहरू तथा मुख्यत. उमा नेहरू ने व्यापक सहभागिता की।[21] यह महिलायें आन्दोलन की गतिविधियों में भी बढचढ़ कर हिस्सा लेती थीं। दूसरी तरफ एकदम अनपढ़ रामादेवी[22] 16 वर्ष की उम्र से अपने पति के साथ आन्दोलन में सक्रिय हिस्सेदारी करती रहीं। उनके पति ने उनका पूरा सहयोग किया।

वहीं हैं स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी रामरानी निषाद[23] आज़ादी की लड़ाई लड़ते हुए वह जेल भी गई थी। वह इलाहाबाद के विख्यात सेनानी सीताराम निषाद की पत्नी हैं। सीताराम निषाद और राजरानी निषाद दोनों आज़ादी की लड़ाई में हिस्सा ले रहे थे। परन्तु सीताराम अपनी पत्नी और बच्चों पर भरपूर कहर ढाते थे। उन्होंने अपनी 'रामकहानी' छपवाई है। उसमें उनके बेटे चन्द्रशेखर निषाद बताते हैं– "पिताजी काफी साइकिल चलाते थे और इतना अधिक परिश्रम करते थे कि रात बिना पैर दबाये हम सुदामा (छोटा भाई) और अम्मा कभी सो नहीं पाते। कभी–कभी तो साइकिल साफ न करने के कारण अम्मा को बहुत मार पड़ती थी और रात 11–12 बजे तक खूब मारते। मुझे याद है हम और सुदामा चौरी के नीचे छिप जाते थे। जितना अम्मा को प्यार करते थे सम्मान करते थे, उससे कहीं ज्यादा मारते थे।[24]

यह है भारतीय आज़ादी की लड़ाई और भारतीय समाज का अन्तर्विरोध। आज़ादी की लड़ाई में शरीक होने वाला व्यक्ति अपने घर में ही पत्नी और बच्चों के साथ ऐसा व्यवहार का रहा था। जबकि राजरानी निषाद स्वयं कई बार जेल गईं और आजादी की लड़ाई में बराबर हिस्सा लेती रहीं। फिर भी घर मे अपने ही पति से पिटती रहीं। गांधी जी के आन्दोलन में भरपूर हिस्सेदारी के बावजूद उनकी अपनी जिन्दगी में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं आया।

स्वतन्त्रता आन्दोलन में आम औरतों ने हिस्सा तो लिया किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन की सीमाओं के चलते औरतों की आज़ादी सम्भव नहीं थी। राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ अपने अन्तर्विरोधों के चलते किसान मजदूर के सवाल या अछूतों के सवाल ने जैसा रास्ता अपनाया स्त्रियों के सवाल ने वैसा रास्ता नहीं अपनाया।[25] वैसे भी औरतों की आज़ादी का प्रश्न राष्ट्रीय आन्दोलन की कार्य सूची में नहीं था।

यूरोप में बैरिस्टरी की ऊंची शिक्षा पाकर भी गांधी भारतीय स्त्रियों की दशा में सुधार लाने और उनके लिये सीता, द्रौपदी और दमयती के आदर्श को मानने के पक्षपाती थे।[26] गांधी जी कहते थे कि "स्त्रियां पढ़लिखकर नौकरी या व्यवसाय करें इसमें मेरा विश्वास नहीं हैं।" स्त्रियों के सवाल पर भी गांधी जी ने समझौता परस्ती का रवैया अपनाया।[27] मुसलमान एवं औरतों के अतिरिक्त इलाहाबाद से फारवर्ड ब्लॉक तथा आई.एन.ए. के संघर्ष में भी लोगों ने हिस्सा लिया।[28] आई.एन.ए. की लड़ाई में हिस्सा लेने वाले ज़्यादा तर लोग वही थे जो द्वितीय विश्वयुद्ध में हिस्सा लेने के लिये अंग्रेजों की फौज के रूप में सिंगापुर गये थे। वहां पर वह बाद में 'इंडियन नेशनल आर्मी' में शामिल हो गये। अर्थात् परिस्थितियों ने उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन में हिस्सा लेने को बाध्य किया। साथ ही नेता जी सुभाष चन्द्र बोस का सशक्त नेतृत्व उनमें जोश का संचार कर रहा था। साक्षात्कारों से एक महत्वपूर्ण बात यह स्पष्ट होती है कि कांग्रेस एवं आई.एन.ए. से जुड़े लोगों की भाषा एवं स्वर दोनों में अन्तर होता है। कांग्रेस से जुड़े अधिकांश लोग "मैं" की भाषा में बात करते हैं। जबकि आई.एन.ए. के लोग 'हम' की भाषा में बात करते हैं। एक जुझारू और अनुशासित संघर्ष उनके व्यक्तित्व में दृढ़ता लाता है। इस तरह राष्ट्रीय आन्दोलन स्वयं में अनेको प्रवृत्तियों को समेटे हुए था। परिस्थिति एवं चेतना के अनुरूप लोगों की उसमें हिस्सेदारी बन रही थी। परन्तु ऐसी भूमिका असंगठित और बिखरी हुयी थी। छोटी-मोटी अपनी तमाम हिस्सेदारी के बावजूद आम जनता की मुख्य हिस्सेदारी गांधी के नेतृत्व में चलने वाले कांग्रेस के आन्दोलन में ही दृश्य है।

साक्षात्कारों से यह स्पष्ट होता है कि अन्य जगहों की तरह इलाहाबाद में भी ज़्यादा लोग कांग्रेस के आन्दोलन में शामिल हुए। ब्रिटिश शासन के अन्तिम तीन दशकों में कांग्रेस द्वारा शुरू किये गये आन्दोलनात्मक प्रचारों में जनता ने विभिन्न तरीकों से सहभागिता की।[29] राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास में एक साथ कई चीजे काम कर रही थीं। एक तरफ उपनिवेशवाद का तर्क अपनी गति से साम्राज्यवाद की चरम स्थिति की ओर बढ़ रहा था। 'श्वेत नस्लीय बोझ' का असली चेहरा सामने आ

चुका था। शोषण और अपमान चरम बिन्दु पर पहुंच चुका था। उसने प्रतिकार में जनविद्रोह का उमड़ पड़ना नितांत स्वाभाविक था। ब्रिटिश हितों और भारतीय जन के हितों के अन्तर्विरोधों में तनाव विस्फोटक होता जा रहा था। ऐसे में गांधी ने जनता को नेतृत्व एवं कांग्रेस ने मंच प्रदान किया। गांधी जन–मानस में छाते जा रहे थे। परिस्थितियों की इन्हीं मांगों ने उन्हें गांधी से महात्मा बना दिया – वरना अनायास नहीं था कि 1915 में दक्षिण अफ्रीका से स्वदेश आने वाले गांधी जी दो चार साल मे जनता के नेता बन गये। हमें गांधी के उदय की विवेचना इसी समग्र पृष्ठभूमि में करनी होगी। गांधी जी जब 1925 में दक्षिण अफ्रीका से स्वदेश लौटे थे तो भारतीय राजनीति में अपेक्षतयः अजनबी थे, लेकिन वहीं गांधी जी 1920 के अंत तक सर्वोच्च नेता का स्थान प्राप्त कर चुके थे। दक्षिण अफ्रीका में उनका आन्दोलन मुख्यतः व्यापारियों एवं वकीलों का ही था। दक्षिण अफ्रीका में रह रहे जिन भारतीयों का सम्बन्ध अभी तक भारत के विभिन्न भागों में स्थित अपने घरों से बने हुए थे, वे समस्त भारत में गांधी जी का नाम फैलाने में सहायक हुए।

अहिंसा व सत्याग्रह गांधी जी के लिये गहन रूप से अनुभूत एवं प्रयुक्त दर्शन था जिसका कुछ श्रेय इमर्सन थोरो और तोलोस्तोय को था किन्तु इसमें पर्याप्त मौलिकता भी थी। उनका विचार था कि मानव जीवन का लक्ष्य सत्य की खोज है और चूंकि कोई भी आन्दोलन सत्य को पा लेने का दावा नहीं कर सकता, अतः किसी व्यक्ति की सत्य को अपनी अनिवार्यतः आंशिक समझ को हिंसा द्वारा दूसरों पर लादना पापपूर्ण है। राजनीतिज्ञ के रूप में और केवल संत के रूप में ही नहीं, गांधी जी व्यवहार में कभी–कभी इस मामले में समझौता भी कर लेते थे और उनका बार–बार इस बात पर बल देना कि अन्याय के समक्ष कायरतापूर्ण समर्पण करने से हिंसा का मार्ग अपनाना कहीं अच्छा है, उनके सिद्धान्त की व्याख्या करने में बड़ी नाजुक समस्यायें उत्पन्न कर देता है। किन्तु इतिहास की दृष्टि से इस वैयक्तिक दर्शन से कहीं अधिक महत्वपूर्ण था वह ढंग जो इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली नियंत्रित जन भागीदारी को सामाजिक रूप से निर्णायक वर्गों के हितों एवं भावनाओं में

वस्तुनिष्ठ ढंग से जोड़ता था। गांधी जी के पूर्ववर्ती भारतीय राजनीतिज्ञ नरमदलीय 'भिखमंगी' नीति और व्यक्तिगत आतंकवाद के बीच ढुलमुलाते रहते थे। इसका कारण यह था कि अनियंत्रित जनान्दोलनों के प्रति वह सामाजिक रूप से भयभीत थे। गांधीवादी पद्धति व्यापारी वर्गों के साथ ही कृषकों की अपेक्षतया समृद्ध एवं स्थानीय प्रभुतासम्पन्न भागों को भी स्वीकार्य थी। ये वे लोग थे जिन्हें राजनीतिक संघर्ष में उच्छृंखल एवं हिंसक सामाजिक क्रांति में परिवर्तित हो जाने से पर्याप्त हानि उठाने का भय था। कुल मिलाकर गांधी जी एवं गांधीवादी कांग्रेस ने जिस अनिवार्यतः एकताकारी और छतरीवाली भूमिका को अपनाया था, उसके केन्द्र में अहिंसा का हीन सिद्धान्त था। इस भूमिका के तत्व थे आंतरिक सामाजिक सघर्षो में मध्यस्थता करना, विदेशी शासन के विरूद्ध संयुक्त राष्ट्रीय आन्दोलन में बड़ा योगदान करना, किन्तु साथ ही जिसमें कभी–कभी पीछे भी लौटना पड़ता था, और जिसके फलस्वरूप कभी–कभी भारी धक्के भी लगते थे।[30]

गांधी एवं कांग्रेस ने मिलकर अपेक्षाकृत आसान आन्दोलन की रूपरेखा लोगों के सामने रखी, जिसमें लोगों के लिये अपनी चीज़ों को महफूज रखकर राष्ट्रीय आन्दोलन में हिस्सेदारी करना आसान था। यद्यपि कालांतर में जब आन्दोलन संघनित होने लगा तो लोगों ने अपूर्व बलिदान भी दिया।

तथापि गांधीवादी आन्दोलनों के प्रचण्ड विस्तार की व्याख्या केवल इसी आधार पर नहीं की जा सकती कि व्यक्तिगत रूप से गांधी जी क्या सोचते थे, उनके आदर्श क्या थे, या वे वस्तुतः क्या करते थे। इस बात की भी आवश्यकता है कि अफवाहों की भूमिका को समझा जाये वह भी ऐसे समय में जो मुख्यतः निरक्षर था और तीव्र तनावों एवं दबावों के दौर से गुज़र रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने दैन्य और आशा के कारण भारत के विभिन्न वर्गों में लोगों में अपने मन में गांधीजी की अपनी–अपनी छवियां बना ली थीं, विशेष रूप से आरम्भ में जब अधिकतर लोगों ने दूर से उनकी एक झलक भर देखी थी या उनकी आवाज़ भर सुनी थी या उनके चमत्कारी पुरूष होने की कहानी मात्र सुनी थी।[31] पीरों–फकीरों पर विश्वास करने वाले इस देश

की जनता ने गांधी में भी दैवीय शक्ति आरोपित कर दी। 25 मार्च 1925 को ... भोलानाथ मालवीय का कहना है – "जब हम लोग बच्चे थे तो यही समझते ... गांधी जो ईश्वर हैं।"[32]

गांधी जी के परम भक्त 90 वर्षीय सीताराम निषाद[33] अपने ... बेपनाह मुहब्बत करते हैं। पूरे दारागंज मुहल्ले मे उनका नाम पूरे सम्मान ... वयोवृद्ध स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी के रूप मे लिया जाता है। आज भी वह ... खिलाफ एक शब्द नहीं सुन सकते। गुस्से मे आकर वह गाली गलौज करने ... वह अतीत को हर क्षण अपने में जीवित रखते हैं अपने घर को उन्होंने ... आश्रम' का नाम दिया है और आज भी वह 26 जनवरी और 15 अगस्त उत्सव ... रूप में मनाते है। बातचीत करते–करते वह अचानक जोश में आ जाते हैं वह ... है –

"एक दफा तो हम लोगों के घर के पास नीम लगा था, उस पर सफे... कुछ लगा था। सब कहने लगे कि गांधी जी ने ऐसी कृपा की है कि नीम में भ... होने लगी है। लोग देखने के लिये आते। तो ऐसी कृपा थी, ऐसा भाव था।"

इस तरह अफवाहों ने भी गांधी की अलग छवि बनाई थी। महात्मा ... की कृपा से कुएं मे पानी निकल आया था, बीमारी ठीक हो गई, यह सब तो आम ... थीं इसका विस्तार यहा तक जाता था कि महात्मा गांधी की कृपा से ही ... मिल जायेगा।

शाहिद अमीन ने 'गांधी का महात्म्य गोरखपुर 1921–22' नामक ... समकालीन लोकविश्वास के आइने में महात्मागांधी की छवि के रेखांकन की ... कोशिश की है।[34] जनश्रुतियों में बिखरी अनेक कहानियों को उद्धृत करते हुए उन्होंने गांधी की लोकस्मृति में बसी तस्वीर को उकेरने का प्रयास किया है। उल्लेखनीय है कि अपने जीवन काल में ही गाधी लोककथाओं एव लोकगीतों में शामिल हो गये थे। भारत जैसे समाज में उनको महात्म्य मिल जाना आसान था। एक तरफ जनता ... अपने असतोष और तनाव में खिंचाव आता जा रहा था। दूसरी तरफ राष्ट्र...

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां भी उनके पक्ष में खड़ी थीं ऐसे में उनको आवश्यकता थी एक ऐसे नेता की जो उनके विश्वासों को पूरा कर सके। गांधी जी उस अलौकिक ईश्वरनुमा विश्वास को पूरा कर रहे थे– और जिस तरह का समाज था उसकी पूरी मान्यताओं को अक्षुण्ण रखते हुए उन्होंने समाज के मनोनुकूल आन्दोलन का दर्शन रखा इसलिये इलाहाबाद सहित पूरे देश में स्थानीय लोगों ने हिस्सा लिया। श्री गया प्रसाद निगम[35] कांग्रेस के पैम्फलेट शहर तथा गांव–गांव में बांटते थे। श्री गया प्रसाद निगम राष्ट्रीय आन्दोलन में अपनी हिस्सेदारी के प्रति सचेत हैं। वह राष्ट्रीय आन्दोलन की लहर में राष्ट्रीय सघर्ष के साथ हुए। मुट्ठीगंज के निवासी 78 वर्षीय शारदा प्रसाद[36] सेवाप्रेस में नौकरी करते थे। बाद में उन्होंने सन् 36 में अपना खुद का प्रेस लगाया। उसमें वह कांग्रेस का बुलेटिन छापते थे। इससे उन्हें पूरा पैसा भी नहीं मिलता था। पुलिस बार–बार उन्हें पकड कर ले जाती। उन्होंने पुलिस में बहुत मार खाई थी। वह कहते है –

"आज भी जब पुरवइया चलती हैं तो बदन में दर्द होता है।"

शहर में गांधीवादी आन्दोलन का प्रभाव काफी था। शारदा प्रसाद बताते हैं– "अरे यहां तो लड़ाई बस ऐसे ही होती थी कि शराब की दुकानों पर पिकेटिंग करो, विदेशी कपड़ा जहा बिकता है वहां पिकेटिंग करो। विलायती कपड़ा इकट्ठा करके उसे जला दो। यही लड़ाई चलती थी। जुलूस निकलता था तो उसमे सब इकट्ठे होते थे। भाषण हो रहा है वहा सुनते थे।"[37]

जनता की इस भूमिका की पुष्टि अन्य साक्षात्कार भी करते हैं। गांधीवादी आन्दोलन में जनभूमिका के यही प्रचलित तरीके थे। इन्हीं तरीकों के इर्द–गिर्द जनता इकट्ठी हुयी। जनवरी सन् 1908 में पैदा हुए श्री बेनीमाधव गुप्ता[38] चौक मुहल्ले का प्रसिद्ध लोकनाथ गली में रहते थे (हम जब दूसरी बार उनसे मिलने गये तो उनकी मृत्यु हो गई थी) बेनीमाधव गुप्ता बेहद गरीबी में पले थे। वह तीन वर्ष के थे तभी उनके पिता की मृत्यु हो गई थी। मां ने मेहनत करके बड़ी–पापड़ बेचकर उनका पालन किया था। वह दर्जा सात तक पढ़े थे। दस–बारह साल के थे तभी वह 1921

में असहयोग आन्दोलन से कांग्रेस के करीब आये और फिर आजीवन कांग्रेसी रहे। उन्होंने असहयोग से लेकर नमक सत्याग्रह आदि कांग्रेस आन्दोलन में हिस्सा लिया। कांग्रेस के चार आने के मेम्बर बने। कांग्रेस के लिये लड़ते हुए वह जेल गये। बाद में वह राजनीतिक बन्दियों के साथ जेल भेज दिये गये। उन्हें इस बात का बहुत गर्व है–

"पैर में बेड़ियां पड़ गई पचासों के। यह खबर तमाम शहर में फैल गई। घर के लोग, मित्र लोग तमाम जनता स्टेशन पर पहुंच गई और हम लोगों का माल्यार्पण करके पूरी–कचौड़ी मीठे फल से स्वागत किया। जब ट्रेन छूटने लगी तो बड़ा चीत्कार समय था। लोगों की आंखों से आंसू बह रहे थे।"

इस तरह शहर की जनता भावनात्मक रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ जुड़ चुकी थी।देश के नाम पर जेल जाने वाले को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। लोग अपने–अपने तरीके से स्वतन्त्रता आन्दोलन में अपनी भूमिका निभा रहे थे। सन 1916 में जन्मे सुन्दरलाल आजाद[39] भी चौक क्षेत्र में रहते हैं। प्रभातफेरी, पिकेटिंग करना, जुलूस में जाना, मीटिंग में जाना आदि में हिस्सा लेते थे। राष्ट्रीय आन्दोलन में उनकी सहभागिता की उल्लेखनीय बात थी कि वह प्रभातफेरी के पूर्व लोगों को सुबह जगाने के लिये बिगुल बजाते थे। वह बिगुल आज भी उनके पास है। प्रभातफेरी में वह लोग देशभक्ति के गीत गाते हुए मुहल्लों में चक्कर लगाते थे। प्रभातफेरी में तकरीबन 40–50 लोग रोज़ होते थे।[40] वह गाते हुए चलते थे–

"मुर्दा भारत को जिला जायेंगे मरते–मरते
नाम ज़िन्दों में लिखा जायेंगे मरते–मरते
हमको कमज़ोर समझ बैठे हमारे दुश्मन
उनका भी अभियान मिटा जायेंगे मरते–मरते'

इसके अतिरिक्त 'सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में हैं', 'मेरा रंग दे बसंती चोला', 'झण्डा ऊचा रहे हमारा' इस तरह के देशभक्ति पूर्ण गाने वह लोग गाते थे। राष्ट्रीय भावना की व्यापकता इस बात से समझ में आती हैं कि बच्चों के खेल में भी इसकी व्याप्ति हो गई थी। श्री बेनीमाधव गुप्ता बहुत रोचक तरीके से बच्चों के एक

खेल का हवाला देते हैं–

"प्यारे भाई –

हा भई हा –

जेल चलोगे ?

क्यों भाई क्यों –

मिल जायेगी

क्या भाई क्या –

आज़ादी –

(फिर सब बच्चे मिलकर चिल्लाते)

बाह भई वाह ! "

यानी आज़ादी को समझे बगैर 'आज़ादी' की कामना से बच्चे भी जुड़े। वह भी अपने–अपने तरीके से इस भावना का इजहार करते थे। वह अपने अपने पसंदीदा आदर्शों की तस्वीरें खरीदते थे।[41] 87 वर्षीय जगदीश नरायण द्विवेदी[42] आठवीं कक्षा तक पढ़े हैं। उन्होंने सन 32 के लगानबन्दी आन्दोलन से राष्ट्रीय आन्दोलन मे हिस्सेदारी करनी शुरू की। व्यक्तिगत सत्याग्रह में भी उन्होंने हिस्सेदारी की। इसी सिलसिले में उनका घर से सम्पर्क खत्म हो गया था। सन 42 में वह बनारस चले गये थे। वहा वह रिक्शा चलाकर पेट पालते थे, और आन्दोलन की गतिविधियो मे हिस्सा लेते थे। वह बताते हैं–

"रिक्शा चलाना वहीं बनारस में सीखा था। एक मुसलमान था, बिचारा हमें अपने घर मे रख करके खाना भी खिलावै और रिक्शा चलावै भी बतावै। हम का करत रहे कि पीठ पर उल्टा करके पोस्टर लगा लेते थे। फिर दीवार से जाकर सट जाते थे तो पैम्फलेट दीवार से चिपक जाता था। एक दिन चिपका रहे थे कि पकड़े गये।"

इस तरह अनेकानेक तरीके से अमीर–गरीब छात्र, स्त्री पुरूष सभी लोग अनेकों तरीकों से राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े। ढेर सारे लोग अपने घरों से बाहर निकले तथा कांग्रेस, गांधी जी एवं राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति अपनी आस्था प्रदर्शित की।

इलाहाबाद तथा देश की अधिकांश जनता कांग्रेसी एवं गांधीवादी आन्दोलन के साथ जुड़ी। इस तरह राष्ट्रवादी फिज़ा ने लोगों में देशभक्ति की भावना भरी। इलाहाबाद का सम्बन्ध देश के अनेक बड़े नेताओं से था। कांग्रेस की गतिविधियां बहुत तीव्र होती गई थी। आनन्द भवन राष्ट्रीय आन्दोलन के केन्द्रों में से एक था। राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण फैसले यहां से लिये गये। परीक्षापरोक्ष रूप से कांग्रेस की इन गतिविधियों ने जनता की भूमिका का कारण बनी। इसके अतिरिक्त बड़े नेताओं की आम सभाओं ने भी लोगों के साम्राज्यवाद विरोधी भावना उत्पन्न करने में सहायता प्रदान की। मुख्य रूप से गुलामी की वस्तुगतता ने लोगों को राष्ट्रप्रेम के लिये प्रेरित किया। और इसी आधार पर लोगों की भूमिका भी इसमें बनी।

राष्ट्रीय आन्दोलन की एक दूसरी प्रमुख धारा, वामपंथी आन्दोलन की थी जो आगे चलकर इलाहाबाद शहर में भी बहुत प्रबल रूप से उभरी और विभिन्न लोगों ने विशेषतौर पर प्रबुद्ध छात्रों ने इसमे हिस्सेदारी की। साक्षात्कारों मे भी उसके पर्याप्त साक्ष्य मिलते हैं। क्रांतिकारी आन्दोलन की एक आधार भूमि इलाहाबाद में पहले ही बन चुकी थी। सन् 1934 तक अखिल भारतीय स्तर पर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन कुछ हद तक बन चुका था जिसकी पूरी छाप इलाहाबाद में भी पड़ रही थी।[45] विश्वविद्यालय मे पढने वाले छात्र वामपंथी विचारधारा के करीब आ रहे थे। 1933 के बाद से ही कम्युनिस्टो के अलग--अलग गुटों के बीच एक विशेष प्रकार का सम्पर्क बढ़ने लगा था। 1934–36 तक यह कार्य बहुत तेजी से बढ़ता गया। 1936 मे अखिल भारतीय काग्रेस पार्टी का लखनऊ में सम्मेलन हुआ। उसी समय अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी भी केन्द्रीय कमेटी बैठक भी लखनऊ में ही हुयी। इस बैठक में हिन्दुस्तान की सारी परिस्थितियों पर गम्भीरता पूर्वक विचार करके कम्युनिस्ट पार्टी को संगठित करने तथा उसका विस्तार करने के सम्बन्ध में भी महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये। इस बैठक में ही पॉलित ब्यूरो का चुनाव हो गया। 1936 की यह बहुत ही कामयाब कम्युनिस्ट कांफ्रेस थी। इसमें कामरेड पी.सी. जोशी को महासचिव चुना गया। पोलित ब्यूरो के तीन सदस्य चुने गये कामरेड पी. सी. जोशी कामरेड अजय घोष

तथा कामरेड रूद्रदत्त भारद्वाज।

पोलित ब्यूरो के एक निर्णय के अनुसार यू.पी. में काम शुरू हो गया। कामरेड भारद्वाज ने दौरे शुरू कर दिये। अपने दौरे के सिलसिले में भारद्वाज इलाहाबाद पहुंचे और युवकों से सम्पर्क साधना शुरू किया जो समाजवाद की ओर आकर्षित हो चुके थे।

उस समय जब गांधी इरविन समझौते के बाद महात्मा गांधी ने अपना असहयोग आन्दोलन वापस ले लिया तो सारे भारत में यह शंका जाहिर की जाने लगी कि गांधी जी की नीतियो पर चलकर आज़ादी मिल भी जायेगी या नही। इन तौर तरीकों के चलते हम आगे कैसे बढ़ेंगे क्योंकि जब आन्दोलन में पूरी जनता जुड़ती है तो कांग्रेस आन्दोलन वापस ले लेती है और इन लोगों का उत्साह ठंडा पड जाता है। 1921 से लेकर 1932–33 के आन्दोलनों में यही हुआ।

1934 तक भारत में कम्युनिज़्म और समाजवाद के सिद्धान्तों को राजनैतिक धारा से जोड़ने के लिये काफी आधार तैयार हो चुका था। लोग काफी बड़े पैमाने पर भावनात्मक रूप से जुड़ने लगे थे। आर. डी. भारद्वाज के नेतृत्व में इलाहाबाद में कम्युनिस्ट पार्टी का काम शुरू कर दिया गया था। रमेश सिन्हा, हर्षदेव मालवीय सक्रियता पूर्वक इलाहाबाद में कम्युनिस्ट पार्टी के संगठन को बनाने का काम कर रहे थे। इसके अतिरिक्त श्री जेड. ए. अहमद, हाजरा बेगम, सज्जाद ज़हीर इस ओर सक्रिय थे। श्री रमेश सिन्हा एक शिक्षित कायस्थ परिवार में पैदा हुए। उनके चाचा बी. पी. श्रीवास्तव इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रोफेसर थे। रमेश का परिवार प्रगतिशील और राजनीति में पूरी रूचि रखने वाला था इसलिये उनके ऊपर राजनीति का असर परिवार से भी पड़ गया था, जो बढ़ते–बढ़ते उनको आतंकवादी आन्दोलन की तरफ खींचने लगा था। उसी समय इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उनकी भेंट बलिया के विश्वनाथ प्रसाद मर्दाना से हुयी जो उनके सहपाठी होने के साथ ही कम्युनिस्ट विचारधारा से लैस थे। उन्होंने रमेश को समझाया कि हम दोनों के विचार तो वामपक्षी हैं लेकिन मैं इससे सहमत नहीं हूँ कि आतंकवादी तरीका कभी सफल हो सकता है।

जनता के सामने समाजवाद और कम्युनिज़्म के अलावा आज़ादी हासिल करने का कोई दूसरा रास्ता नहीं है। काफी तर्क देकर मर्दाना ने उनका आतंकवादी तहरीक से दिमाग मोड़कर कम्युनिज़्म की तरफ कर दिया। विश्वनाथ प्रसाद मर्दाना ने रमेश सिन्हा को कामरेड पी.सी. जोशी से मिला दिया जो उस समय इलाहाबाद में ही थे। इसके साथ–साथ मेरठ कांस्पिरेसी केस से छूटे एक अंग्रेज कम्युनिस्ट 'हैचिन्सन' से भी मिलाया। रमेश के दिमाग पर इन दोनों नेताओं का बहतु बड़ा प्रभाव पड़ा और वह कम्युनिस्ट विचारों के मजबूत समर्थक हो गये। इसके बाद रमेश की दोस्ती हर्षदेव मालवीय से हुयी। ये दोनों लोग एक ही क्लास में साथ–साथ पढ़ते थे। राजनैतिक बातचीत में दोनों की विचारधारा एक ही साबित हुयी जिससे दोनों में प्रगाढ़ मित्रता हो गई और दोनों ने एक ग्रुप बनाकर इलाहाबाद के छात्रों में कम्युनिस्ट पार्टी का रूम बनाने का काम शुरू कर दिया और एक छोटा सा केन्द्र भी बना लिया। कुछ ही दिनों में इन्होंने छात्रों और मजदूरों में काफी सम्पर्क पैदा कर लिये तथा विभिन्न वर्गों में धीरे–धीरे कम्युनिस्ट पार्टी के प्रभाव को फैलाना शुरू कर दिया।

हर्षदेव मालवीय इलाहाबाद के पुराने और चर्चित परिवार में पैदा हुए थे जिसकी शहर में काफी इज़्ज़त थी। यह परिवार था महामना मदनमोहन मालवीय का जिसकी शोहरत पूरे हिन्दुस्तान में थी। हर्षदेव उन्हीं के नाती थे। इनका भी अपने परिवार से ही राजनीतिकरण हो गया था। 15–16 वर्ष की आयु में ही इन्होंने छात्र आन्दोलनों मे हिस्सा लेना शुरू कर दिया था। इनके पिता जी कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ता थे। चूंकि इनके ऊपर अपने पिता जी का प्रभाव था इसलिये कांग्रेस का भी असर इनके दिमाग पर था। जेड. ए. अहमद लिखते हैं– "मेरे इलाहाबाद आने से पहले ही सज्जाद जहीर और डॉ. अशरफ, हर्षदेव मालवीय और रमेश सिन्हा की जोड़ी से सम्पर्क कर चुके थे। अशरफ और सज्जाद ज़हीर ने इनसे इलाहाबाद पहुचने के बाद परिचय करवाया। एक रात हम सबने गुप्त बैठक करके यह चर्चा की कि कम्युनिस्ट पार्टी को बनाने के लिये यह काम कैसे और कहां से शुरू किया जाये। हम लोगों को महसूस होने लगा था कि हमारे नाम का काफी असर पड़ रहा है। अगर यह काम और

राजनीतिक शिक्षा का काम तेजी से बढ़ता गया तो बहुत जल्द ही इलाहाबाद में कम्युनिस्ट पार्टी की एक मजबूत कमेटी बनकर तैयार हो जायेगी।"

इस तरह से आर. डी. भारद्वाज के नेतृत्व में इलाहाबाद में पार्टी को बनाने का काम शुरू कर दिया गया। काम आगे बढ़ने लगा और पार्टी में नये–नये युवक आने लगे जिसमें शिवदत्त सिंह चौहान (आगरा) महादेव नारायण टण्डन (आगरा) और भट्टाचार्य आदि प्रमुख थे जो पार्टी को मजबूत और विकसित करने में काफी सक्रिय भूमिका निभा रहे थे। इन साथियों ने तीन–चार महीने में ही इलाहाबाद के बैराने मुहल्ले में गुप्त रूप से पार्टी का एक कार्यालय भी स्थापित कर लिया यह कार्यालय पार्टी का एक ऐसा मजबूत केन्द्र बन गया जिसके जरिये अन्य जिलों से भी सम्पर्क करके पार्टी कमेटियों को मजबूत कर उनका विस्तार किया गया ।[44]

इस बात की पुष्टि करते हैं कामरेड जियाउल्हक[45] जो आज भी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े हुए हैं और शहर की बुद्धिजीवी और सामाजिक गतिविधियों में अग्रणी रहते हैं– एक सम्पन्न परिवार से ताल्लुक रखने वाले जियाउल्हक ने 1940 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी. ए. किया था। वह बताते हैं–

"40 में इम्तहान जिस दिन खत्म हुआ उसीदिन हमको सी.पी. आई की अण्डरग्राउण्ड मशीनरी ने 'कान्टैक्ट' किया कि हमें कोई काम देना चाहते हैं और आज बिल्कुल जन कार्यवाइयों में हिस्सा न लीजिये। जो हम कहें वही करिये। हमने कहा ठीक है तो उन्होंने हमको कुरियर बना दिया यहां पर पार्टी के एक बहुत बड़े नेता रहते थे। वह पालिट ब्यूरो के मेम्बर थे– कामरेड आर. डी. भारद्वाज वह यहां छुप कर रहते थे। जो पब्लिक सर्विस कमीशन के सामने एक बंगला था उसका एक हिस्सा उन्होंने कोई एक वकील थे सुलेमान साहब, उनका बड़ा सा बंगला था उसका एक हिस्सा उन्होंने किराये पर दे दिया था और कामरेड भारद्वाज उसी में रहते थे। दिन भर वह वहां रहते थे रात को शायद कभी–कभी निकलते हों। ज़ाहिर है उनके पीछे पुलिस लगी हुयी थी और उनके ऊपर ईनाम भी था। मुझे उनके लिये यह काम दिया गया कि आप दिन में उनके यहां जाइये और वह डाकपत्र वगैरह जो दें वहां ले लीजिये,

उन्हें एक जगह थी वहां पहुंचा दीजिये और उनकी जो उनकी छोटी–मोटी ज़रूरतें हों वह पूरी करिये। यह चलता रहा। इस तरह से आ गया अगस्त, नया 'सेशन' । अब मैंने एम.ए. अर्थशास्त्र में एडमिशन के लिये 'अप्लाई' कर दिया था। इस बीच कुछ 'डेवलपमेंट्स' हुए – पार्टी के लोग पकड़े गये। उस वक्त कामरेड अजय घोष आये थे बम्बई से, वह यहां कानपुर में थे। पुलिस उनके चक्कर में थीं। बहुत सघन खोज हो रही थी। उन्होंने मुझसे कहा कि इलाहाबाद छोड़ना पड़ेगा और तुमको हमारे साथ यहां, जहां हम रहें रहना पड़ेगा तो हमने कहा ठीक है हमने स्वीकार कर लिया और हम ठीक 13 अगस्त 1940 को अपना घर छोड़करके और अपने वालिद का टाइपराइटर चुराकरके चले गये। आप कल्पना नहीं कर सकते कि अब तक तो मैं एक बहुत अच्छा लड़का था। हमारे पिता को अन्दाजा गया था कि हम आई.सी.एस. वगैरह में बैठने नहीं जा रहे। हमारे मानसिक विकास के लिये उन्होंने पूरी आज़ादी दे रखी थी पढ़ने लिखने की। जो पत्रिका हम मंगाना चाहे, मंगा लेते थे। प्रेमचन्द वगैरह सब उस ज़माने में पढ़ लिया था। बहुत पढ़ता था फिर हम घर से चले आये तो हमारे परिवार के लिये बहुत बड़ा वाक्या था। वह बर्दाश्त नहीं कर पाये .... इसके बाद हम लोग लखनऊ चले गये। वहां पर कोई वकील थे उनका बड़ा घर था उन्हीं के साथ हम थे। वहां हम रहने लगे। धीरे–धीरे हमारे पिता ने भी हाथ पैर मारे। मां ने ताबीज़ गण्डा दुआ सभी कुछ किया पिता ने अपने जानने वालों में कोई एक 'कामन फ्रेंड' थे जो रफी अहमद किदवई से बहुत करीबी थे उनके पास बात पहुंचाई गई कि 'यह तो बहुत गलत बात है और अभी उसकी उमर क्या है और इसको पार्टी ने ले लिया है– यह बहुत गलत बात है, इसका आप कुछ कीजिये।' तब रफी साहब ने आर. डी. भारद्वाज को बहुत संदेश भेजे। आर.डी. भारद्वाज बहुत परेशान हुए, वह घबराने लगे कि भइया अब क्या हो। इन सब चक्कर में बहुत तनाव रहता था। अन्ततः दिसम्बर आते–आते गिरफ्तारियां हुयी। अजय घोष गिरफ्तार हो गये। बहुत 'प्रेशर' था दोनों तरफ से। रफी अहमद किदवई की स्थिति बहुत महत्वपूर्ण थी। यह बहुत रूचिकर है कि वह कम्युनिस्टों के बहुत अच्छे मित्र थे। कम्युनिस्टों से उनका सम्पर्क

था, वह मद्द करते थे। आर. डी. भारद्वाज से तो उनका बिल्कुल 'हाटलाइन' रहता था, तो उन तमाम प्रेशर से और खुद मैं कहूंगा कि मेरे अन्दर उतना बूता नहीं था, उतनी सकत नहीं थी, परिपक्वता नहीं थी उतनी राजनीतिक चेतना नहीं थी, उतनी शारीरिक शक्ति भी नहीं थी। अकेले होने के कारण बहुत तनाव था। तो मैं लगभग टूट गया। मुझे परिवार से जो संदेश मिलते थे मैं उसे महसूस करता था और मैं वहां से चला आया।"

ज़ियाउल्हक अपनी ज़िन्दगी की एक महत्वपूर्ण घटना जब बता रहे थे तो उनकी आवाज़ बेहद सघन हो गई थी। आज भी उस वाकये को वह दुहराना नहीं चाहते थे। जियाउल्हक के वालिद जमील हक एक कामयाब वकील थे और वह डिस्ट्रिक्ट कोर्ट में वकालत करते थे। घर में मजहबी माहौल था पर कट्टरता नहीं थी। वह कहते हैं – "पता नहीं उस ज़माने में लोग कट्टर होते भी थे कि नहीं ।"

सन् 1931 में पांचवे दर्जे में उनका दाखिला जी.आई.सी में हुआ। उसी समय अल्फ्रेड पार्क में चन्द्रशेखर आज़ाद को गोलीमारी गई जो स्वयं इलाहाबाद के राजनीतिक जीवन में बहुत बड़ी घटना थी। इस घटना का उनके ऊपर बहुत असर पड़ा था। उन्हें तभी पता चला कि आज़ादी का कोई सिपाही मारा गया।

"नवीं कक्षा में हमारे स्कूल में नूरूल हसन आये एक नरवानी साहब भी थे। जवाहरलाल नेहरू की जो चर्चा होने लगी थी उसकी भनक हमारे कानों में पड़ने लगी थी। 37 दिसम्बर में चुनाव हुआ। प्रांतीय स्वायत्तता वाली सरकार बनी। तो वह समय था जब काफी राजनीतिक गतिविधियां थीं – तो कोई सरोकार न होते हुए भी उससे बिल्कुल अनभिज्ञ रहना भी मुश्किल था। वह बात हमारी चेतना में आती गई। "

डॉ. आशाराम[16] जिनका आगे चलकर इलाहाबाद के बुद्धिजीवियों में प्रमुख स्थान बना। वह इलाहाबाद विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर हो गये तथा आज भी इलाहाबाद में उनका नाम बहुत सम्मान के साथ लिया जाता है। अपने ज़माने में डा. आशाराम छात्र आन्दोलन में बहुत सक्रिय हुए। वह अपने राजनीतिकरण के बारे में बताते हैं –

"कम्युनिस्ट कैसे बना यह एक 'बेसिक' प्रश्न है। हुआ यह कि जब जी. एन. झा होस्टेल में था, उनदिनों में मैं काफी धार्मिक किस्म का आदमी था। संस्कृत का विद्यार्थी था ही तो हास्टल का हवन सेक्रेटरी था। हमारे कमरे में रहते थे गिरिजाकुमार सिन्हा। वह पटना बिहार के थे। वह बहुत गज़ब के आदमी थे। 'वेरी स्वीट', (बहुत मधुर), 'सॉफ्ट स्पोकन' (मृदुभाषी) और कम्युनिस्ट थे। उन्होंने बताया नहीं उन दिनों कम्युनिस्ट 'अण्डर ग्राउण्ड' थे। प्रतिबन्धित थे वह मेरी धार्मिकता देखते थे और कोई कमेंट कर दें। फिर मैं उनसे बात करूं। अन्ततः उन्होंने 'कनविन्स' कर लिया कि धर्म पाखण्ड है (religion is fraud)। यह 'अपर क्लास' की बात है। बेवकूफ बनाते हैं और यह मेरी समझ में आ गया। चार पांच महीनों में मैं बदल गया। कामरेड थे वह । रात को चुपके से पर्चे कमरे में डाल देते थे। उस समय 'स्टडी सर्किल' लेते थे हर्षदेव मालवीय। रमेश सिन्हा भी लेते थे स्टडी सर्किल। एक स्टडी सर्किल हुआ जिसमें आर. डी. भारद्वाज आये। पी.सी.बी. में किनारे का कमरा था। उस कमरे में 8–10 युवा लोगों को आर. डी. भारद्वाज ने कम्युनिस्ट लाइन व्याख्यायित की कि किस तरह से एक बूर्जुआ जनवादी क्रांति सर्वहारा के नेतृत्व में होगी। क्योंकि बूर्जुआज़ी द्रोह करती है और समर्पण करती है। इस लिये सर्वहारा को नेतृत्व देना होगा, और हमको बहुत अच्छा लगा।"

आशाराम जी की भूमिका को पुष्ट करते हैं हरिश्चन्द्र सक्सेना[47]। इनकी पैदाइश सरकारी रिकार्ड में सन् 1926 है। अब वह बहुत वृद्ध हो चले हैं। फिर भी वह बच्चों को ट्यूशन पढ़ाते हैं। वह अपने समय के मेधावी छात्र थे। उनकी माँ स्वयं स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी थीं तथा उस ज़माने में संस्कृत तथा मनोविज्ञान में एम. ए. किया था। वह आर्यसमाजी थीं तथा पर्दा–प्रथा छुआछूत नहीं मानती थीं उन्होंने उस ज़माने में समाजवादी विचारधारा की किताबें पढ़ी थीं तब वह नई–नई आयी थीं और कुछ प्रभावित भी थीं। सन् 1930 में जाड़े के दिनों में पिकेटिंग करते वक्त उन्हें निमोनिया हो गया और उनकी मृत्यु हो गई। उस समय वह बहुत छोटे से थे। उनकी एक छोटी सी छः महीने की बहन भी थी। (मां को याद करते–करते हरिश्चन्द्र जी रोने

लगते हैं।) बदायुं के रहने वाले हरिश्चन्द्र जी की आरम्भिक शिक्षा बदायुं में हुयी। आरम्भ से ही हरिश्चन्द्र मेधावी छात्र थे। सिडनी तथा बीट्रिस वेब तथा ट्राट्स्की और रूस पर कुछ किताबें उन्होंने इण्टरमीडिएट के पहले ही पढ़ ली थीं। 11वीं क्लास में साहित्यिक सचिव के रूप में राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित बातचीत की और कालेज से निष्काषित कर दिये गये। उसी निष्कासन के दौरान उन्होंने बर्नार्ड–शॉ को पूरा पढ़ लेने के बाद 'सोशलिस्ट' साहित्य भी पढ़ लिया। रूसी साहित्य से उनके जीवन पर कुछ प्रभाव पड़ा। उनके अनुसार अभी समाजवादी आन्दोलन यहां बहुत बचकाना था। अन्ततः मन को शांत करने के लिये वह गीता का 18वां अध्याय पढा करते थे। फिर अचानक उनका निष्कासन (restication) खत्म कर दिया गया। वह प्रथम स्थान से पास हुए तथा गणित में 100 में से 100 अंक प्राप्त किया। इसके बाद इलाहाबाद विश्वविद्यालय के नाम से आकर्षित होकर उन्होंने प्रवेश लिया और पी.सी.बी. हास्टेल में रहने लगे। वह सन् 1943 में इलाहाबाद आये। उस समय समाजवादी विचारधारा विद्यार्थियों में फैल चुकी थी। हरिश्चन्द्र सक्सेना बताते हैं–

"सी.पी.आई. का पेपर आता था – 'पीपुल एज' उसको लेकर आशाराम जी आते थे। उनके बारे में सुना था कि आशाराम जी बहुत ग़रीब परिवार के हैं और कम्युनिस्ट भी हैं। उस ज़माने में कम्युनिस्टों की हूटिंग भी होती थी क्योंकि उन्होंने 42 में आज़ादी की लड़ाई का विरोध किया था।"

उस दौरान छात्र गतिविधियों के विषय में बताते हुए वह कहते हैं कि –

'उस वक्त हालैण्ड हाल या कहीं पर तय करने मीटिंग हुआ करती थी, आशाराम जी व्यवस्थित नोट्स लिया करते थे और वह 'कन्डक्ट' भी करते थे। उनका बहुत सम्मान था।" हलांकि हरिश्चन्द्र सक्सेना बताते हैं कि बाद में आशाराम जी के पीछे हटने की खबरें मिली।

महानारायण मिश्रा[48] समाजवादी सिद्धान्तों के जबरदस्त समर्थक हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान हुयी कम्युनिस्ट आन्दोलन की कमियों से दुःखी हैं। उनक़ा मानना है कि "यहां पर कम्युनिस्ट आन्दोलन मज़दूर आन्दोलन चाहता था जबकि भारत में

95 प्रतिशत किसान थे पांच फीसदी शहरी व अन्य लोग थे। ऐसे में किसान आन्दोलन न करके लेबर आन्दोलन पर केन्द्रित थे। लेबर आन्दोलन कहां–कहां था। कलकत्ता, बम्बई और कानपुर ऐसी जगहों में था। उन लोगों का ज़्यादा ध्यान उन्हीं लोगों पर था। इलाहाबाद में ज़्यादा फैक्टरियां तो थी नहीं तो यहां ज़्यादा नहीं हुआ। सिर्फ बुद्धिजीवी लोग थे। कम्युनिस्ट पार्टी में कुछ पढ़े लिखे बुद्धिमान लोग ही थे।"

हलांकि वामपथी आन्दोलन भी यहां पर कोई बड़ा आन्दोलन नहीं खड़ा कर पाया परन्तु जैसा कि जियाउल्हक बताते हैं कि प्रतिबन्धित CPI की गतिविधियां गुप्त रूप से यहां ज़ारी थीं। उत्तर प्रदेश में कम्युनिस्ट आन्दोलन के गढ़ों में से एक इलाहाबाद भी विकसित हुआं। मुख्यतः सम्पन्न घरों के पढ़े लिखे लोग ही इसमें शामिल हुए। हलांकि कुछ निम्न तथा मध्यवर्गीय लोगों की भी इसमें हिस्सेदारी बनी। कम्युनिस्ट पार्टी के प्रतिबन्धित होने के कारण उसके तत्वाधान में कोई खुला जनान्दोलन यहां पर नहीं चला किन्तु साक्षात्कारों से प्राप्त साक्ष्य पर बताते हैं कि गुप्तरूप से चल रही वामपंथी गतिविधियों में इलाहाबाद में ढेरों लोगों ने हिस्सा लिया।

वामपंथी आन्दोलन में लोगों की भूमिका की निर्धारक मुख्य रूप से विचारधारा थी। वह लोग जो एक स्तर तक चेतनशील थे और वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को समझ सकते थे। ज्यादातर वही लोग इसमें शामिल हुए। पढ़े लिखे सम्पन्न लोगों की शिरकत ही इसमें ज्यादातर बनी। परन्तु कम्युनिस्ट आन्दोलन अभी अपने शैशव में था इसलिये राष्ट्रीय आन्दोलन में इसकी कोई मुकम्मल भूमिका नहीं बन पाई।

इस तरह अनेकानेक तरीकों से सामान्य लोगों ने राष्ट्रीय आन्दोलन मे हिस्सेदारी की। साम्राज्यवाद विरोधी चेतना इतनी तीव्र हो चुकी थी कि लोग अनेकों तरह से इनकी अभिव्यक्ति कर रहे थे। लोग मन से विदेशी हुकूमत के खात्मे की इच्छा करने लगे। विदेशी शासन के प्रति नफरत अपने उरूज पर थी लोग आज़ादी चाहते थे वह चाहे जैसे आये। प्रसिद्ध शायर जोश मलीहाबादी अपनी नफरत का इज़हार इस प्रकार करते हैं–

सलामे ताज़दारे जर्मनी ऐ हिटलरे आज़म

कसम तुमको शिकस्ते फास की ऐ हिटलरे आज़म

वो बस्ती है जिसे दुनिया में हिन्दुस्तान कहते हैं

जहा बन–बन के हाकिम मगरिबी हैवान रहते हैं

जहां मजदूर मेहनत करके मजदूरी नहीं पाता

अगर पाता है, वो भी कभी पूरी नहीं पाता

यहां पर खुदगरज मक्कार गोरों की पल्टने हैं

जहां बन के हाकिम मग्रबी हैवान रहते हैं

भगत को इसलिये मारा कि जीना चाहता था वो

वतन के दुश्मनों का खून पीना चाहता था वो

मुझे भी याद है जलियानवाले बाग का मंजर

बरहना गोलियों के छातियों पे दाग़ का मंजर

ख़बर लेने बकिघंम की जो अबकी बार तुम जाना

हमारे नाम से भी एक गोला फेंकते आने।[49]

यानी लोग किसी भी कीमत पर आज़ाद होना चाहते थे। इसके लिये उनकी भावनायें संघनित हुयी और उसी के आधार पर वह राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े। जनता की इच्छाओं के इसी दबाव ने अंग्रेजो को भारत छोड़कर जाने को मजबूर किया। अगर जनता को लड़कर जीत हासिल करने का कार्यक्रम दिया गया होता तो निश्चितः जनता पूरे मनोयोग से उसमे शामिल होती। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। 42 के आन्दोलन के बाद से ही नेतृत्व समझौते के लिये पीछे हटने लगा। गांधी की लाश पर होने वाला बटवार। लाखों लोगों की लाशों पर हुआ। आज़ादी लड़कर नहीं ली गई बल्कि अंग्रेजों के उपहार स्वरूप मिली। जाते–जाते साम्राज्यवाद अपनी अन्तिम शातिर चाल चल गया और देश के दो टुकड़े हो गये। आज़ादी की लड़ाई का सबसे बड़ा नेता जो अपने जीते जी देवता बन गया था, आज़ादी के जश्न में शामिल नहीं हुआ। राजनीतिक आज़ादी तो मिली परन्तु कांग्रेस राजनीतिक रूप से असफल रही। जनता जीत गई

और नेतृत्व हार गया।

साक्षात्कारों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मिश्रित वर्गों की विशद भूमिकर वाला एक जनान्दोलन था। अन्य जगहों की तरह इलाहाबाद की जनता भी भावनात्मक रूप से इसके साथ जुड़ी। अंग्रेजी शासन की गुलामी का अहसास हर किसी को हो चुका था और सभी इससे मुक्त होना चाहते थे। वह नेतृत्व के हर आह्वान का प्रत्युत्तर देती थी। प्रभातफेरी, जुलूस, सभाओं, पिकेटिंग विदेशी कपड़ो की होली आदि कांग्रेसी कार्यक्रमों में वह शामिल होती थी। गांधीवादी कांग्रेस के कार्यक्रम के अनुसार जनता की यह भूमिका रूटीन किस्म की थी। किन्तु इसका कारण जनता में नहीं नेतृत्व में निहित था।

साक्षात्कारों से प्राप्त साक्ष्यों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वतन्त्रता आन्दोलन में जनभूमिका की एक अनवरत धारा बहती रहती थी। कभी–कभी यह धारा सतह पर आ जाती थी और कभी उफान बन कर छा भी जाती थी। आरम्भिक दौर में जनता की यह भूमिका अनुयायी की थी। वह गांधी जी को आह्वान का अनुसरण कर रही थी। विकासक्रम में यह हाशिये से बाहर आयी। और 42 के आन्दोलन में तो जनभूमिका नेतृत्व की सोच एवं महत्वाकांक्षा नेतृत्व से आगे चली गई।

1920–47 के स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौर में जनता की अनवरत सहभागिता रही। जनता नेतृत्व की अपेक्षाओं के अनुकूल जवाब दे रही थी। कभी–कभी वह उससे आगे भी बढ़ जाती थी। जबकि कांग्रेस नेतृत्व ने कभी भी किसी अखिल भारतीय विशाल, तीव्र और निर्णायक आन्दोलन की योजना नहीं बनाई। सन् 42 का आन्दोलन अपवाद है, इसमें भी जनता की अभूतपूर्व हिस्सेदारी ने जनशक्ति की संभावनाओं को सिद्ध कर दिया।

1920–47 के मध्य स्वतन्त्रता आन्दोलन छोटे–बड़े जनान्दोलनों का समुच्चय है। आन्दोलन में जनभूमिका की अनेकों अभिव्यक्तियां एवं प्रवृत्तियां सम्मिलित है। अनेकों छोटी–छोटी ऊर्जायें मिलकर एक लहर बनती गई। इन्हीं लहरों के दबाव में विदेशी शासन को पीछे हटना पड़ा। परन्तु सबसे बड़ी कमी थी कि इन जनान्दोलनों

में सातत्यता नहीं थी। न ही ऐसा हुआ कि अगला आन्दोलन पूर्व के आन्दोलन का क्रम हो और उससे अधिक तीव्र हो। हर बार जनआन्दोलन का उभार तो आता था किन्तु नेतृत्व वर्ग की समझौता परस्ती के कारण उस वेगवान उफान को पीछे हटने पर मजबूर होना पड़ना। जनता की भूमिका समर्थ थी किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन की केन्द्रीयता अक्षमता के कारण वह एक ज़ोरदार उफान का रूप नहीं ले सकी। हर बार उसे एक नये सिरे से तैयारी करनी पड़ती। तथापि स्वतन्त्रता आन्दोलन में जनता की भूमिका सारी सीमाओ को पार करके आगे बढ़ी। जनता स्वयं योजना नहीं बनाती। फिर भी राष्ट्रीय आन्दोलन में जनता की व्यापक भूमिका थी और उसके परिणाम स्वरूप ही यह आजादी संभव हुयी। उसके बगैर कहीं भी कोई भी इतिहास नहीं रचा जाता। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में भी जनता ने समग्र रूप से योगदान दिया और इतिहास निर्माण में अपनी भूमिका निभाई। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन इन्ही अर्थों में बेमिसाल जनान्दोलन है। जनता अपने संघर्ष में सफल रही। बंटवारे के रूप में राष्ट्रीय आन्दोलन के परिणाम के तौर पर राष्ट्रीय आन्दोलन एवं उसका नेतृत्व असफल रहा। किन्तु जनता ने नेतृत्व के आह्वान के अनुरूप भरपूर हिस्सेदारी की और अन्ततः जनता विजयी हुयी।

सन्दर्भ सूची

1. राम अधारकवि : इलाहाबाद के निकट झूंसी में रहने वाले मशहूर लोककवि ने यह गीत सस्वर सुनाया। उन्हें यह गीत आज़ादी के पूर्व एक 'इश्तिहार' में मिला था। साक्षात्कार मौखिक इतिहास श्रृंखला कैसेट संख्या – M2
2. एक अवधी लोकगीत
3. हीरामन तिवारी : ग्राम विधिया, तहसील मेजा इलाहाबाद इनसे साक्षात्कार हमने माघमेला के दौरान स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी के शिविर में लिया था। कैसेट सं. 13
4. राम अधारकवि – पूर्वोक्त
5. लालबहादुर वर्मा : 'वो इन्तज़ार था जिसका, ये वो सहर तो नहीं' (अहसासे आज़ादी बजरिये जुबानी तवारीख) इतिहासबोध अंक – 27 पृष्ठ 12
6. राम अवतार माली : साक्षात्कार, कैसेट संख्या 3
7. बंसीलाल : साक्षात्कार, कैसेट संख्या – M10
8. रजिया बीबी : साक्षात्कार, कैसेट संख्या –M10
9. पूर्वोक्त
10. रविन्दर कुमार : आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास पृष्ठ – 99
11. पूर्वोक्त : पृष्ठ 101
12. पूर्वोक्त : पृष्ठ 109

13. बंसीलाल : पूर्वोक्त

14. रजिया बीबी : पूर्वोक्त

15. रामा देवी : साक्षात्कार कैसेट संख्या 17

16. पुन्नू खां : साक्षात्कार कैसेट संख्या – M17

17. अबुल कलाम आज़ाद : आज़ादी की कहानी – पूर्ण संस्करण 1992 पृष्ठ 191

18. पूर्वोक्त : पृष्ठ 180

19. पूर्वोक्त

20. जुल्फेकारूल्लाह : साक्षात्कार कैसेट संख्या – M6

21. वीरभारत तलवार : 'राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्यः कुछ प्रसंग कुछ प्रवृत्तियां' नामक पुस्तक में लिखित – 'स्त्री मुक्ति आन्दोलन का आरम्भ – 'स्त्री दर्पण' पत्रिका नामक लेख से

22. रामा देवी : पूर्वोक्त

23. रामरानी निषाद : साक्षात्कार, कैसेट सं,या – M12

24. डा. रामकुमार वर्मा, पं. देवनारायण चिरजीवी शर्मा एवं चन्द्रशुखर निषाद सम्पादक मण्डल : 'सीताराम की राम कहानी' – पृष्ठ 146

25. वीरभारत तलवार : पूर्वोक्त पृष्ठ 141

26. पूर्वोक्त : पृष्ठ 146

27. पूर्वोक्त : पृष्ठ 149

28. साक्षात्कारों के आधरा पर

29. ज्ञानेन्द्र पाण्डेय :'एसेडेन्सी ऑफ कांग्रेस इन यू.पी.' पृष्ठ 154

30. सुमित सरकार : 'आधुनिक भारत' पृष्ठ 212–13

31. पूर्वोक्त : पृष्ठ 215

32. भोलानाथ मालवीय : साक्षात्कार कैसेट सं – M5

33. सीताराम निषाद : साक्षात्कार, कैसेट संख्या –M12

34. शाहिद अमीन, ज्ञानेन्द्र पाण्डेय : निम्नवर्गीय प्रसग भाग 1 पृष्ठ 184

35. गया प्रसाद निगम : साक्षात्कार कैसेट संख्या – M11

36. शारदा प्रसाद : साक्षात्कार – कैसेट संख्या 19

37. पूर्वोक्त

38. बेनीमाधव गुप्ता . साक्षात्कार कैसेट संख्या 20

39. सुन्दरलाल आज़ाद . साक्षात्कार कैसेट संख्या 20

40. बेनीमाधव गुप्ता एवं अन्य साक्षात्कारों के आधार पर

41. आर. सी. राय : गोरखपुर विश्वविद्यालय – इतिहास विभाग में रीडर – यह बातचीत रिकार्डेड नहीं है नोट्स के आधार पर

42. जगदीश नरायण द्विवेदी : साक्षात्कार कैसेट संख्या 14

43. जेड. ए. अहमद : 'मेरे जीवन की कुछ यादें' पृष्ठ 150

44. पूर्वोक्त : पृष्ठ 150–56

45. ज़ियाउल्हक : साक्षात्कार, कैसेट संख्या – M13

46. आशाराम : साक्षात्कार, कैसेट संख्या – M18

47. हरिश्चन्द्र सक्सेना : साक्षात्कार कैसेट संख्या – M7

48. महानारायण मिश्रा : साक्षात्कार – कैसेट संख्या –21

49. जोश मलीहाबादी की यह नज़्म श्री बिपिन बिहारी ने अपने साक्षात्कार के दौरान सुनाई थी। : कैसेट संख्या –15

उपसंहार

"रात के सघन अंधेरे से
जूझता सूर्य नहीं
जूझते रहे दीपक ......

- महादेवी वर्मा

इस शोध प्रबन्ध में मौखिक इतिहास के माध्यम से, हमने भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में जनभूमिका को रेखांकित करने का प्रयास किया है। इलाहाबाद की सरज़मीन ने इस अध्ययन को एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रदान की है। तमाम साक्षात्कारों ने राष्ट्रीय आन्दोलन को नई तरह से समझने के लिये एक नवीन आयाम प्रस्तुत किया। इतिहास को समझने में मौखिक इतिहास ने एक नवीन अन्तर्दृष्टि प्रदान की।

भारतीय इतिहास में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एक बेमिसाल जन आन्दोलन है। 1947 में मिली आज़ादी दो सौ वर्षों तक जनता के अथक संघर्षों का परिणाम थी। यथार्थ हमेशा बहुआयामी होता है और बहुत जटिल होता है, उस पर भी अगर अतीत का यथार्थ यानी इतिहास लिखना हो तो उसके तो अनेकों चेहरे होते हैं। इतिहास लेखन में राष्ट्रीय आन्दोलन के भी सैकड़ों आयाम हैं। प्रत्येक इतिहासकार अपनी समझ, विचारधारा एवं पक्षधरता के हिसाब से अतीत की पुनर्रचना करता है। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर हुए विपुल साहित्य पर नज़र डालने से यही समझ में आता है कि किसी घटना या अतीत के किसी कालखण्ड का 'वैसे का वैसा' चित्रण करना नामुमकिन है। भारतीय राष्ट्रवाद तथा उस पर आधारित राष्ट्रीय आन्दोलन की भी कोई मुकम्मिल तस्वीर नहीं बनती। अब तक हुए इतिहास लेखन में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतने चेहरे गड्डमड्ड हैं कि उसका कोई निश्चित चरित्र उभर कर

सामने नहीं आता है, सिवाय इसके कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन, ब्रिटिश साम्राज्यवाद विरोधी एक ऐसा आन्दोलन था जिसमें असंख्य अन्तर्विरोध अन्तर्गुथित थे।

मूलतः भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन भारतीय जनता और उपनिवेशवाद के हितों में अन्तर्विरोध का नतीजा था। यही अन्तर्विरोध उत्तरोत्तर तीव्र होता गया। अन्त आते–आते भारतीय जनता एव साम्राज्यवाद के अन्तर्विरोध इतने तीव्र हो गये कि अंग्रेजों का यहा रहना नामुमकिन हो गया। हालांकि इस अन्तर्विरोध की भी असंख्य पर्तें हैं। एक तरफ जनता और साम्राज्यवाद के अन्तर्विरोध तीखे हो रहे थे, वहीं राष्ट्रीय आन्दोलन का मध्यवर्गीय नेतृत्व सदैव इस उबाल पर पानी के छींटे डालने का काम करता रहा। अपने चरित्र मे मुख्यत. बूर्जुआ होते हुए भी राष्ट्रीय आन्दोलन में मजदूर वर्ग की आवाज भी समाहित हुयी। एक तरफ उसमें था वह हिस्सा जो ब्रिटिश साम्राज्य को तहे दिल से स्वीकार करता था तो दूसरी तरफ आदिवासी एवं किसान जो कांग्रेस के अन्दर एवं बाहर रह कर अंत तक लड़ते रहे। आन्दोलन के सबसे बड़े नेता गांधी जननायक होते हुए भी हमेशा पूंजीपति वर्ग के हितों की रक्षा करते रहे। एक तरफ असहयोग का नैतिक आदर्श था, दूसरी तरफ चौरी चौरा का सच था। राष्ट्रीय आन्दोलन में नरम गरम दोनों धारायें एक साथ प्रवाहित हो रही थी। दक्षिण पंथी व वामपथी दोनों ही साम्राज्यवाद के विरोध में लड़ाई लड़ रहे थे। राष्ट्रीय आन्दोलन ने हमे गाधी नेहरू से लेकर सुभाषचन्द्र बोस व भगतसिह की विरासत एक साथ सौंपी है। राष्ट्रवाद एव साम्प्रदायिकता दोनों ही राष्ट्रीय आन्दोलन में विकसित हो रहे थे। एक तरफ देश एकीकृत हो रहा था तो दूसरी तरफ मुस्लिम लीग, हिन्दूमहासभा और काग्रेस के परस्पर आतरिक संघर्ष भी थे। एक तरफ बढते जनसंघर्षो का दबाव था, दूसरी तरफ साम्राज्यवाद से समझौता वार्तायें थीं। देश विभक्त होकर आज़ाद हो रहा था। विभाजन राष्ट्रीय आन्दोलन की सबसे बड़ी असफलता थी। राष्ट्रीय आन्दोलन अन्त में एक खण्डित आज़ादी लेकर सामने आया, जो निर्णायक लड़ाई लड़ कर नहीं बल्कि ब्रिटिश संसद द्वारा पारित एक अधिनियम द्वारा दी गई। गोरे साहबों के स्थान पर काले साहबों को सत्ता हस्तांतरित कर दी गई। एक आधी–अधूरी आज़ादी मिली

जिसमें देश तो आज़ाद हुआ लेकिन लोग 'मुक्त' नहीं हुए। राष्ट्रीय आन्दोलन के परिणामों का सबसे बड़ा अन्तर्विरोध यही है कि भारत को स्वतन्त्रता तो मिली पर गुलामी नहीं गई। मुक्ति नहीं मिली। इस पूरी लड़ाई में देश की जनता तो जीत गई किन्तु नेतृत्व हार गया। देश में सामंतवाद तो परास्त हो गया किन्तु सामंती अवशेषों से गठजोड करके एक ऐसा पूंजीवाद सत्ता पर काबिज़ हुआ जो आने वाले पचास सालों मे पुनः साम्राज्यवाद के सामने परास्त हो गया। इस तरह भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन 'स्वतन्त्रता आन्दोलन' तो था किन्तु वह 'मुक्ति संग्राम' नही बन सका। एक स्वतन्त्र राष्ट्र तो निर्मित हुआ किन्तु आज तक हमारा देश एक मुक्त समाज नहीं बन पाया। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन से देश को तात्कालिक रूप से राजनीतिक आजादी तो दी किन्तु इसने भारतीय क्रांति को बहुत पीछे ढकेल दिया। इस तरह भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन अपने आप में असंख्य अन्तर्विरोधों का समुच्चय था। फिर भी, 15 अगस्त 1947 को मिली राजनीतिक आज़ादी भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण पड़ाव थी जहां से जनता के संघर्षो का एक नया दौर शुरू होता है।

औपनिवेशिक समाज आने से पूर्व भारतीय समाज पूर्णतः सामंती समाज था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने एक औपनिवेशिक सामाजिक आर्थिक संरचना भारत पर आरोपित की। इसमें भारत का मूलभूत रूपांतरण हुआ। इसी रूपांतरित, आरोपित संरचना से ही विखण्डित भारतीय पूंजीवाद का जन्म हुआ। औपनिवेशिक गुलामी की वस्तुगतता ने एक ओर सामंतवाद को टुकड़ों–टुकड़ों में ध्वस्त किया, वहीं दूसरी ओर राष्ट्रवाद को जन्म दिया। राष्ट्रवाद हमेशा पूंजीवादी विशिष्टता में ही जन्म लेता है। यद्यपि अंग्रेजों के आने के साथ ही इनका प्रतिरोध शुरू हो चुका था फिर भी भारत में राष्ट्रवाद की व्याप्ति अत्यन्त असमान थी। इसी असमान व्याप्ति के साथ ही भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन की व्याप्ति हुयी।

इस राष्ट्रीय आन्दोलन में मध्यम वर्ग की विशिष्ट भूमिका थी। न केवल इसका नेतृत्व मध्यवर्गीय था बल्कि यह पूरा आन्दोलन अपने चरित्र में मध्यवर्गीय था। मौखिक स्रोतो के आधार पर भी हम यह विवेचना कर सकते हैं कि भारतीय राष्ट्रीय

आन्दोलन मुख्यतः मध्यवर्गीय आन्दोलन था जिसमें यहां का सामान्य जन भावनात्मक रूप से जुड़ा। सामान्य जनता की ऊर्जा के प्रयोग के लिये राष्ट्रीय आन्दोलन के पास कभी कोई व्यवस्थित योजना नहीं थी। मध्यवर्गीय चरित्र होने के कारण उसके पास क्राति का कोई समग्र कार्यक्रम नहीं था। अपने चरित्र के अनुरूप राष्ट्रीय आन्दोलन आजीवन समझौते करता रहा। जनसघर्षों के दबाव एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों के कारण ब्रिटिश साम्राज्यवाद परास्त हो गया और विभाजन की दुःखद स्थितियों मे सत्ता हस्तांतरित हो गई। जनता की मुक्ति की आकांक्षा शेष रह गई।

जनता की इस आकांक्षा को समेटने के लिये हमने मौखिक इतिहास की प्रणाली का प्रयोग किया। मौखिक इतिहास अतीत की आवाज़ होती है। इस आवाज़ को इतिहासकार जब इतिहासलेखन के अनुशासन में निबद्ध करता है तो वह 'मौखिक इतिहास' कहलाता है। मौखिक इतिहास का सरोकार मानव समाज से होता है। इसमे हम स्रोत तलाशते हुए सामान्य जन तक जाते हैं। चूंकि इतिहास का निर्माण सदैव जन शक्ति ही करती है। अत. उनको इतिहास में रेखांकित करने के लिये हम मौखिक स्रोतों पर निर्भर करते हैं। अतीत की आवाज़ अविभाज्य रूप से वर्तमान की आवाज़ भी होती है। अतीत की यह आवाज़ रची–बसी होती है उन लोगों में जिन्होंने अतीत को करीब से देखा है, परखा है और अहसास के स्तर पर जिया है। मौखिक इतिहासकार उन्ही आवाज़ों को संकलित करता है ओर उन्हें इतिहास में जगह देता है। मौखिक इतिहास के 'फोकस' को परिवर्तित करता है, और उसे सामान्य जन पर केन्द्रित करता है।

मौखिक इतिहास इतिहास की ही एक विधा है। अक्सर उसे पारम्परिक इतिहास के विरोध में रखकर देखा जाता है। जबकि ऐसा नहीं होता है। दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं। मौखिक इतिहास, इतिहास के उन अन्तरालों को भरता है जो पारम्परिक इतिहासलेखन में छूट जाते हैं। उदाहरणार्थ भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मूलतः भारतीय जनता का संघर्ष था किन्तु सामान्य जन को रेखांकित करने का काम राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में बहुत कम हुआ। हम यह जानते हैं इतिहास का

निर्माण जनता करती है– तो उसका इतिहास लिखने के लिये सबसे महत्वपूर्ण विधा है – मौखिक इतिहास। मौखिक इतिहास, इतिहास को जनता के करीब ले जाता हैं और उसे एक मानवीय चेहरा प्रदान करने का प्रयास करता है। वह एक साथ, इतिहास के स्रोतों तथा इतिहास की रचना करता हैं तथा अपने कार्य से लोगों में इतिहास चेतना भी जगाता है।

किन्तु मौखिक इतिहास एक नाजुक उपकरण होता है। इसका प्रयोग कोई भी अपने पक्ष में कर सकता है। अतः इतिहासकार को इसके प्रयोग में अत्यन्त सावधान होना चाहिये तथा वस्तुनिष्ठता के प्रति पूरी निष्ठा एवं ईमानदारी पूर्वक काम करना चाहिये।

निश्चिततः मौखिक इतिहास की अपनी कुछ सीमायें हैं, किन्तु वह सीमायें इतिहास की सीमाओं से इतर नहीं है। मौखिक इतिहास पर सबसे बड़ा आरोप है कि मौखिक साक्ष्य अविश्वसनीय होते हैं। यह वक्तव्य अत्यन्त एकांगी है। यह बात इतिहास के किसी भी साक्ष्य के प्रति कही जा सकती है– क्योंकि कोई भी साक्ष्य अपने आप में पूर्ण रूप से विश्वसनीय नहीं होता। इतिहासकार अपने परीक्षण द्वारा उसे अधिकतम वस्तुनिष्ठता के करीब ले जाता है। वैसे भी कोई सत्य स्वयं में पूर्ण या निरपेक्ष नहीं होता। प्रत्येक ऐतिहासिक साक्ष्य का निर्माण मनुष्य ही करता हैं– और उसमे उसकी आत्मगतता शामिल होती है। साक्ष्यों का निर्माण तो मनुष्य करता ही है किन्तु उसका विश्लेषण भी मनुष्य (इतिहासकार) ही करता है। अतः अन्तिम रूप से इतिहासकार की आत्मगतता उसमें शामिल होती है। उसकी विचारधारा, पक्षधरता एवं चेतना उसमें शामिल होती है। साक्ष्यो का निर्माण हो या इतिहास–लेखन सभी में मनुष्य शामिल होता है। आखिरकार इतिहास का सरोकार मानव से होता हैं। अतीत के उस कालखण्ड को ही इतिहास का दर्जा प्राप्त है जहां से उसमें मानव को संदर्भित किया जा सका है। यानी इतिहास का सीधा सम्बन्ध मानव से है और मौखिक इतिहास अपनी प्रणाली के माध्यम से इतिहास को मानव के समीप ले जाता है। मौखिक इतिहासकार एक साथ मौखिक साक्ष्यों का निर्माण करता है और उसे ऐतिहासिकगामी

प्रदान करता है। अतः मौखिक इतिहास, इतिहास की ही एक विधा है, इतिहास अलग कोई विषय नहीं । अतः इतिहास की सीमायें उसकी सीमायें हैं।

इतिहास मे जनभूमिका को रेखांकित करने के क्रम में इतिहासकार मौखिक इतिहास की पद्धति का प्रयोग करते हैं। इतिहासकार और इतिहास निर्माताओं के बीच की दूरी कम होती है। अर्थात् मौखिक इतिहास जन इतिहास का एक अविभाज्य हिस्सा है।

'जनइतिहास' स्वय में उस बडी आबादी के इतिहास को इंगित करता है जो सतत् अपने अस्तित्व के लिये संघर्षरत है। सामान्य अर्थो में 'जन' किसी राज्य या देश की आबादी होता हैं । ऐतिहासिक संदर्भ में उसका अर्थ उस समुदाय के रूप मे होता है जो ऐतिहासिक दृष्टि से परिवर्तित हो रहा है।

'जन' देशकाल विचारधारा एवं पक्षधरता के हिसाब से अर्थ ग्रहण करता है; व्यक्तियों की व्यक्तिगत अवधारणा से भी 'जन' परिवर्तित हो जाता है। व्यक्ति किस मानसिक धरातल पर खड़े होकर बात कर रहा है, इससे भी जन का स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। अर्थात् अध्ययन विशेष में विषय का चुनाव, घटनाओं का चुनाव तथा इतिहासकार की आत्मगत स्थितियों में भी जन की यह अवधारणा बदल जाती है।

मार्क्सवाद के अनुसार उत्पादन में लगा व्यक्ति 'जन' है। मार्क्सवादी जन बहुत व्यापक होता है और वह समाज के बहुसंख्यक तक विस्तृत हो जाता है। इतिहास के किसी भी कालखण्ड मे वह बड़ा हिस्सा जो संघर्ष में लगा है वह 'जन' होता है। मुक्ति की चाहत एक किस्म का सांस्कृतिक उत्पाद होती है। किसी संघर्ष काल में मुक्ति के लिये लडता हुआ हर व्यक्ति जन होता है।

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान हर वह व्यक्ति जो साम्राज्यवाद के खिलाफ खड़ा था वह 'जन' था। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन एक बहुवर्गीय जनान्दोलन था । अन्त आते–आते देश का बड़ा हिस्सा साम्राज्यवाद विरोधी हो गया था, जो आज़ादी की आकांक्षा से लैस था। आज़ादी की इस आकांक्षाओं के दौर में एक बड़ा हिस्सा जन में तब्दील हो जाता है और तभी इतिहास आगे बढ़ता है। उसके बाद ऐसा

होता है कि एक निश्चित मंजिल के बाद उस जन का एक हिस्सा शासक वर्ग में तब्दील हो जाता है और जन से कट जाता है। इस तरह जन का अर्थ बहुत व्यापक और सापेक्ष है। हर विचारधारा जन एवं जनइतिहास को अपने ढंग से लेती है।

जन इतिहास सदैव इतिहास के आधार को विस्तृत करता है। इसकी विषयवस्तु को बढ़ाने के लिये वह नये स्रोतों का प्रयुक्त करता है और ज्ञान को नई दिशायें प्रदान करता है। जन इतिहास, इतिहास को नायकों के इतिवृत्त से जन जीवन के करीब ले जाता है।

जन इतिहास केवल इतिहास लेखन का ही प्रश्न नहीं है जन इतिहास अवधारणा के साथ--साथ पद्धति का प्रश्न भी है। अवधारणा एवं पद्धति दोनों ही आधार पर जन इतिहास–मौखिक इतिहास से जुड़ता है। यहीं पर जन इतिहास मौखिक इतिहास के साथ इस जटिल समाज, जटिल अतीत को और उसकी जटिलता के प्रति जन दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है।

मौखिक इतिहास एवं जन इतिहास के सिद्धान्त को राष्ट्रीय आन्दोलन में स्थापित करने के लिये हमने एक व्यष्टिस्तर (micro level) के अध्ययन द्वारा समष्टि स्तर (macro level) की समझ बनाने का प्रयास किया है। व्यष्टि स्तरीय अध्ययन हेतु हमने इलाहाबाद शहर को केन्द्र बनाया।

इलाहाबाद एक बड़ा और प्राचीन शहर है। गंगा यमुना के दोआब में बसे होने के कारण इस शहर की विशिष्ट संस्कृति विकसित हुयी। पौराणिक आख्यानों में गंगा--यमुना के साथ सरस्वती के संगम की बात कही गई है। संगम का विशेष धार्मिक महत्व है। हर महीने माघमास में यहां मेला लगता है। कुम्भ और अर्धकुम्भ के विशाल आयोजन से इस शहर का पूरे देश में एक विशेष धार्मिक महत्व है। लगभग सारे प्राचीन संस्कृत साहित्य में 'प्रयाग' का उल्लेख है। मुग़लकाल में 'प्रयाग', 'इलाहाबाद' हो गया। 1801 में अंग्रेजों के अधीन होने के बाद यहां पर भी औपनिवेशिक आर्थिक सामाजिक सांस्कृतिक संरचना स्थापित हुयी। इलाहाबाद एक शहर के रूप में विकसित होने लगा। अपनी प्राचीन सांस्कृतिक विरासत के साथ अंग्रेजी उत्पादन

प्रणाली के मिश्रण में इलाहाबाद शहर एक अलग चरित्र लेकर पनपा।

1857 के विद्रोह में इलाहाबाद शहर ने बढ़चढ़कर हिस्सा लिया। 1858 के पश्चात् इलाहाबाद सीधे ब्रिटिश ताज के अधीनस्थ हो गया। यहां का पूरा प्रशासन अंग्रेजी तर्क पर चलने लगा। पुराने प्रशासनिक क्षेत्रों में नवीन सरकारी मुहल्ले बनने लगे। रेलो द्वारा सामानों के आवागमन के आधार पर पुराने व्यापारिक ढांचे के स्थान पर नया बाज़ार विकसित हो गया। समूचे उत्तरी भारत में धार्मिक सांस्कृतिक के साथ–साथ इलाहाबाद आर्थिक गतिविधियो का भी प्रमुख केंद्र बना।

राष्ट्रीय आन्दोलन की व्याप्ति के साथ–साथ इलाहाबाद राजनीतिक गतिविधियों का भी केन्द्र बनने लगा। शहर के कुछ रईस ख़ानदानों ने सार्वजनिक जीवन में रूचि लेनी शुरू की। 1885 में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से पूर्व यहां भी कुछ सामाजिक संस्थायें बनी। कांग्रेस की स्थापना से राष्ट्रीय राजनीति में एक नये दौर का आरम्भ हुआ। 1888 में कांग्रेस का चौथा अधिवेशन इलाहाबाद में हुआ। यह अधिवेशन इलाहाबाद में राष्ट्रवाद की व्याप्ति का सूचक था।

आरम्भिक कांग्रेस का मुख्य चरित्र मध्यवर्गीय था। इलाहाबाद में विश्वविद्यालय एवं हाई कोर्ट की एवं सरकारी संस्थाओं के माध्यम से इस शहर में एक बड़ा मध्यवर्ग उभर रहा था। कांग्रेस की आरम्भिक गतिविधियों में इस वर्ग का विशिष्ट सहयोग रहा। यहां से बड़े–बड़े स्वनामधन्य नेता हुए। आनन्दभवन कांग्रेस की गतिविधियों का केन्द्र बना।

कांग्रेस की राजनीति के साथ–साथ राष्ट्रीय आन्दोलन की अन्य प्रवृत्तियां भी इलाहाबाद में दृश्य हो रही थी। बगभंग के कारण उठी राष्ट्रवादी लहर इलाहाबाद में भी पहुंची। उसी तरंग ने इलाहाबाद में क्रांतिकारी आन्दोलन के बीज बोये।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रूप में इलाहाबाद शिक्षा के प्रमुख केन्द्र के रूप में उभरा। इलाहाबाद विश्वविद्यालय आज भी शहर के सार्वजनिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसने शहर में एक विशेष बौद्धिक माहौल बनाया। साहित्य की एक धारा जो आज तक बहती आ रही है, उसकी शुरूआत भी उसी दौर

में हुयी थी। किन्तु इलाहाबाद विश्वविद्यालय का चरित्र हमेशा से 'कैरियरवादी' रहा है राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तिम दशक को छोडकर इसने कभी भी कोई सक्रिय हिस्सेदारी नही की। छात्रों का कोई बड़ा आन्दोलन यह शहर कभी नहीं खड़ा कर पाया। किन्तु 1920 को पूर्व इलाहाबाद मे एक ऐसी बौद्धिक राजनीतिक पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी जिसके आधार पर इस शहर की जनता राष्ट्रीय आह्वानो का प्रत्युत्तर देन की स्थिति में आ गई थी।

1920 के दशक में राष्ट्रीय आन्दोलन जनोदभव के युग मे प्रविष्ट हो चुका था। राष्ट्रीय फलक पर जननायक महात्मागाधी का उदभव हो चुका था। कांग्रेस राष्ट्रीय आन्दोलन का अखिल भारतीय मंच हो चुकी थी। राष्ट्रवाद एवं साम्राज्यवाद विरोधी भावना गांव--गांव में व्याप चुकी थी। समूचेदेश की तरह इलाहाबाद में भी तनाव व्याप्त हो रहा था। नेहरू तथा मालवीय परिवार सक्रिय राजनीति में आने की तैयारी कर चुका था।

असहयोग के साथ ही राष्ट्रीय राजनीति में नवीन दौर शुरू हुआ। खिलाफत आन्दोलन असहयोग से संयुक्त हुआ। इलाहाबाद में खिलाफत आन्दोलन ने असहयोग आन्दोलन को स्थापित किया। राष्ट्रीय विद्यालयों एवं कोतवालियों की स्थापना हुयी। अनेको वकीलों ने अपनी वकालत छोड़ी। लोगों ने सरकारी नौकरियां छोड़ी तथा अपने बच्चो को सरकारी स्कूलों से बाहर निकाला। परिषद के बहिष्कार का निर्णय इलाहाबाद मे असहयोग का उच्चतम तरीका था। मोतीलाल नेहरू तथा जवाहरलाल नेहरू भी इसी दौर मे राष्ट्रीय राजनीति मे शामिल हुए। इस दौर में अनेकों स्थानीय नेतृत्व उभर कर सामने आया, साम्राज्यवाद के खिलाफ प्रतिरोध की लहर अभी रवानी प्राप्त कर ही रही थी कि चौरीचौरा की घटना के बाद समूचा आन्दोलन स्थगित हो गया। इस स्थगन से राष्ट्रीय आन्दोलन में उत्पन्न हुआ गतिरोध और शून्य कभी नहीं भर पाया। इसके उपरांत राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व लगातार आन्दोलन एवं समझौते की नीति पर चलता रहा। जब भी नेतृत्व का आह्वान किया जनता ने उसका उत्तर दिया। सविनय अवज्ञा तथा नमक आन्दोलन में यहां की जनता ने भरपूर हिस्सेदारी की।

नमक आन्दोलन में औरतों ने सक्रिय सहभागिता की। लोगों का राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़ाव बन रहा था और गांधी का अहिंसात्मक नेतृत्व का आह्वान उन्हें अपेक्षाकृत आसान संघर्ष में उतरने को प्रेरित कर रहा था। राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़ने वाले लोगो की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। प्रतिरोधों और दमन का दौर के साथ नेतृत्व द्वारा अन्तहीन प्रतिया साथ-साथ चल रही थीं। पूरे शहर मे प्रभात फेरी-जुलूस-आमसभाओं आदि में जनता शामिल हो रही थी। 'सुराज' की कामना सभी के मन मे घर बना चुकी थी।

इसी समय सन 42 मे राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी अहिंसात्मक हदों को पार कर गया। इलाहाबाद में भी सन 42 के आन्दोलन के दौरान राष्ट्रीय आन्दोलन अपने उरूज पर पहुंचा इसमें जनता की उग्र हिस्सेदारी ने मरने वाले समय में अपनी सम्भावनाओं को उजागर किया। जिनसे नेतृत्व एवं शासक वर्ग दोनों चौकन्ना हो गया.

भारत छोड़ो आन्दोलन अनेक अर्थो में असाधारण था। इलाहाबाद में यह आन्दोलन हिंसक हो गया था। इसके छात्रों की उल्लेखनीय भूमिका थी। यह नेतृत्व-विहीन स्वतः स्फूर्त आन्दोलन था। जिसमें जनता की सहभागिता एक नव आयाम लेकर प्रस्तुत हुयी। लालपदमधर सहित अनेकों छात्रों की शहादत इस आन्दोलन की यादगार है। इलाहाबाद में 42 का भारत छोड़ों आन्दोलन कांग्रेस के फरमान से शुरू होकर '42 की लूट' मे तब्दील हो गया। 1857 के पश्चात् 1942 में ही इलाहाबाद के साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष इतना तीव्र हुआ। स्वतः स्फूर्त होने के बावजूद उसने जुझारूपन के सारे प्रतिमान पीछे छोड़ दिये।

42 के आन्दोलन का दमन भी उतनी ही तीव्रता के साथ किया गया। किन्तु जनता के संघर्ष की तीव्रता का भी पता चला। इसके बाद कांग्रेस तथा साम्राज्यवादी दोनों ही सत्ताहस्तांतरण की तैयारी करने लगे।

1920-47 के दौरान इलाहाबाद में राष्ट्रीय आन्दोलन में अनेकों उतार चढ़ाव आये। कई बार संघर्ष की स्थिति बनी किन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ कि आन्दोलन

की कोई लड़ी हो जो लगातार आगे बढती जाये। पूरे देश की तरह इलाहाबाद में भी हर आन्दोलन नई तरह से शुरू होता और बुझ जाता। पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन की तरह इलाहाबाद में भी ऐसा कभी नहीं हुआ कि संघर्ष की आंच बढ़ती गई हो और विस्फोट हो जाता। ऐसा इसलिये नहीं हो पाया क्योंकि आन्दोलन का समझौता परस्त नेतृत्व इसके लिये तैयार नहीं था।

साक्षात्कारों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के मिश्रित वर्गो की विशद भूमिका वाला एक जनान्दोलन था। गुलामी के अपमान के ख़िलाफ यहां का सामान्य जन उठ खड़ा हुआ था। आज़ादी की भावना एक सामूहिक आकांक्षा बन चुकी थी। इलाहाबाद शहर की जनता भी इस आकांक्षा से जुड़ी। यह आकांक्षा विभिन्न तरीकों से अभिव्यक्त होने लगी।

तमाम मौखिक साक्ष्यों के आधार पर हम यह विश्लेषित कर सकते हैं कि स्वतन्त्रता आन्दोलन में जनभूमिका की मुख्य रूप से दो प्रवृत्तियां उभर कर सामने आयीं : पहली दक्षिणपंथी संघर्ष में तथा दूसरी वामपंथी संघर्ष में।

निस्संदेह गांधी एवं कांग्रेस के नेतृत्व में चलने वाले दक्षिणपंथी संघर्ष के इस देश का सामान्य जन बहुतायत में जुड़ा। दक्षिणपंथी नेतृत्व एवं कांग्रेस का एक लम्बा ऐतिहासिक आधार था। जनता के उससे जुड़ने का भी वहीं बिन्दु था भारतीय कांग्रेस, राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति का एक मात्र मंच थी। दूसरी तरफ गांधी के चमत्कारी नेतृत्व मे भी जनता राष्ट्रीय आन्दोलन से सयुक्त हुयी।

भारत की सामाजिक स्थितियों में 'गांधी 'ईश्वर' के रूप में अवतरित हुए और एक 'अवतार' के साथ देश की अधिकांश अनपढ़ जनता का जुड़ जाना बहुत स्वाभाविक था। फिर गांधीजी के सत्य–अहिंसा एवं सत्याग्रह के नैतिक हथियार यहां की आध्यात्मिकता से भी जुड़ते थे और लोगों के लिये अपेक्षाकृत सुविधाजनक संघर्ष प्रस्तुत होता था जिसके लोगों का जुड़ना आसान था। आन्दोलन की गांधीवादी पद्धति व्यापारीवर्गो, कृषकों, समृद्ध, प्रभुता सम्पन्न लोगों एवं सामान्य जन सभी को स्वीकार्य थी। दूसरी तरफ राष्ट्रीय आन्दोलन में वामपंथी आन्दोलन का मुख्य आधार विचारधारा

थी। भारत में वामपथी आन्दोलन अन्तिम दशकों में आरम्भ हुआ। यानी वामपंथी आन्दोलन अपनी अवस्था में था। उसके पास अभी भारतीय समाज एवं स्थितियों का बहुत निर्णायक विश्लेषण नहीं था। न ही अन्त तक क्रांति का कोई कार्यक्रम था। इस आन्दोलन से जो लोग जुड़े वह मुख्यतः पढ़े लिखे थे। यह वह लोग थे जो एक स्तर तक चतन शील थे और मार्क्सवाद तथा वर्गसंघर्ष के सिद्धान्त को समझ सकते थे। ज़्यादातर पढ़े लिखे समझदार लोगों की ही शिरकत इसमें बनी। हलांकि व्यक्तिगत स्तर पर इस क्षेत्र मे असख्य कुर्बानियां हैं। अपनी अपरिपक्वता के चलते यह वामपंथी आन्दोलन सामान्य जनता के बहुतायत तक नहीं पहुंच पाया। न ही उन तक अपनी बात पहुचा पाया न ही उन्हें अपने साथ जोड़ पाया। अल्पावस्था होने के साथ–साथ एक दूसरा पक्ष यह भी था कि वामपंथी आन्दोलन की प्रमुख वाहक कम्युनिस्ट पार्टी उन दिनों प्रतिबन्धित थी और वह खुले तौर पर अपनी जन कार्यवाइयां नहीं कर सकती थी। किन्तु तेलंगाना सहित अनेक जगहों पर उसके नेतृत्व में अभूतपूर्व जनान्दोलन हुए और इस देश का नेतृत्व वर्ग जो शासक में तब्दील हो चुका था, ने उसका अमानवीय दमन किया। फिर भी अपनी तमाम कुर्बानियों के बावजूद वामपंथी आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन में कोई मुकम्मिल भूमिका नहीं बना पाया। साक्षात्कारों से यह स्पष्ट होता है कि इलाहाबाद की जनता भी राष्ट्रीय आन्दोलन से भावनात्मक रूप से जुड़ी और वह आन्दोलन के दक्षिणपंथ से ही बहुतायत में जुड़ी। अन्तिम तीन दशकों में यहां की आम जनता गुलामी के अहसास से युक्त हुयी और आज़ादी उनकी भावनात्मक जरूरत बनी। वह नेतृत्व के हर आह्वान का प्रत्युत्तर देती थी। प्रभातफेरी जुलूस सभाओ पिकेटिंग विदेशी वस्त्रों की होली आदि कांग्रेसी कार्यक्रमों में शामिल होती थी। यद्यपि उसकी यह सहभागिता बहुत रूटीन किस्म की थी। किन्तु कांग्रेस के पास स्वयं जनता की ऊर्जा को प्रयुक्त करने का कोई 'रैडिकल' कार्यक्रम नहीं था।

दूसरी तरफ इलाहाबाद वाम आन्दोलन का प्रमुख केन्द्र भी था। इस धारा से मुख्यतः छात्र ही जुड़े। कम्युनिस्ट पार्टी का काम यहां पर गुप्त रूप से ही होता था। उस दौर में कुछ प्रमुख बुद्धिजीवी इससे जुड़े । किन्तु अन्तिम रूप से वामपक्ष

इलाहाबाद मे कोई बड़ा आन्दोलन नही खड़ा कर पाया। व्यक्तिगत रूप से लोगों ने इसमे काफी त्याग किया।

इस तरह 1920–47 के दौर में जनता की अनवरत सहभागिता रही। हलाकि जनता अपनी सहभागिता के प्रति पूरी तरह सचेत नहीं रही। वह आज़ादी की लड़ाई में हिस्सा तो ले रही थी परन्तु उस आज़ादी के बारे में जनता की कोई अवधारणा स्पष्ट नही थी। यह नेतृत्व की ज़िम्मेदारी होती है कि वह जनता के समक्ष आजादी का स्वप्न स्पष्ट करे। यहा का सामान्यजन 'सुराज' की ख़ातिर लड़ तो रहा था पर आजादी के बाद वह 'सुराज' कैसा होगा, इस विषय में सभी अनजान थ। अधिकांश लोगों के लिये आजादी का मतलब था – रोटी–कपड़ा और मकान की आजादी। आजादी के पचास वर्ष यह सिद्ध करते हैं कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन जनता का 'आजादी' क इस तसव्वुर को पूर्ण करने में असफल रहा है।

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन एक ऐसा जनान्दोलन था जिसमें जनता के सभी वर्गों ने भावनात्मक रूप से हिस्सेदारी की। शुरू–शुरू में जनता की यह हिस्सेदारी नेतृत्व म अनुयायी की थी। कालान्तर में वह इन हदों के पार गई। 42 तक पहुंचते–पहुचते जनता की यह भूमिका नतृत्व की सोच एवं महत्वाकांक्षाओं से आगे चली गई और नेतृत्व ने सत्ता अपने पक्ष में हस्तांतरित करवा ली।

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन अनेकों छोटे–बड़े जनान्दोलनों का योग हैं जिसका नेतृत्व एव चरित्र दोनों मध्यवर्गीय था। भारतीय जनता भावनात्मक रूप से इससे जुड़ी और समय–समय पर अपनी संभावनाओं को सिद्ध किया। राष्ट्रीय आन्दोलन जनता की ऊर्जा का सम्यक उपयोग नहीं कर पाया जनता एक निर्णायक लड़ाई के लिय तेयार थी लेकिन केन्द्रीय नेतृत्व की समझौता परस्ती ने उसे आगे नही बढने दिया। फिर भी भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में जनता की व्यापक भूमिका थी, और तभी आजादी सम्भव हुयी। हमेशा की तरह जनता ने उस वक्त भी अपना इतिहास रचा और विजयी हुयी।

रहल भरोसा नेहरू जी पर करिहैं बेड़ा पार जी
नाव चढ़ाकर हम लोगन के छोड़ दिहलन मझधार जी।
बीच नहर में नैया डूबत कोई न खेवन हार जी
चहुं तरफ मैं देख रहा हूं, सूझत नहीं किनार जी
करी हम केकरा से पुकार, नैया खेवे लगावत न पार
इस विपत्ति में कोई न सुननवार बा।

(बिरहे तर्ज पर एक लोकगीत)

स्रोत सामग्री

साक्षात्कारः

नाम	कैसेट संख्या
1. श्रीराम अधार पाण्डेय	1 A
36, मोतीलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद	
2. श्री रामगोविंद लाल	1 B एवं 2 A
गांधी नगर, सिविल लाइन्स, बलिया	
3. श्रीमती महताबकुवंर उर्फ शांति देवी	2 B तथा M12
122, बाघम्बरी गृह योजना अल्लापुर, इलाहाबाद	
4. श्री हरिपाल बार्ष्णेय	3 A
7 एडमंडसन रोड, सिविल लाइन्स, इलाहाबाद	
5. श्री राम अवतार माली	3 B
कृष्णा कोचिंग, इलाहाबाद	
6. शेख कमरूदीन शाह	4
145, बक्शीकला, दारागंज, इलाहाबाद	
7. प्रो. रामशरण शर्मा इतिहासकार	5 एवं 6
8. श्री पशुपतिनाथ सिंह	
गांव – बढ़ौना, पोस्ट – तेजबीधा, जिला – ज़हानाबाद	5 एवं 6
9. डा. वी ललिता	5 एवं 6
तेलगू अकादमी, हैदराबाद	
10. मशूद आग़ा	7
13 कोल्हां टोला रोड, रानी मण्डी, इलाहाबाद	
11. सत्यनारायण निषाद	8
609 बक्शीखुर्द, दारागंज, इलाहाबाद	

12. पंडित मारूति नारायण राव 8 एवं 9

35/36 मीरगली, दारागंज, इलाहाबाद

13. बृजमंगल उर्फ महाजन 10

86, नगारखाना मारी दारागंज इलाहाबाद

14. श्री रामानन्द राय 11

135/75 बाघम्बरी गृह योजना, इलाहाबाद

15. श्री ओकांर नाथ अवस्थी वैद्य 11

तुलाराम बाग इलाहाबाद

16. बालमुकुन्द दूबे 12

ग्राम कचरा, पोस्ट भालपुर, तहसील बारा, इलाहाबाद

17. कांति देवी 13

मस्तहरी, महराजगंज, जौनपुर

18. हीरामन तिवारी 14

ग्राम दिधिया, तहसाल मेजा, इलाहाबाद

19. कमलाकांत तिवारी 14

बाहाकलां, थाना माण्डा इलाहाबाद

20. कमलाशंकर मिश्र 14

ग्राम दिधिया, तहसील मेजा, इलाहाबाद

21. केदारनाथ पाण्डेय 14

ग्राम– भगेसर, इलाहाबाद

22. श्री जगदीश नारायण द्विवेदी 14

197, मधवापुर, इलाहाबाद

23. श्री विपिन बिहारी श्रीवास्तव 15

122-- बाघम्बरी गृह योजना, अल्लापुर, इलाहाबाद

24. **श्री विश्वनाथ लाहिरी** 15, 16 एवं 17

3, पोनप्पा रोड, इलाहाबाद

25. **श्रीमती रामा देवी** 17

कर्नलगंज, इलाहाबाद

26. **श्री सरजू प्रसाद वैश्य** 18

104/163, बहादुरगंज, इलाहाबाद

27. **श्री शारदा प्रसाद** 19

11 कटघर, मुटठीगंज

28. **श्री बलिराम श्रीवास्तव** 19

E–51, करेली गृह योजना, इलाहाबाद

29. **श्री बेनीमाधव गुप्ता** 20

13, लोकनाथ गली, चौक, इलाहाबाद

30. **श्री सुन्दर लाल आज़ाद** 20

90, खुशहाल पर्वत, इलाहाबाद

31. **श्री महानारायण मिश्रा** 21

ममफोर्डगंज, इलाहाबाद

32. **प्रो. राजन गुरुक्कल** इतिहासकार 21 B एव 22

33. **प्रो. सैयद मोहम्मद अकील रिज़वी**

पूर्व अध्यक्ष उर्दू विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद 23

34. अर्द्धकुम्भ मेले में विभिन्न लोगो से बातचीत M 1 **(M=Micro cassette)**

35. **श्रीराम अधार कवि,** झूंसी M 2

36. **श्री केदारनाथ गुप्ता** M 2

679, कटरा, इलाहाबाद

37. **सुहैल अहमद ज़ैदी,** चौक इलाहाबाद M 4

38. **उमांशकर श्रीवास्तव**

38, न्याकरवा ममफोर्डगंज, इलाहाबाद | M 4

39. **अमरकांत** साहित्यकार | M 5

करेली, इलाहाबाद

40. **श्री भोलानाथ मालवीय** | M 5

29/1 सिलारखाना तेलियरगंज, इलाहाबाद

41. **श्री जुल्फेकारुल्लाह** | M 6

नूर मंजिल, नूरूल्लाह रोड, इलाहाबाद

42. **श्री भानुप्रताप सिंह** | M 7

598/472 ममफोर्डगंज, इलाहाबाद

43. **श्री हरिश्चन्द्र सक्सेना** | M 7

23/43/124 नाथ अल्लापुर, इलाहाबाद

44. **श्री मोहन लाल मिश्रा** | M 8

66 बक्शीकला, दारागंज, इलाहाबाद

45. पं. **विष्णुकांत मालवीय** | M 8 एव 9

रानीमण्डी, इलाहाबाद

46. **श्री बंसीलाल झूंसी** | M 10

47.श्रीमती राज़िया बीबी, चौक इलाहाबाद | M 10

48. **श्री गया प्रसाद निगम** | M 11

98, कर्नलगंज इलाहाबाद

49. **श्रीमती फूलवती** द्वारा, **श्री गयाप्रसाद निगम** | M 11

98 कर्नलगंज, इलाहाबाद

50. **श्री पुन्नू खां** | M 11

बूचड़खाना, कर्नलगंज, इलाहाबाद

51. श्री जमीलुद्दीन — M 11

271, कर्नलगंज, इलाहाबाद

52. श्रीमती अफसरी बेगम — M 11

271 कर्नलगंज इलाहाबाद

53. श्री सीताराम निषाद — M 12

जनसेवा आश्रम दारागंज इलाहाबाद

54. श्रीमती राजरानी निषाद — M 12

जनसेवा आश्रम दारागंज, इलाहाबाद

55. श्री ज़ियाउल्हक — M 13 एवं M 17

अशोकनगर, इलाहाबाद

56. प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय — M 14

11 बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद

57. श्री शम्सुर्रहमान फारूकी — M 16

अशोक नगर, इलाहाबाद

58. प्रो. आशाराम — M 18

E-90 MIG DDA Flats Saket, N Delhi

59. श्री गौरीशंकर श्रीवास्तव — M 19

262/174 मेहदौरी तेलियरगंज, इलाहाबाद

60. डा.आर. सी. राय *

इतिहासविभाग गोरखपुर विश्वविद्यालय इलाहाबाद

61. प्रो. रेयाजुद्दीन अहमद *

नूरुल्लारोड, इलाहाबाद

62. श्रीमती नूरफात्मा *

ग्राम कटौला, इलाहाबाद

63. **श्री विशम्भर नाथ पाण्डेय** *

गांधी स्मृति, दिल्ली

64. **डा. चन्द्रापंत** *

इतिहास विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

65. **श्री अब्दुल वाहिद** *

चक इलाहाबाद

- * इन लोगो के साक्षात्कार कैसेट मे रिकार्ड नही हैं। इनसे बातचीत करते वक्त विस्तृत नोटस लिया था।

प्रतिलेख (Transcripts): नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम एव लाइब्रेरी (तीन मूर्ति, दिल्ली) मे उपलब्ध मौखिक इतिहास प्रतिलेख

1. आनन्द भवन इम्प्लॉयी
2. श्री के. एन. काटजू
3. श्री शकर प्रसाद
4. श्री रघुबीर सहाय
5. डॉ. वत्सला सामंत
6. नयनतारा सहगल
7. मनमोहिनी सहगल
8. डॉ. सम्पूर्णानन्द
9. श्री. एन. पाण्डेय
10. सुमगल प्रकाश
11. पंडित पदमकांत मालवीय
12. एन. पी. अस्थाना
13. श्री नारायण चतुर्वेदी
14. श्री श्रीप्रकाश

माइक्रो फिल्म : नेहरू मेमोरियल संग्रहालय एवं पुस्तकालय स्थित प्रतिबन्धित साहित्य रील नं. 8, 9 एवं 10।

लेख :

1- 'Ukraine's Forbidden History : Memory And Nationalism -
Robert Perks, Oral History Journal (OHJ)- Vol- 21, No - 1, 1993

2- Oral History and Palestinian Collective Memory
Sonia -Nimr, OHJ Vol-21, No- 1, 1993

3- Oral Tradition And Historical Source: The Maltese Ghannejja
John Chiriop, OHJ Vol- 21, No- 1. 1993

4- This is Our Home Now : Reminiscence of A Punjabi Migrant in coventry. An Interview with Anand Ram .
Darshan Singh Talta, OHJ Vol - 21, No 1, 1993.

5- Friendship As Oral History : A Ferminist Psychologist's view -
Miriam Zukas, OHJ Vol - 21, No- 2, 1993

6- And How was it For you Mary ? Self Identity And Meaning for Oral Historian's - **Mary Stuart** ,OHJ Vol- 21, No - 2, 1993.

7- Using Oral Evidence with Infants : A Toys And Games Project For 5-7. Years Olds - **Sandra Peck,** OHJ. Vol- 20, No 1, 1992

8- Passing On History : A Key Stage II Intergenerational Project -
Teresa Watkins, OHJ Vol - 20, No - 1, 1992.

9- Oral Hisotry And Teenagers : Cross Curricular Applications -
Irene Orchard - OHJ. Vol- 20, No- 1, 1992

10- Oral Evidence with Undergraduates-
Maggie Wilson, OHJ. Vol - 20, No- 1, 1992

11- Stolen Or Given : An Issue In Oral History -

Gillian Elinor, OHJ. Vol - 20, No - 1, 1992

12- The Communities of Community Publishing. -

Joanna Bornat, OHJ Vol - 20, No- 2, 1992

13- Method And Theory in the Oral Biography -

David K. Dunaway, OHJ. Vol - 20, No - 2, 1922

14- Aspect of Oral History Projects And Archives : New Zealand, The United State of America and The United Kingdom -

Ronda Jamieson, OHJ Vol - 20, No - 2. 1992

15- Review Article : Recent British Community Histories -

Tom Woodin, Vol - 20. No - 1, 1992.

16- The Titanic And South Hampton : The Oral Evidence -

Donald Hystop & Sheila Jemima, OHJ Vol - 19, No - 1, 1991

17- A New Zealander's view of Oral History In Britain : Helen Frizzell Interviewed by -

Judith Fyfe & Hugo Manson, OHJ Vol - 19, No - 1, 1991

18- People's History and Community Publishing : The Federation of Worker Writer and Community Publishers -

Alistair Thomson, OHJ Vol - 19, No - 1, 1991

19- By Train to Samarkand : A View of Oral History in the soviet Union

Robert Perks, OHJ Vol - 19, No - 1, 1991

20- We Know your Mob Now . European Anoriginal Histories of Capatain cook - **Cris Healy,** OHJ. Vol - 19, No - 2, 1991

21- German War Memories : Narrability And the Biographical And Social Functions of Remembering -

Gabriele Rosenthal, OHJ - Vol - 19, No- 2, 1991

22- Social Dynamics of Oral History Making : Women's Experience of Wartime - **Bridget Macey,** OHJ. Vol - 19, No - 2, 1991

23- The Politics of Memory In Brazil -

Paul Thompson, OHJ Vol - 19, No - 2, 1991

24- Anzac Memories : Putting Popular Memory Theory Into Practice In Austrilia - **Alistair Thomson,** OHJ Vol - 18, No - 1, 1990

25- Ambivalent Memories : Women And the 1939-45 War in Britain -

Dorothy Sherdian, OHJ, Vol - 18, No - 1, 1990

26- An Oral Hisotry of Jazz In Britain-

Chris Clark, OHJ Vol -18, No 1, 1990

27- Studio Pottery : Oral Evidence And Some Problems In Writing its History - **Tanya Harrod,** OHJ - Vol - 18, No - 2, 1990

28- Interviewing Crafts People In the USA : An Oral History Project -

Richard Polsky, OHJ Vol - 18, No - 2, 1990

29- Why : DAT Matters to Oral Historians : by Paul Thompson Intervieving

Peter Copeland, OHJ Vol - 17. No - 1, 1989

30- Biographical Interview With Older People :

Jocelyn Cornwell And Brian Gearing, OHJ Vol - 17, No - 1, 1989

31- What One Can Not Remember Mistakenly -

Karen Fields , OHJ. Vol - 17, No - 1, 1989

32- Myth and History : 'Sixth International Oral History Conference St. John's College. OHJ. Vol - 16, No - 1, 1988

33- Demestic Service Between The wars : The Experience of two Rural Women - **Mary Harrison,** OHJ - Vol - 16, No - 1, 1988

34- Ten Inches into Six Feet - Low Budget Equipment For An Oral History Project -

Paul Thompson Interviews Doc Rowe, OHJ Vol - 16. No- 1, 1988

35- Gelito : Oral History , Political Biography And National Myth. -

Valentina da Rolha Lima, OHJ Vol - 16, No - 1, 1988

36- British Communists on the war, 1939&41 -

Willie Thompson and Sandy Hobbs, OHJ Vol - 16. No - 2, 1988

37- Belfast Republicanism in the Thirties : The Oral Evidence -

Bill Rolston and Ronnie Munk, OHJ, Vol - 16. No - 2. 1988

38- We Have A Tradition of Story Telling : Oral History In Zimbabwe . -

Ken Manugo OHJ Vol - 16. No - 2. 1988

39- Oral History In China OHJ Vol - 15. No - 1, 1987

40- From Micky to Maus OHJ Vol - 15, No - 1, 1981

41- A Play back Project : A Walk Into History OHJ Vol - 5, No - 2, 1987

42- Oral History and Multicultural Education OHJ Vol - 15, No - 2, 1987

43- New Perspective On Victorian Class Religion : The Oral Evidence -

Hergo Mcleod. OHJ. Vol - 14, No - 1, 1986

44- The Part In the Present A Study of Elderly People's Attitudes to Reminiscences **Peter Colman,** OHJ. Vol - 14. No - 1. 1986

45- Oral History and Museums : An Over view and critigue -

Campbell Me Murrey OHJ, Vol - 14. No - 2, 1986.

46- Reaching the Public : Oral History As Survival Strategy For Museums. - **Sian Jones & Clark Major,** OHJ. Vol - 14. No - 2, 1986

47- Awk, But May be it's Only hoad of Aulies - An openion on oral Tradition - **Linda may Ballard,** OHJ, Vol - 14, No - 2.

48- The Experience of being Interviewing -

Arthur Excell, OJH Vol - 14, No - 2, 1986

49- Italian women in the Nazi Camps - Aspects of Identity In this Accounts - **Anna Bravo,** OHJ Vol - 13, No - 1, 1985.

50- Rural Women in the Aurea A Poetry In context -

Nazita Hamouda, OHJ. Vol - 13, No - 1, 1985

51- History is what you want to say .... Publishing People's History : The Experience of Pekhan People's History Group -

Richard Gray, OHJ, Vol - 12. No - 2, 1984

52- From Oral History to Drama -

Elyse Dodson, OHJ. Vol -12. No - 2, 1984

53- Oral History and Contemporary History -

Kim Howells and Merfyn Jones OHJ, Vol - 11, No - 2, 1984

54- Bill Hingston - A Biography In Song -

Sam Richards, OHJ, Vol - 10, No - 1, 1982

55- Interviewing The Middle Class Women Graduates of the Scottish Universities - **Sheila Hamilton,** OHJ, Vol - 10. No - 2, 1982.

56- Editional - Oral History. Histroy Workshop : A Journal of Socialist Historians, Issue - 8. Autumn. 1979.

57- The Peculiarities of Oral History -

Alessandro Portelli. History Workshop Journal Nos - 11. 12. 1981.

58- The Living Past. - **Zenet Rizvi** India International Centre : Quarterly Vol - 9. No - 1. 1982

59- Oral Language In Rural Education -

Varsha Das, India International Centre Quauterly Vol - 11, No - 2

60- Oral History And Perostroika, Mascow A Report - History Workshop Journal, 1989.

61- Origin and Concept of Oral History -

Dr. Kirpal Singh - Punjab Part & Present Oct - 1985.

62- Oral Evidence In Modern Punjab History -

Dr. S.S. Bal. Punjab Past & Present Oct. 1985

63- Selection of Interviews and Preparation of Questionnaire -

S.C. Manchanda Punjab Past and Present Oct. 1985

64- Communication In the Oral History Interview : Investigating Problemes of Interpreting Oral Data. - E. Culpepper Clark, Michael J. Hyde and Eva M. Mc Mohan, International Journal of Oral History **(IJOH)** Vol - 1. No - 1. 1980

65- Oral History and the Presentation of Class Consciousness. The New York Times Versus the Buffalo Unemployed. -

Michael Frisch, and Dorothy & Watts. IJOH, Vol - 1, No - 2, 1980

66- Narrative Form and Oral Hisotry : Some Problems and Possiblities -

David E Faris, IJOH Vol - 1, No - 3, 1980

67- "In the Possession of the Author ". The Problem of Source Monopoly in Oral Historigraphy - **David Hemige,** IJOH, Vol - 1, No - 3

68- Oral History In the Philippines : Trends and Prospects . -

Marcelino A. Foronda, IJOH. Vol - 2, No - 1, 1981

69- Oral History. Audio Technology, and the Tape system.

Dale E. Treleven. Vol - 2. No - 1. 1981

70- Radicalism : The Oral History Countribution -

Paul Buchle, IJOH. Vol - 2, No - 3.

71- Structure and Validity in Oral Evidence -

Trevov Cummis, IJOH, Vol - 2, No - 2

72- "The Time of My Life:" Functions of Time in Oral Hisotry -

Alessandro Portelli, IJOH, Vol - 2, No - 3, 1981

73- Autobiographies, Dianies, Life Histories, and Oral Histories of Workers as a Source of Socio Historical Knowledge -

Bronislaw Misztal, IJOH, Vol - 2, No 3 1981

74- Anthropological Praxis and Life History -

Francoise Morin, IJOH, Vol - 3, No - 1, 1982

75- The Imprint of History on Life - Course Research : Oral History and the Berkeley Guidance Study -

Charles T. Morrissey, IJOH, Vol - 3, No - 1, 1982.

76- Interlude Or Change : Women and the world war II Work Experience A Ferminist Oral History. -

Sherna Berger Gluck, IJOH, Vol - 3, No - 2, 1982.

77- Oral History and the Nascent Historieography for West Africa and World War II. A Focus on Ghana

Wendell & Holbrooke, IJOH, Vol - 3, No - 3, 1982

78- Stories and Strategies : The Use of Personal staliments -

Judith Modell, IJOH, Vol - 4, No - 1, 1983.

79- Sociology and life History : Methodological Incongruence -

Lucy Rose Fisher, IJOH, Vol - 4, No - 1, 1983

80- What is social in Oral History ? -

Samuel Schrager IJOH, Vol - 4, No - 2, 1983.

81- And This is No Damn Lie: Oral History in Story Form -

Barry Jean Ancelet, IJOH, Vol - 14, No - 2, 1983.

82- Cultural Meaning and History in African Myth -

Peter R. Schridt, IJOH, Vol - 4, No - 3

83- "No other Voice Can Tell." Life Histories In Melanesia -

Rodric Lacey, IJOH, Vol - 5, No - 1, 1984.

84-Oral Tradition and Social Structure Reflections on Historical Field-work. In Central Malawi. - **Kings M. Phiri,** IJOH, Vol - 5, No - 1, 1984

85- Participating In the Past ? Oral History and Community History in the Work of Manchester Studies -

Rickie Burman IJOH, vol - 5, No - 2, 1984.

86- Beyond Trivia and Nostalgia : Collaborating In the Construction of a local History - **Linda Shopes,** IJOH, Vol - 5, No - 2, 1984.

87- Oral Histories of Rural Western American Women : Can they Contribute to Quantitative Studeis ?

Katherine Jensen, IJOH, Vo - 5, No - 3, 1984

88- Oral History Projects in Arjentina, Chile, Peru, and Bolivia -

Peter J. Sehlinger, IJOH, Vol - 5, No - 3, 1984.

89- Peoples History and Social Science History -

Louise A. Tilly, IJOH, Vol - 6, No. - 1, 1985.

90- Between Social Scientists : Response to louise A Tilly -

Paul Thompson, Luisa Passerini, Isabelle Bertaux - Wiame, and Alessandro Portelli, IJOH, VOl - 6, No - 1, 1985.

91- Listening to Immigrants : From Memories and Narratives to Questions of Sociological Inquiry -

Milada Disman, IJOH, Vol - 6, No - 2, 1985.

92- In the Thick of Things : Texture in Orally Communicated History. -

Barbara Allen, IJOH, Vol - 60, No - 2, 1985.

93- The Chinese Puzzle : In search of Oral History in the people's Republic of China - **Brice M. Stave,** IJOH, Vol - 6, No - 3, 1985.

94- Life stories of Social changes : Four Generations in Finland -

J.P. Roos, IJOH, Vol - 6, No - 3, 1985.

95- Irish Republicanism in the 1930 s : New Uses for Oral History. -

Ronnie Munk and Bill Rolston, IJOH, Vol 79 No - 1, 1985.

96- Being Jewish in Tsarist Russia : Indecency Ostraism and Yiddishkayat indro. History - **Denuis L. Gaffin,** IJOH. Vol - 7, No - 1, 1986.

97- Vignette of Allahabad - **O.P. Bhatnagar** , Journal of Allahabad Historical Society Vol - 2, 3, 1964.

98- Oral History and Perostroika Mascow 2-5 Oct 1989 - History Workshop Spring.

99-The Partition of India : A Study of The Muslim Politics, 1849-1947. Punjab Past & Present April 1983 Vol. XVIII - 1

100- Role Played by Communist in the Freedom Struggle of India -

B. T. Ranadive, Social Scientist Journal Vol -12, September 84.

101- Peasant Resistance and Peasant Consicousness in Colonial India 'Subaltern' and Beyond. - **Mridula Mukherjee** EPW - October 15, 19[illegible]

102- Social History : Predicament and Possibilities -

Sumit Sarkar, EPW- Vol - 20 Nos - 25,26, June 1985.

103- The Dillema of Popular History Past & Present No-132, August 1991.

104. Indian Nationalism, 1885-1905. Pankj Rag Social Scientist, Vol - 23, No. 4-6, April - June, 1995

105- Indian Bourgeosie and Imperialism -

Suniti Kumar Ghosh, EPW - Special number, November - 1988.

106. इतिहास की व्याख्या इरफान हबीब, हिन्दीकलम, अंक –4

107. स्मृति और इतिहास – चौरी–चौरा (1922–1992) – शाहिद अमीन, हंस – मार्च 1996

108– सामाजिक परिवर्तन के मार्क्सवादी सिद्धान्त में विचारधारा का स्थान – बी टी रणदिवे हिन्दी कलम जुलाई – दिसम्बर 1994

जर्नल एवं पत्रिकायें :

1 'Oral History'. The Journal of Oral History Society; University of Essex

2- 'International Journal of Oral History', Oral History Research Department Columbia University.

3- History Workshop.

4 Past & Present

5- Panjab Past & Present.

6- India International Center Quarterly.

7- Social Scientistist.

8- Allahabad Historical Review

9- Quest.

10- Economic & Political Weekly

11- हिन्दी कलम – सम्पादक – नीलकांत

12– इतिहासबोध – सम्पादक – लालबहादुर वर्मा

13– हंस – सम्पादक – राजेन्द्र यादव

14- इतिहास भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद की शोध पत्रिका-- अंक– 1,2 एवं 3

पुस्तकें

1. आज़ाद, अबुल कलाम - आजादी की कहानी; पूर्ण हिन्दी संस्करण, ओरियन्ट लांग मैन हैदराबाद, 1992.

2. आर्गोव, डी. - **Moderates and Extremists In the Indian National Movement;** Bombay, 1967.

3. अब्बास, ख्वाजा अहमद -**Let India Fight for Freedom;** Bombay, 1943.

4. अहमद, मुजफ्फर : **Communist Party of India, Years of Formation 1921-33;** Calcutta. National Book Agency 1959.

5. अमीन, शाहिद एवं पाण्डेय, ज्ञानेन्द्र - 'निम्नवर्गीय प्रसंग ; भाग – 1, राजकमल प्रकाशन दिल्ली 1995.

6. अमीन, शाहिद - इवेंट, मेटाफर मेमोरी – चौरीचौरा 1922-1991.

7. अहमद, जेड. ए. - मेरे जीवन की कुछ यादें ; लखनऊ 1997.

8. बक्शी, एस. आर. **Simon Commission and Indian Nationalism;** New Delhi Munshi Ram Manoharlal, 1977.

9. बक्शी, एस. आर. **Congress and the Quit India Movement:** New Delhi 1986.

10. बमफोर्ड, पी. सी. - **Histories of the Non-cooperation and Khilafal Movements:** Delhi Deep Publications 1974.

11. भट्टाचार्य, सब्यसाची - ब्रिटिश राज के वित्तीय आधार; मैकमिलन 1970

12. भट्टाचार्य, सब्यसाक्षी - (सं.) **Essays in Modern Economic History ;** New Delhi- 1982.

13. बेकर, जानसन, सील **Power, Profit and Politics Essays on Impecialism, Nationalism and Change in 20th Century;** Cambridge 1981.

14. बोस, एस. एन. - **The Indian Struggle;** Calcutta, 1964

15. बैनर्जी, एस. एन. - **A Nation in Making;** Calcutta 1925. 1963.

16. बालाबुशोविच एवं द्याकोव - **A Contemporary History India;** New Delhi 1964.

17.ब्राउन, ज्यूडिथ - **Gandhi's Rise to Power - Indian Politics 1915-22,** केम्ब्रिज, 1972

18. ब्राउन, ज्यूडिथ - **Gandhi and Civil Disobedience : The Mahatma in Indian Politics 1928-34:** कम्ब्रिज 1977

19. बनर्जी, ए.सी. (सं.) - **Indian Constitutional Documents, 1757-1947;** 4 Vol. Calcutta - 1961

20.बेली, सी. ए. - **Local Roots of Indian Politics Allahabad - 1880-1920:** Oxford .1975

21. बेली, सी. ए. - **Rules, Townsmen and Bazaars North India Society in the Age of British Expansion 1770-1870.**

22. बुकानन, डी. एच. **The Development of Capitalist Enterprise in India;** New York, 1934

23. भार्गव, एम.एल. - **Hundred Years of Allahabad University,** Allahabad 1987.

24. चन्द्र विपिन - आधुनिक भारत; दिल्ली 1971.

25. चन्द्र विपिन - **Nationalism and Colonialism in Modern India;** New Delhi 1979.

26.चन्द्र विपिन - **Essays on Indian Nationalism;** Har Anand Publications. 1993.

27.चन्द्र विपिन - **Nationalism and Commualism in Modern India;** New Delhi - 1979.

28.चन्द्र विपिन, त्रिपाठी अमलेन्दु एवं डे वरूण - **Freedom Struggle;** New Delhi - 1972.

29.चन्द्र विपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी के. एन. पनिकर, सुचेता महाजन - भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष; हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, 1991

30.चोपड़ा, पी. एन. - **Historic Judgment on Quit India Movement, Justice Widerber's Report.**

31. चोपड़ा, पी.एन. - **India's Major & Non Voilent Movements 1919-1934. British Secret Documents on Indian People's Struggle for Political Liberation:** Delhi 1979.

32.चौधरी, एस. बी. - **Civil Disobedience During the British Rule in India;** Calcutta 1955.

33.कूपलैण्ड, एस. आर. - **The Indian Politics 1936-40.**

34.कलिंग वुड, आर. जी. - **The Idea of History;** Oxford University Press New York. 1994.

35.कलैसी, एम. टी. - **From, Memory to Written Records England 1066-1307:** London. 1979.

36. दांतवाला, एम.एल. -**Poverty in India;** Then and Now 1870-1970.

37. डे, वरूण - **Perspective in Social Sciences;** 2 Vols. Calcutta 1982.

38. देव, आचार्य नरेन्द्र - **Socialism and National Revolution;** Bombay 1946.

39. देसाई, ए. आर. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि ; मैकमिलन, 1977.

40. देसाई, ए. आर. - भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियां; दिल्ली – 1978

41. देसाई, ए. आर. - **Peasant Struggle in India;** Delhi 1979.

42. दत्त आर. सी. - **Economic History of India;** 2 Vols. London, 1901-1903.

43. दत्त, रजनीपाम दत्त - आज का भारत; मैकमिलन

44. डंडिस, एलन - **Essays In Folklore Theory and Method.**

45.इवांस, जार्ज इवार्ट - **Spoken History;** Published by Feber & Feber Ltd. London, 1987.

46.फेनेगन, रूथ (सं.) **The Penguin Book of Oral Poetry.**

47. फैज़ अहमद फैज़ - सारे सुखन हमारे; राज कमल प्रकाशन, 1991

48.गैलधर, जानसन एवं सील (सं.) **Locality Province and Nation:** Cambridge, 1973

49. गोपाल, एस. -**British Policy in India 1858-1905;** Cambridge, 1965.

50. गोपाल, एस - **Jawaher Lal Nehru : A Political Biography;** Vol-I, London 1976.

51. गुहा, रंजीत - **Subaltern Studies;** 6 Vols. Delhi - 1982.

52. गुहा रंजीत - **An Indian Historiography of India : A Nineteenth Century Agenda and its Implications;** Centre For Studies in Social Science, Calcutta 1987.

53. गूडी, जैक - (सं.) **Literacy in Traditional Societies;** Cambridge University Press 1968.

54. गुप्ता, अमित कुमार - **Myth and Reality - The Struggle for Freedom in India 1945-47:** Delhi 1987.

55. ग्रामशी, एंटोनियो - **Selections from Prision Note Book of Antonio Gramsci:** London 1971

56. घोष, सुनीति कुमार - **India and the Raj, Glory, Shame and Bondage;** 2 Vols. Bombay 1995.

57. गुहा, रंजीत -**An Indian Historigraphy of India : A Nineteenth Century Agenda and its Impications;** Centre For Studies in Social Sciences, Calcutta, 1988.

58. गुहा, ए.सी. **India's Struggle of Century 1921-1946;** Part I Pablication Division - 1982.

59. गांधी, एम. के. - **Story of My Experiment with Truth;** Ahemdabad 1940.

60. हार्डिमन, डेविड - **Peasant Nationalists of Gujrat: Keda District. 1917-34;** Delhi - 1931.

61. **Nationalism and Communal Politics In India, 1916-28;** Delhi - 1979.

62. हेली, एलेक्स - **Roots;**

63. हाब्समान, एच. वी. - **Peasant in History;** Delhi, 1980.

64. हचिंस, फ्रांसिस जी - **Spontaneous Revolution - The Quit India Movement;** Manohar Book Shop 1971.

65. जोश, भगवान एवं जोशी, शशि - **Struggle for Hagemony in India, 1920-47: The Colonial State the Left and the National Movement ;** 2 Vols, New Delhi - 1992.

66. कुमार, कपिल किसान विद्रोह, कांग्रेस और अंग्रेजी राज (अवध - **1886-1922**); दिल्ली 1991

67. कुमार, कपिल -**Peasants in Revolt;** Delhi 1984.

68. कुमार कपिल (सं.) - **Congress and Classes;** Delhi 1988.

69. कुमार, रविन्दर - आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास; दिल्ली 1997

70. कौशाम्बी, डी डी - प्राचीन भारत की सभ्यता एवं संस्कृति; राजकमल प्रकाशन , दिल्ली

71. कौशाम्बी, डी डी मिथक एवं यथार्थ

72. कौर, मनमोहन **Role of Women In the Freedom Movement (1857-1947):** Delhi Sterling 1968.

73. लेवकोवस्की, ए. **Capitalism In India;** New Delhi - 1936.

74. लो, डी.ए. **Congres and Raj : Facets of the Indian Struggle 1917-47:** London, 1977.

75. लिमये, मधु - स्वतन्त्रता आंदोलन की विचारधारायें

76. मैकलेन, जान आर. **Indian Nationalism and the Early Congress.**

77. मजुमदार, आर. सी. (सं.) - **British Paramountcy and Indian Renaisance:** Bombay - 1974.

78. मजुमदार, आर. सी. **History of Freedom Movement;** 3 vols Calcutta, 1962-63.

79. मानसर्ग ; एन. (सं.) **Transfer of Power 1942-47;** 9 Vols. London, 1970 onwards.

80. मैसेलोस, जे **Indian Nationalism : An History;** Delhi - 1985.

81. मैकनील, विलियम एच. **My History and Other Essays;** London 1986.

82. मार्क्स एंगेल्स - **The First Indian War of Independence 1857-1859;** Progresive Publishers, Moscow.

83. मार्क्स एंगेल्स - संकलित रचनायें - 6 खण्ड प्रगति प्रकाशन मास्को

84. नागर, अमृतलाल - गदर के फूल; अमृतलाल नागर रचनावली खण्ड 6

85. नेविन, एलन - **The Gateway of History ;** Bombay, 1938, and 1968.

86. नैरोजी, दादाभाई - **Poverty and 'Un-British' Rule in India;** London, 1901.

87. नेहरू, जवाहरलाल - **An Autobiography;** London 1936.

88. ऑन्ज, वाल्टर जे **Orality and Literacy : The Technologies of the**

Word: Methuen London & New York. 1982.

89.पाण्डेय, बी. एन. - **Allahabad Retrospect and Prospect;** The Municipal Press. Allahabad.

90. पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र - उपन्यास और इतिहास दृष्टि; इलाहाबाद संग्रहालय. 1994

91.पाण्डेय, ज्ञानेन्द्र - **The Ascendency of the Congress In Uttar Pradesh 1926-34. A Study in Imperfect Mobilization;** Delhi. 1978.

92.पाण्डेय, ज्ञानेन्द्र (सं.) **The Indian Nation In 1942;** Published for Centre for Studies in Social Science. Calcutta. N Delhi. 1988.

93.पाण्डेय, ज्ञानेन्द्र - **Construction of Colonialism in North India.**

94. पनिक्कर, के. एम. (सं.) - **National and Left Movement In India.**

95. प्राप, वालादिमिर - **Theory and History of Folklore**

96. पाव्लोव, वी. **Indian Capitalist Class;** N. Delhi 1964.

97. रे, रजत **Urban Roots of Indian Nationalism Pressure Groups and Conflicts of Interests in Calcutta City Politics. 1875-39;** Delhi. 1979.

98.राय, सत्या (स.) भारत में उपनिवेशवाद; हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय 1988.

99.राय, सत्या (सं.) भारत में राष्ट्रवाद; हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय 1991

100. रूडे, जार्ज **The Crowd in French Revolution**

101.राय चौधरी. एस. बी **Leftist Movement in India, 1917-47.**

102. रिजवी, सै. मोहम्मदअकील - **इलाहाबाद की संस्कृति एवं शायरी;** इलाहाबाद संग्रहालय इलाहाबाद. 1996.

103. सरकार, सुमित अधुनिक भारत **1885-1947;** राजकमल प्रकाशन 1992.

104.सरकार, सुमित - **Swadeshi Movement in Bengal 1903-08;** New Delhi 1960.

105. सरकार, सुमित - **'Popular' Movement and Middle Class Leadership in Late Colonial India: Perspective and Problems of a History from Below;** Calcutta - 1985.

106. सील, अनिल - **Emergence of Indian Nationalism Competition and Collaborations in the Later 19th Century;** Cambridge, 1968.

107. सेन, सुकोमल - **Working Class of India : History of Emergence and Movement;** Calcutta - 1977.

108.सेन, एस. एन. - **Eighteen Fifty Seven;** New Delhi. 1957.

109. सुन्दर लाल - भारत में अंग्रेजी राज; 2 खण्ड दिल्ली 1960.

110. सिद्दीकी, माजिद - **Agrarian Unrest in North India United Provinces 1918 - 22**

111.सिंह, ठाकुर प्रसाद सं. - **स्वतन्त्रता संग्राम के सैनिक;** इलाहाबाद डिवीजन, 1968

112.सिंह, ठाकुर प्रसाद - **स्वतन्त्रता आन्दोलन और बनारस;** वाराणसी 1990.

113. सिंह, अयोध्या - भारत का मुक्ति संग्राम; मैकमिलन– 1987.

114.सिंह, उजागर -**Allahabad : A Study in Urban Geogeaphy ;** Varanasi

115.सिंह, जगमोहन एवं चमनलाल - **भगतसिंह एवं साथियों के दस्तावेज;** दिल्ली 1991.

116.सैन्यू, विजियर - **The History of Village Formations Among the Agauri Nagas: A Case of Kohima and Noma Villages;** Unpublished thesis Department of History NEHU, Shillong.

117.शर्मा, रामविलास - **भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद;** 2 खण्ड, दिल्ली, 1982.

118. शर्मा, रामविलास - **स्वाधीनता संग्राम बदलते परिप्रेक्ष्य;** हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय 1992.

119. शर्मा, रामविलास - **ऐतिहासिक भौतिकवाद;** दिल्ली 1992.

120. साहलिन, मार्शल - **Historical Metaphors and Mythical Realities : Structure in Early History of the Sandwich Islands Kingdom;** 1981.

121. साहलिन, मार्शल - **Islands of History;** The University of Chicago press - 1985.

122. श्रीवास्तव, शालिग्राम - प्रयाग प्रदीप; 1936.

123. सत्यार्थी, देवेन्द्र - **बेलाफूले आधीरात;** नई दिल्ली 1992.

124. सान्याल, शचीन्द्र नाथ - **बन्दीजीवन - उत्तर भारत में क्रांति उद्योग;** 3 भाग दिल्ली 1963.

125. सैमुएल, रफेल (सं.) **Peoples History and Socialist Theory;** Oxford 1981.

126. शुक्ला, आर. एल. (सं.) **आधुनिक भारत का इतिहास;** हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय 1990.

127. सेल्डन, एन्थनी एवं पापवर्थ, जोना - **By Word of Month 'Elite' Oral History;** Methuen London and N York. 1983.

128. शिफ, लियोनार्ड - **The Present Conditions of India.**

129. Selected Reading Material on Indian National Movement Vol 1 & 2 ICHR.

130. ताराचन्द - **भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास;** 4, खण्ड प्रकाशन विभाग – दिल्ली 1981–84.

131. थाम्पसन, पाल - **The Voice of Past : Oral History;** Oxford University Press 1978.

132. टाश, जान - **The Pursuit of History Aims, Methods and New Direction in the Study of Modern History;** Longman Publications - London & N York. 1984.

133. तहसीन, राना - **Urban Politics and Administration;** A Case Study of Allahabad: Delhi - 1989.

134. टंडन, हरिमोहन दास - प्रयागराज - लाला मनोहरदास का परिवार; इलाहाबाद, 1993.

135. वैनसिना, जैन - **Oral History As Tradition;** The University of Winconsin Press 1985.

136.व्होरा, आशारानी - महिलायें और स्वराज; नई दिल्ली 1988.

137. वर्मा, लाल बहादुर – इतिहास के बारे में

138.वोल्फ, एरिक आर . - **Europe & People Without History;** London 1982.

139. विल्सन, चार्ल्स - **History of Unilivcr - A study in Economic Growth and Social Change:** London 1954.

140. वेब सिडनी एवं बीट्रिस **India Diary;** Oxford University Press 1987.